ॐ तत्सत् ।

श्रीधर्म्मकल्पद्रुम ।

तृतीय खण्ड ।



Sri Dharma Kalpadruma.

Vol. 3.

AN EXPOSITION OF SANATAN DHARMA

As the Basis of

All Religion and Philosophy.

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित ।

श्रीभारतधर्म महामण्डल प्रधान कार्य्यालयके
शास्त्र प्रकाशक विभाग द्वारा प्रकाशित ।

काशी

••••••••••

प्रथम संस्करण

Printed by G. K. Gurjar at the Sri Lakshmi
Narayan Press, Benares.

1917

मूल्य २) दो रुपया ।

श्रीभारतधर्ममहामण्डल ।

हिन्दुजातिकी यह भारतवर्षव्यापी महासभा है। सनातनधर्मके प्रधान प्रधान धर्म्माचार्य और हिन्दू स्वाधीन नरपतिगण इसके संरक्षक हैं। इसके कई श्रेणीके सभ्य तथा अनेक शाखासभाएं हैं। हिन्दू नर नारी मात्र इसके साधारण सभ्य हो सकते हैं। साधारण सभ्योंको केवल दो रुपया वार्षिक चन्दा देना होता है। उनको मासिकपत्र विना मूल्य मिलता है और इसके अतिरिक्त इन साधारण सभ्य महोदयोंके वारिसोंको भी समाज हितकारी कोषसे सहायता प्राप्त होती है। पत्र व्यवहारका पता यह है:—

जनरल सेक्रेटरी

श्रीभारतधर्म महामण्डल ।

प्रधान कार्यालय,

जगत्‌गंज बनारस ।

श्रीविश्वनाथो जयति ।

श्रीधर्म्मकल्पद्रुम ।

(तृतीयखण्ड सम्बन्धीय विज्ञापन ।)

श्रीभगवान्‌की कृपासे श्रीधर्म्मकल्पद्रुमका तीसरा खण्ड प्रकाशित हुआ। प्रथम खण्डमें प्रथम समुल्लासके साधारण धर्म्म सम्बन्धीय सात अध्याय और द्वितीय समुल्लासके वेद और शास्त्र सम्बन्धीय आठ अध्याय प्रकाशित हुए हैं। दूसरे खण्डमें विशेष धर्म्मके चार अध्याय प्रकाशित हुए हैं, अब इस तृतीय खण्डमें विशेषधर्मके आर्यजाति तथा अनार्यजातिसे उसकी विशेषता, समाज और नेता, राजा व प्रजाधर्म, प्रवृत्ति व निवृत्तिधर्म और आपद्धर्म नामक पाँच अध्याय और चतुर्थ समुल्लासके साधनमार्गके भक्ति व योग और मन्त्रयोग नामक दो अध्याय प्रकाशित हुए हैं । इसी प्रकारसे आठ समुल्लासोंमें पूर्ण यह वृहत् ग्रन्थ कई खण्डोंमें प्रकाशित होगा।

पूजनीय ग्रन्थकर्त्ताका विचार यह है कि सर्वलोक-हितकर साधारण धर्म और विभिन्न अधिकारियोंके उपयोगी विशेष धर्म और वेद और शास्त्रोक्त सब धर्म सिद्धान्त और धर्मजिज्ञासुओंके जानने योग्य सब विज्ञान इस वृहत् ग्रन्थ-में विभिन्न विभिन्न अध्यायोंमें इस प्रकारसे प्रकाशित किया जाय कि जिससे धर्मजिज्ञासुओंका सब अभाव एक ही पुस्तकके द्वारा दूर हो सके, सनातन-धर्मके सर्वलोकहितकारी स्वरूपमें साधारण लोगोंकी जो जो शङ्काएँ हो सकती हैं, उसकी पूरी मीमांसा इस वृहत् ग्रन्थमें रहे, धर्मशिक्षाके लिये यह वृहत् ग्रन्थ आधाररूप हो और धर्मवक्ता, धर्मशिक्षक एवम् आचारवान् धार्मिक-के लिये समानरूपसे यह वृहत् ग्रन्थ मार्गदर्शक हो।

किस प्रकारके अध्यायोंसे इस वृहत् ग्रन्थका प्रत्येक समुल्लास पूर्ण है सो तीनों खण्डोंकी विषय-सूचीसे पाठकवर्गोंको विदित होगा। और कैसे कैसे विषय समूह इस वृहत् ग्रन्थमें दिये जायँगे सो माननीय ग्रन्थकारजीने प्रथम-खण्डकी प्रस्तावनामें प्रकाशित किया है। इन सब विषयोंको विचारकर इस

बृहत् ग्रन्थके सम्पूर्ण प्रकाशित होनेसे पूर्व यदि कोई महानुभाव व चिन्ताशील सज्जन भविष्यत् खण्डोंमें प्रकाशित होनेवाले विषयोंमें न्यूनाधिक करनेके लिये कोई शुभ प्रस्ताव करेंगे तो उसे सादर ग्रहण किया जायगा। इस तृतीय खण्डके प्रकाशित होते ही चतुर्थखण्डका छपना प्रारम्भ होगा।

श्रीभारतधर्ममहामण्डलके नियमानुसार उसके शास्त्रप्रकाशक विभागकी जिम्मेवारी और खर्चका व्यय श्रीमहामण्डल पर न रखकर श्रीमहामण्डलके सञ्चालक पूज्यपाद श्री १०८ श्रीस्वामीजी महाराजपर रक्खा गया है। उसी नियमके अनुसार इस विभागका कार्य निर्वाहित होता है। श्रीमहामण्डलके साधुगण अपने भक्तोंसे धनकी सहायता लेकर ग्रन्थप्रकाशका कार्य चलाते हैं। और ग्रन्थ-विक्रयकी आमदनीका सब धन श्रीविश्वनाथ अन्नपूर्णा दान-भण्डार द्वारा दीन, दरिद्र, अनाथ, विधवा और निराश्रय व्यक्तियोंकी सहायतार्थ श्रीमहामण्डल कार्यालयमें व्यय होता है। अतः इस ग्रन्थका स्वत्वाधिकार उक्त दानभण्डारको ही दिया गया है।

इस तृतीय खण्डकी छपाईका रुपया श्रीमान् महाराजा बहादुर बलरामपुर नरेशकी श्रीमती बड़ी महारानी साहबाने दान किया है। श्रीमतीकी यह उदारता और सात्त्विक दान अन्य नरपति और राजमहिलाओंके अनुकरण करने योग्य है। श्रीविश्वनाथ श्रीमतीको नीरोग, दीर्घायु और सौभाग्यशालिनी करें।

निवेदक—

सेक्रेटरी–शास्त्र प्रकाश विभाग,

श्रीभारतधर्ममहामण्डल,

जगतगञ्ज, बनारस।

तृतीय खण्डकी विषय सूची ।

तृतीयसमुल्लास ।

विषय.	पृष्ठ.
आर्यजाति—	७५१–८३४
(अनार्यजातिसे आर्यजातिकी विशेषता)	
आर्यजातिका लक्षण	७५२
आर्यजातिका आदिनिवासस्थान निर्णय	७५३
एतद्विषयक अनेक सन्देहोंका निराकरण	७६२
'हिन्दु' शब्दपर विचार	७७१
आर्यजातिकी सर्वाङ्गीण पूर्णताका वर्णन	७७२
अनार्यजातिसे आर्यजातिकी विशेषताका विस्तारित वर्णन . .	८१४
समाज और नेता—	८३५–८८१
सामाजिक जीवनकी चिरस्थितिका कारण निर्देश . . .	८३५
सामाजिक नेताओंका श्रेणिविभाग व कर्त्तव्य निर्णय . .	८३८
हिन्दुसमाजकी वर्त्तमान दुर्दशाका चित्रप्रदर्शन . . .	८४१
योग्य नेताके लक्षण व आविर्भावका उपाय निर्द्धारण . .	८४४
हिन्दुसमाजके सुधारके लिये सामाजिक नेताका दशविध कर्त्तव्य निर्देश.	८४९
जातीय मौलिकता, भाव, भाषा, आचार, चरित्र, शिक्षा, अनुकरण-शून्यता, गुणपक्षपात, एकता व अनुशासन व्यवस्थाके साथ सामाजिक उन्नतिका अविच्छिन्न सम्बन्ध निर्णय . . .	८५०

विषय। पृष्ठ।

राजा और प्रजाधर्म— ८८२-९१३

आकर्षण व विकर्षण शक्तिकी समताके साथ जागतिक समस्त स्थिति व उन्नतिका सम्बन्ध निर्णय ८८२
राज्यशासन प्रणालीके चार भेद, तथा शक्तिसमता विज्ञानके अनुसार सभोंका अवश्यम्भावी परिणाम निर्णय . . . ८८५
राजा व प्रजाका स्वरूप तथा परस्परके प्रति कर्त्तव्यका शास्त्रानुशासन ८९३
राजधर्म वर्णन ९०२

प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म— ९१४-९३९

प्रवृत्ति व निवृत्ति धर्मका स्वरूप तथा एकलक्ष्यताका निर्णय . ९१४
चन्द्रगति व सूर्य्यगतिका वर्णन ९१५
प्रवृत्तिधर्म व निवृत्तिधर्मके अनुसार कर्मयोगीका मुक्तिपथ प्रस्थान तथा जीवन्मुक्ति अवस्थाका भेद वर्णन ९१८
प्रवृत्ति धर्म व निवृत्ति धर्मकी व्यापकता तथा वर्णाश्रम व नारीधर्मके साथ स्वाभाविक सम्बन्ध निर्णय ९२६

आपद्धर्म— ९४०-९६८

आपद्धर्मका लक्षण तथा भावके साथ इसका विशेष सम्बन्ध वर्णन . ९४०
भाव तत्वका गूढ़ार्थ प्रकाश ९४१
आपद्धर्मके साथ पात्रका सम्बन्ध कथन ९४८
आपद्धर्मके साथ देश व कालका सम्बन्ध वर्णन . . . ९४९
देश काल व पात्र भेदानुसार आपद्धर्म पालनका विविध शास्त्रसम्मत अनुशासन वर्णन ९५२
महर्षि विश्वामित्र आदिके दृष्टान्त द्वारा आपत्कालीन धर्मसङ्कटोंका समाधान ९५५
वर्त्तमान देशकालानुसार अवलम्बनीय आपद्धर्मका संक्षिप्त विधान . ९६६

विषय । पृष्ठ ।

चतुर्थ समुल्लास ।

भक्ति और योग— ९६९-१०२१

भक्तिका विविध आर्यशास्त्रोक्त लक्षण वर्णन . . ९६९

भक्तिके अधिकार वर्णन-प्रसङ्गमें तर्काप्रतिष्ठा व साधुसङ्गमहिमा . ९७१

भक्तिकी परममहिमाका वर्णन ९७३

भक्तिके त्रिविध भेद वर्णन ९७८

नवाङ्गमें विभक्त वैधी भक्तिका वर्णन . . ९७९

रागात्मिका भक्तिका लक्षण व स्वरूपनिर्णय . . ९८३

रागात्मिका भक्तिके अन्तर्गत सप्तगौण रसका वर्णन . . . ९९४

रागात्मिका भक्तिके अन्तर्गत सप्त मुख्य रसका वर्णन . ९९६

पराभक्तिका लक्षण व महिमावर्णन १०१३

भक्ति व योगका सम्बन्ध-कथन १०१८

चतुर्विध योग तथा उनके अष्ट अङ्गोंका संक्षिप्त उद्देश्य वर्णन . . १०१९

मन्त्रयोग— १०२२-११२२

मन्त्रयोगका लक्षण वर्णन १०२३

भावके साथ नाम व रूपका सम्बन्धनिर्णय . . . १०२४

प्रतिमाके विषयमें अर्वाचीनमत समालोचना . . १०२६

प्रतिमापूजनकी आवश्यकता वर्णन १०२७

भावानुसार सगुण पञ्चोपासनोक्त पञ्चदेवमूर्त्ति तथा अन्यान्य देव देवियोंकी विविध मूर्त्तियोंका अपूर्व रहस्य वर्णन . . १०३४

शिवलिङ्ग रहस्य तथा उसकी पूजाका महिमावर्णन . . . १०४६

अद्वितीय ईश्वरकी पञ्चोपासनारूपसे पञ्चधा पूजाका कारण व रहस्यनिर्णय १०६४

प्रतिमामें प्राणप्रतिष्ठाका रहस्य निर्णय व विधिवर्णन . . . १०६८

सगुणोपासनाका फलनिर्णय १०७१

विषय ।	पृष्ठ ।
मूर्त्तिपूजा पर अर्वाचीन पुरुषोंके कटाक्षका निराकरण . .	१०७५
देशमें श्रीभगवान् तथा अन्यान्य देवदेवियोंकी मूर्त्तिस्थापना व मूर्त्तिपूजा द्वारा अनन्त कल्याण प्राप्तिका विस्तारित वर्णन . . .	१०८०
ओंकार क्रमसे दिव्यनामरूपी मन्त्रोंकी उत्पत्ति तथा मन्त्रके साथ देवताके अधिदैव सम्बन्धका विज्ञानवर्णन . .	१०९४
ओंकार महिमा तथा ओंकारसे समस्त मन्त्रोंका व वर्णमालाओंका सम्बन्ध वर्णन	१०९५
जीव शरीरमें मन्त्रोंका सम्बन्धनिर्णय	११०१
मन्त्र शक्ति, मन्त्रमहिमा व मन्त्रोसे सिद्धिप्राप्तिका कारण व उपायवर्णन	११०४
नामोपासनाका फल निर्णय . . .	११०७
मन्त्रयोगके षोडशाङ्गोंका संक्षिप्त वर्णन	११०८



ओंतत्सत्।

श्रीधर्मकल्पद्रुम।

(श्रीसत्यार्थविवेक)

तृतीय खण्ड।

तृतीय समुल्लास।

आर्य्यजाति।

(अनार्य्यजातिसे आर्य्यजातिकी विशेषता)

अनादि कालसे भारतमाताके पवित्र हृदयमें विराजमान आर्यजातिका गौरवरवि भारतकी इस वर्त्तमान दीन दशामें भी निष्पक्ष उदारजनोंके हृदय-पटलमें प्रतिष्ठित है, जिसकी पवित्र ज्योति अनन्त अतीतके गर्भसे स्मृति-की धाराको अवलम्बन करके वर्त्तमान काल सिन्धु जलमें प्रतिविम्बित होकर उसकी शोभा-वृद्धि कर रही है और भारतके भविष्यत् भाग्य गगनमें ध्रुवतारा की ज्योतिकी नांईं मधुर आशाका सञ्चार करा रही है। इसलिये पुण्यश्लोक आर्यजातिका लक्षण व स्वरूप, आदि वासभूमि, प्राचीनता, अनार्यजातिसे विशेषता तथा सर्व्वाङ्गीण गौरवपर विचार करना प्रत्येक भारत जननीके सुपुत्रका कर्त्तव्य है; इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। परन्तु यहाँ यह अवश्य हृदयङ्गम करना चाहिये कि जिस प्रकार धर्म्म और रिलिजन ये दोनों शब्द एक नही हो सकते उसी प्रकार हमारे शास्त्रोक्त आर्य्य शब्द और पाश्चा-

त्य एरियन शब्द ठीक एक अर्थ वाचक नहीं हैं। आर्यजातिके लक्षणके विषयमें शास्त्रमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। मीमाँसा शास्त्रमें कहा हैः—

उभयोपेताऽऽर्य्यजातिः।
तद्विपरीताऽनार्य्याः।

जो जाति चतुर्वर्णधर्म्म व चतुराश्रमधर्मसे युक्त है वही आर्य्यजाति है। वर्णाश्रमधर्म्मविहीन जाति अनार्य्य जाति है। इसके सिवाय धात्वर्थ व गुणानुसार भी आर्यजातिके अनेक लक्षण होते हैं। यथाः—गमन या व्याप्ति अर्थक 'ऋ' धातु से ण्यत् प्रत्यय द्वारा आर्य शब्दके बननेके कारण वेदोंके भाष्यकार सायनाचार्यजीने आर्यजातिका यही लक्षण किया है कि जो जाति पृथिवीके अनेक स्थानों में जाकर अपनी कीर्ति-ध्वजाओंकी स्थापना करती थी वही आर्यजाति है। इस विषयमें महाभारतमें भी प्रमाण मिलता है। यथाः—

म्लेच्छाश्चाऽन्ये बहुविधाः पूर्वं ये निकृता रणे।
आर्याश्च पृथिवीपालाः।

पूर्व कालमें बहुत प्रकारकी अनार्य जातिको युद्धमें परास्त करके जो जाति पृथवीकी अधिपति हो गई थी वही आर्यजाति है। यास्क मुनिने अपने प्रणीत निरुक्त ग्रन्थमें कहा हैः—

आर्य ईश्वरपुत्रः।

ईश्वर-पुत्रको आर्य कहते हैं। इस प्रकार आर्यजातिका लक्षण वर्णन करके उल्लिखित 'वीरता' के अतिरिक्त आध्यात्मिक पूर्णताका भी प्रमाण आर्यजातिके लिये प्रदर्शित किया है। तदनुसार किसीने 'ऋ' धातुका अर्थ इस प्रकार भी वर्णन किया है। यथाः—

अर्तुं सदाचरितुं योग्यः इति आर्यः।

इस लक्षणके अनुसार न्यायपथावलम्बी, प्रकृताचारशील, कर्त्तव्यपरायण जाति ही आर्यजाति है ऐसा सिद्ध होता है। रामायणके द्वितीय काण्डमें लिखा हैः—

योऽहमार्येण परवान् भ्रात्रा ज्येष्ठेन भामिनि।

इस प्रकार कह कर महर्षि वाल्मीकिने आर्यशब्दके उपर्युक्त लक्षणोंका ही निर्देश किया है। भगवान् मनुजीने भी कहा हैः—

आर्यरूपमिवाऽनार्यं कर्म्मभिः स्वैर्विभावयेत्।

इस प्रकारके वचन द्वारा अपनी संहिताके दशम अध्यायमें कदाचारदोष-रहित, सदाचार-संपन्न, पुरुषार्थशील मनुष्योंके लिये आर्य्य शब्दका प्रयोग किया है। जहाँ जहाँ मनुजी महाराजने आर्य्य शब्दका प्रयोग किया है, वर्णाश्रम-सदाचारयुक्त मनुष्य जातिके अर्थ ही वह निश्चित होता है और इसी वर्णाश्रम-सदाचार और आदर्श मनुष्यजनोचित कर्त्तव्य-परायणताके अनुसार स्मृतिमें आर्यजातिका निम्न लिखित लक्षण वर्णन किया है:—

कर्त्तव्यमाचरन् कर्म्ममकर्त्तव्यमनाचरन्।
तिष्ठति प्राकृताचारे स तु आर्य इति स्मृतः॥

कर्त्तव्यपरायण, अकर्त्तव्यविमुख, आचारवान् पुरुष ही आर्य है। अतः उपर्युक्त समस्त लक्षणोंको मिला कर यह सिद्धान्त हुआ कि जो जाति वेदविधानानुसार सदाचारसम्पन्न, सकल विषयमें अध्यात्म लक्ष्ययुक्त, दोष-रहित और चतुर्वर्ण व चतुराश्रम-धर्म-परायण है वही जाति आर्य्यजाति कहला सकती है। भारतभूमि इस प्रकारसे सर्वगुणालंकृत आर्य्यजातिकी ही रमणीय प्राचीन निवास भूमि है जिसके लिये ऋग्वेदके प्रथम, तृतीय, चतुर्थ आदि मण्डलोंमें आर्यजातिकी गुणगरिमा वर्णित की गई है। यथाः—ऋग्वेदके तृतीयाष्टकके प्रथमाध्याय में लिखा है:—

अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्यायेति।

वामदेव ऋषिने अपने तपोबलसे अपनी आत्मामें सर्वात्मसत्ताका अनुभव करके कहा कि "मैंने प्रजापतिरूप होकर आर्य अङ्गिराको भूमिदान किया और इन्द्ररूप होकर हविर्दानकारी मनुष्योंको वृष्टिदान किया।" इस प्रकार भगवान्के निःश्वासरूपी अनादि वेदमें भी आर्यजातिकी गौरवकथा देखनेमें आती है।

आर्यजातिका आदि निवासस्थान भारतवर्ष है या नहीं इस विषयमें आजकल बहुत मतभेद हो रहे हैं। अपने देशमें विदेशी बनना केवल धर्म्म व शास्त्रविरुद्ध ही नहीं है अधिकन्तु युक्ति व बुद्धिमत्तासे भी विरुद्ध है। अतः इस विषयपर विचार किया जाता है। आर्य्यजाति भारतवर्षकी आदि जाति है या नहीं, इस विषयमें ऐतिहासिक लोगोंकी जितनी कल्पनाएँ देखनेमें आती हैं उन सबोंको प्रधानतः तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। प्रथमतः वे लोग कहते हैं कि आर्यगण मध्यएशियामें कास्पियन् ह्रदके पास पहले कहीं

रहा करते थे और वहांसे ही क्रमशः भारतवर्षमें आये हुए हैं। इस प्रकारकी कल्पनाके मूलमें उन्होंने तीन युक्तियाँ वताई हैं। यथाः-ऋग्वेद संहितामें ऐसे अनेक नद नदी व नगर के नाम मिलते हैं जिनके स्थान मध्यएशियामें कहे जा सकते हैं। द्वितीय युक्ति यह है कि आर्यगण शास्त्रोंमें श्वेताङ्ग पुरुष करके वर्णित किये गये हैं और 'मध्यएशिया के लोग श्वेत वर्णके होते हैं। तृतीयतः आर्योंके उपास्य अनेक देव देवियोंके नामके साथ उक्त प्राचीन महादेशकी प्राचीन जातियोंके अनेक उपास्य देव देवियोंके नामका मेल देखनेमें आता है; जिससे यह प्रमाण होता है कि मध्य एशियाके एकही प्रदेशसे भिन्न भिन्न प्रदेशोंमें आर्य्योंने उपनिवेश स्थापन किये थे। ऐतिहासिक पुरुषोंकी द्वितीय कल्पना यह है कि आर्य्य लोग उत्तर मेरुसे क्रमशः दक्षिणकी ओर अग्रसर होकर अन्तमें भारतमें आये हैं। इसके लिये युक्ति यह है कि वेदमें दीर्घकालव्यापी रात्रि व दिनका उल्लेख है और उत्तर मेरुमें छः महिनेका दिन और छः महिनेकी रात्रि होती है। और जेन्दाभेस्ता नामक ग्रंथमें लिखा हैः—"आर्य्योंका स्वर्ग उत्तर मेरुमें ही था, वहां पर वर्ष भरमें एकही वार सूर्यका उदय होता था। पश्चात् वरफ व शीत अधिक होनेके कारण वह स्थान जव वास करने योग्य न रहा तो आर्यलोग उसे त्यागकर दक्षिण देशकी ओर आए।" ऐतिहासिक पुरुषोंकी तृतीय कल्पना यह है कि जर्मनीके पास किसी स्थानमें आर्य लोगरहते थे। क्योंकि भाषापर विचार करके देखा जाता है कि आर्यभाषा संस्कृतके साथ जर्मन भाषाका वहुत मेल है। इन सव ऐतिहासिक पुरुषोंकी कल्पनाके अतिरिक्त आज कल और एक नवीन कल्पना निकली है जिसके अनुसार आर्यजाति तिब्वतसे आई है ऐसा कहा जाता है। अव नीचे इन सव कल्पनाओंके असत्य होनेके विषयमें विचार किया जाता है।

दुःखकी वात यह है कि अर्वाचीन ऐतिहासिक पुरुषोंने भारतकी प्रकृति व सृष्टिके क्रमविकाशके नियम पर विचार न करके ही अपनी अपनी कल्पना की है। किसी वस्तुके तत्वानुसन्धान करनेके लिये यथार्थ उपाय यह है कि कारणोंका तत्व निर्णय करके उसीके अनुसार कार्यका तत्व निर्णय किया जाय। क्योंकि कार्य कारणका ही विकाश मात्र है और इसलिये कारणके विषयमें पूर्ण सिद्धान्त निर्णय होने पर तभी कार्यका पूर्ण सिद्धान्त निर्णय हो सकता है। इसलिये आर्य जातिकी आदि वासभूमि निर्णय करनेके पहले भारतकी प्रकृति, आर्यजातिकी प्रकृति और सृष्टिके क्रमविकाशके अनुसार दोनों प्रकृतिका कथ

व किस प्रकार मेल हो सकता है इसका अवश्य विचार होना चाहिये। तभी सत्य सिद्धान्त निर्णय हो सकता है। हिन्दू शास्त्रके सिद्धान्तानुसार समष्टि सृष्टिकी धारा ऊपरसे नीचेकी ओर चलती है। तदनुसार सृष्टिकी प्रथम दशामें पूर्ण मानव उत्पन्न होते हैं और वह युग सत्ययुग कहलाता है। उस समय पूर्ण सत्वगुणका विकाश रहनेसे सभी लोग पूर्ण धर्मात्मा होते हैं। स्मृति व पुराणोंमें इस प्रकार सृष्टिका क्रम बहुधा वर्णन किया है। यथाः- सृष्टिके प्रथम विकाशमें पूर्ण निवृत्तिसेवी सनक, सनन्दन आदि ब्रह्माजीके चार पुत्र, तदनन्तर मरीचि, अत्रि आदि सात (किसी किसी मतमें दस) पुत्र उत्पन्न होते हैं। पश्चात् उनके द्वारा और सृष्टि क्रमशः उत्पन्न होती है। इसका पूर्ण वृत्तान्त इस ग्रन्थके पहले खण्डमें वर्ण-धर्मके अध्यायमें बताया है।

उक्त कथनसे सिद्धान्त होता है कि सृष्टिके पहले पूर्ण पुरुष ही उत्पन्न होते हैं और क्रमशः सृष्टि अधोमुखिनी होकर सत्वगुणसे तमोगुणकी ओर जाने लगती है। तदनुसार धीरे धीरे धर्मका ह्रास और अधर्मकी वृद्धि होने लगती है। मनुसंहितामें लिखा हैः—

चतुष्पात् सकलो धर्म्मः सत्यं चैव कृते युगे।
नाऽधर्मेणाऽऽगमः कश्चिन् मनुष्यान् प्रति वर्तते ॥
इतरेष्वागमाद्धर्मः पादशस्त्ववरोपितः।
चौरिकाऽनृतमायाभिर्धर्मश्चाऽपैति पादशः ॥

सत्ययुगमें धर्म चार पाद रहता है, सत्यकी पूर्णता रहती है और अधर्म्म-के द्वारा अर्थादि लाभकी ओर मनुष्योंकी दृष्टि कदापि नही जाती है। तदनन्तर त्रेतादि युगमें क्रमशः धर्मका एक एक पाद नष्ट होने लगता है जिससे चोरी, मिथ्यावाद, कपटता आदि जघन्य वृत्तियाँ क्रमशः बढ़ने लगती हैं। यही सब समष्टि सृष्टिके अधोमुखिनी होनेका प्रमाण है। केवल हिन्दू शास्त्रोंका ही यह सिद्धान्त नहीं है परन्तु पाश्चात्य धर्म-ग्रन्थोंमें भी अनेक स्थलपर ऐसा ही सिद्धान्त पाया जाता है। प्राचीन हिब्रु (Hebrew) शास्त्र ग्रन्थमें आदम (Adam) से जीवोंकी उत्पत्तिके विषयमें भी ऐसा ही लिखा है कि उनसे एक स्वर्गीय ज्योति निकलकर पृथिवीकी तरफ आई जिससे यहाँ पर अनेक पुण्यात्मा पुरुष उत्पन्न हुए, परन्तु यह सृष्टि बहुत दिनों तक ऐसी नहीं रही और क्रमशः अधोमुखिनी हो गई इत्यादि। ग्रीस देशके प्रसिद्ध विज्ञानवित् पण्डित प्लेटो (Plato) ने अपने फिड्रूस (Phaedrus) नामक ग्रन्थमें लिखा है कि सृष्टिकी

पहिली दशामें ऐसे पुण्यात्मा पुरुष थे कि स्वर्गमें देवताओंके साथ भी उनकी बातचीत हुआ करती थी। पश्चात् कालके अनुसार सृष्टि निम्नाभिमुखिनी होने से मनुष्योंकी बुद्धि पर भी आवरण आ गया जिससे अधार्मिक सन्तान उत्पन्न होने लगी इत्यादि। अतः पूर्व व पश्चिम दोनों देशोंके शास्त्रीय सिद्धान्तोंसे यह बात निश्चय हुई कि सृष्टिके आदि कालमें पूर्ण पुरुष उत्पन्न होते हैं और पश्चात् क्रमशः धर्मके ह्रास होनेके कारण वह पूर्णता नष्ट होकर सात्त्विक, राजसिक, तामसिक सकल प्रकारकी प्रजा उत्पन्न होती है। अब विचार करनेकी बात यह है कि सृष्टिकी प्रथमदशामें जो पूर्ण पुरुष उत्पन्न होते हैं वे पृथिवीके किस स्थल में उत्पन्न हो सकते हैं। क्योंकि मनुष्यकी प्रकृति जिस प्रकारकी होती है वे उसी देश कालमें उत्पन्न हो सकते हैं, असमान या प्रकृतिके विरुद्ध देश कालमें उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। इसी विचारसे सिद्ध होता है कि पूर्ण पुरुषोंकी उत्पत्ति पूर्ण प्रकृतियुक्त भूमिमें ही हो सकती है, अपूर्णप्रकृति भूमिमें पूर्ण पुरुष उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। पूज्यचरण आर्य महर्षिगण तथा गवेषणापरायण पाश्चात्य विज्ञान-वित् पण्डितगण सभीने एक वाक्य होकर स्वीकार कियार है कि पृथिवीभरमें भारतवर्षकी ही प्रकृति सर्वथा पूर्ण है। प्रकृति स्थूल, सूक्ष्म, कारण या आधि-भौतिक, आधिदैविक व आध्यात्मिक तीनोंकी पूर्णतासे पूर्ण होती है। भारतकी प्रकृति पर विचार करनेसे इन तीनोंकी पूर्णता देखनेमें आती है। आधिभौतिक या स्थूल प्रकृतिकी पूर्णताका प्रथम लक्षण यह है कि यहाँ पर षड् ऋतुओंका विकाश ठीक ठीक होता है। दो दो महीनेके अनन्तर प्रकृतिका सूर्यगतिके अनुसार ठीक ठीक परिवर्तन होना उसी देशमें सम्भव हो सकता है कि जिस देशकी प्रकृति पूर्ण हो। अपूर्ण प्रकृतिमें ऐसा कभी नहीं हो सकता है क्योंकि प्राकृतिक अपूर्णताके कारण सूर्यकी गतिका यथाक्रम प्रभाव, जिससे कि ऋतुओंका विकाश सम्भव होता है, नहीं पड़ सकता है। और यही कारण है जिससे उन देशोंमें षड् ऋतुओंका आविर्भाव यथाक्रम न होकर एक या दो-ऋतु का ही प्रभाव रहता है। केवल इतना ही नहीं अधिकन्तु भारतीय प्रकृतिकी स्थूल पूर्णताका यह भी और एक अपूर्व लक्षण है कि यहां पर एक ही समयमें भिन्न भिन्न प्रान्तोंमें भिन्न भिन्न ऋतुका विकाश रहता है, जिससे सिद्ध होता है कि स्थूल प्रकृतिकी पूर्णता केवल भारतकी समष्टि प्रकृतिमें ही नहीं परन्तु भारतकी व्यष्टि प्रकृतिके अङ्ग अङ्ग में भी व्याप्त है।

जिस समय हिमालयके शीतमय प्रदेशोंमें तुषारमय पर्वत हेमन्त और

शिशिर ऋतुओंके प्रवल पराक्रमका भरडा उड़ाते रहते हैं ठीक उसी समय सिन्धु-देशके मरुस्थलमें दिवाभागमें ग्रीष्म ऋतुकी दोर्द्दण्डताका प्रचार वना रहता है और उसी कालमें मैसूर आदि देशोंमें वसन्त, आसाम आदि देशोंमें वर्षा और मध्य देशमें शरद ऋतुका आनन्द वना रहता है। सर्व सौन्दर्यमयी प्रकृति माताके सव रमणीय अङ्गोंका परमानन्द केवल भारतवर्षमें ही विकसित है। पृथिवीके यूरोप आदि देशोंमें श्वेतवर्णके मानव, अफ्रिका आदि देशोंमें कृष्णवर्णके मानव और जापान चीन आदि देशोंमें पीतवर्णके मानव वहुधा दिखाई पड़ते है परन्तु भारतवर्षमें वैसी असम्पूर्णता नहीं पाई जाती। इस पवित्र आर्य्यजातिकी मातृ-भूमिमें उज्ज्वल गौरवर्ण, साधारण गौरवर्ण, श्वेतवर्ण, कृष्णवर्ण, पीतवर्ण, लोहितवर्ण, श्यामवर्ण और उज्ज्वलश्यामवर्ण आदि अनेक रङ्गोंके स्त्री पुरुष समानरूपसे दिखाई देते हैं। यही इस भूमिकी पूर्णता है। प्रत्यक्ष पूर्णताका वर्णन करते हुए उद्भिज्जतत्त्ववेत्ता पण्डितोंने यह भलीभांति निश्चित कर दिया है कि भारतवर्षमें पृथिवीके सव देशोंके उद्भिज्ज उत्पन्न हो कर उन्नतिको प्राप्त हो सकते हैं। उसी प्रकारसे प्राणिशास्त्रवेत्ता पण्डितोंने यह स्पष्ट रीतिसे कहा है कि पृथिवीभरमें जितने प्रकारके पशु पत्ती और अन्य प्रकारके जीव हैं वे सव भारतवर्षके किसी न किसी प्रदेशमें भली प्रकारसे जीवित रहकर भारतवर्षकी सृष्टिलीलाविस्तारकारी पूर्णताका परिचय दे सकते हैं। भारतसमुद्रकी गभी-रता और भारतसमुद्रकी मुक्ता प्रवाल आदि रत्न और नाना समुद्रसेवी जीवोंकी प्रसव करनेकी शक्ति तो सर्ववादिसम्मत है। पवित्र सलिला भागीरथीके जलकी अपूर्वता और उसकी शक्ति तो आजकलके दाम्भिक सायन्सवेत्ता पण्डितोंने भी स्वीकार की है जिसका विस्तृत वर्णन इस ग्रन्थके प्रथम अध्यायोंमें किया गया है। इस पवित्र व पूर्ण प्रकृतियुक्त भूमिमें सव प्रकारकी भूमियाँ हैं। सिन्धुदेश और राजपूतानाके कुछ अंशमें शुष्क जलहीन मरुस्थल, वङ्गदेश व मिथिला आदि देशोंमें अधिक सजलता और ब्रह्मावर्त आदि प्रदेशोंमें इन दोनों अवस्थाओंकी समता विद्यमान है। पृथिवीभरमें सवसे वड़ा और उच्च पर्वतराज हिमालय और सवसे गभीर भारतसमुद्र आर्य्यावर्तकी महिमाको अनन्तकालसे वढ़ा रहे हैं। श्वेतवर्णकी ब्राह्मणजातीय भूमि, रक्तवर्णकी क्षत्रियजातिकी भूमि, पीतवर्णकी वैश्यजातीय भूमि और कृष्णवर्णकी शूद्रजातिकी भूमि भारतवर्षके प्रायः सव प्रदेशोंके विभागोंमें विद्यमान है इस कारण सव प्रकारके उद्भिज्ज भारतवर्षमें उत्पन्न हो सकते हैं इसमें सन्देह नहीं। यही भारतभूमिमें मृत्तिकाकी पूर्णता है।

शिवरत्नसारतन्त्रमें लिखा हैः—

विष्णुर्वरिष्ठो देवानां ह्रदानामुदधिर्यथा ।
नदीनाञ्च यथा गङ्गा पर्वतानां हिमालयः ॥
अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां राज्ञामिन्द्रो यथा वरः ।
तथा श्रेष्ठा कर्मभूमिर्भूमौ भारतमण्डलम् ॥

जिस प्रकार देवताओंमें विष्णु, ह्रदोंमें समुद्र, नदियोंमें गङ्गा, पर्वतोंमें हिमालय, वृक्षोंमें अश्वत्थ और राजाओंमें इन्द्र सर्वश्रेष्ठ हैं उसी प्रकार कर्म्मभूमि भारतवर्ष पृथिवीकी अन्य सब भूमियोंसे श्रेष्ठ है । यही सब भारतवर्षकी आधिभौतिक पूर्णताका लक्षण है । भारतवर्षमें दैवीशक्तिकी पूर्णताके कारण ही यहां पर अनादि कालसे काशी आदि दैवी शक्तिके प्रकाशक केन्द्ररूपी नित्य तीर्थ, अनेक नैमित्तिक तीर्थ, विविध पीठस्थान, ज्योतिर्लिंग आदि आधिदैविक शक्तिके केन्द्र विद्यमान हैं और भगवत्शक्तिके आधारभूत विभूति व अवतारोंका आविर्भाव होता है और इसी आधिदैविक पूर्णताके कारण ही भगवान्‌के पूर्णावतार आनन्दकन्द कृष्णचन्द्रकी लीला यहां पर प्रकट हुई थी । (अवतार और तीर्थके वैज्ञानिक रहस्य पीछेके अध्यायोंमें विस्तारित रूपसे वर्णन किये जायँगे) भारतवर्षकी आध्यात्मिक पूर्णताके कारण ही यहां पर पूर्णज्ञानाधार वेद और पूर्ण ज्ञानमय महर्षियोंका आविर्भाव हुआ है । वेद में लिखा है :—

ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः ।

ज्ञानके विना मुक्ति नहीं होती है । इसलिये भारतमें पूर्ण ज्ञानके आविर्भाव होनेके कारण भारत मुक्तिभूमि कहलाता है । मोक्षमूलर, कोलब्रुक आदि पाश्चात्य मनीषिगण एकवाक्य होकर स्वीकार करते हैं कि इसी देशसे ज्ञानज्योति प्रकट होकर संसारमें व्याप्त हुई है । कोलब्रुककी तो यह सम्मति है कि इस देशसे ज्ञान की ज्योति ग्रीसमें गई थी, ग्रीससे रोममें, रोमसे समस्त पृथिवीमें गई है । अतः भारतकी आध्यात्मिक पूर्णता सर्ववादि-सम्मत है । इस प्रकार आधिभौतिक, आदिदैविक व आध्यात्मिक सकल प्रकार से पूर्ण होनेके कारण भारतकी प्रकृति पूर्ण है यह सिद्धान्त निश्चय हुआ । इस विषयमें पूर्व व पश्चिम देशके पण्डितोंकी और भी अनेक सम्मतियाँ आगेके किसी अध्यायमें बताई जायगीं । प्रकृत विषय यह है कि आर्यजातिकी उत्पत्ति

कहां पर हो सकती है। जब विचार व प्रमाणके द्वारा यह निश्चय हुआ कि सृष्टिकी प्रथम दशामें पूर्ण पुरुप उत्पन्न हुए थे और पूर्ण पुरुपकी उत्पत्ति पूर्ण-प्रकृतियुक्त भूमिमें ही हो सकती है और जब यह भी निश्चय हुआ कि पृथिवी भरमें भारतवर्षकी ही प्रकृति पूर्ण है तो यह बात निःसन्देह है कि आदि सृष्टि भारतवर्षमें ही हुई थी और किसी देशमें नही। और जब मनुजीके सिद्धान्तानुसार आदि सृष्टिके पूर्ण-पुरुप आर्य महर्षिगण थे तो आर्य जातिकी आदि निवास भूमि भारतवर्ष ही है इसमें कोई सन्देह नही है। अतः पूर्ण मनुष्यत्वयुक्त आर्यजाति और किसी देशमें रहती थी, वहांसे भारतवर्षमें आयी, यह कल्पना मिथ्या कपोल-कल्पना मात्र है; यह सिद्धान्त निश्चय हुआ। वेदकी आदि विकाशभूमि भारतवर्षमें वैदिक आर्यजाति ही अनादिकालसे वास कर सकती है। यहां और कोई अपूर्ण जाति सृष्टिके आदि कालमें नहीं हो सकती है और न पूर्ण ज्ञान और पूर्ण मनुष्यत्वयुक्त आर्यजाति और किसी अपूर्ण प्रकृतियुक्त देशमें उत्पन्न होकर यहांपर आ सकती है। पूर्ण मानव आर्यगणोंकी भारतवर्षमें तथा तदन्तर्गत कुरुक्षेत्रादि ब्रह्मर्षि देशोंमें उत्पत्ति होनेके विषयमें श्रुतिस्मृतियोंमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। यथा मनु संहितामेंः—

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवाऽन्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः॥
सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते॥
कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पाञ्चालाः शूरसेनकाः।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्त्तादनन्तरः॥
एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

जिस भूमिके पूर्व और पश्चिममें समुद्र है, जिसके उत्तरमें हिमालय और दक्षिणमें विन्ध्याचल है उसको आर्य्यावर्त्त कहते हैं। आर्य्यावर्त्त भारतवर्षका ही नाम है। पूर्वोक्त लक्षणको देखकर और दक्षिणमें विन्ध्याचलका नाम देखकर प्रायः मनुष्योंकी यही सम्मति होती है कि भारतवर्षके उत्तर भागको आर्य्यावर्त्त कहते हैं, और दक्षिण भागके दक्षिणावर्त्तादि और और नाम है; परन्तु इस सिद्धान्तको निश्चित न रखकर यदि समस्त भारतवर्ष अर्थात् हिन्दुस्थानको ही

आर्य्यावर्त्त रूपसे माना जाय तो सिद्धान्तके स्थिर करनेमें सुविधा होगी । यदि वर्त्तमान उत्तर भारतको आर्य्यावर्त्त रूपसे माना जाय तो उसकी पूर्व्व-सीमा और पश्चिम सीमामें समुद्र पाया नहीं जाता, क्योंकि उत्तर भारतके पूर्व-में वङ्गदेश तथा पद्मा, ब्रह्मपुत्र आदि बड़ी बड़ी नदियाँ हैं, और पश्चिम सीमामें पञ्जाब, सिन्धदेश और सिन्धुनद तथा अन्यान्य नदियाँ हैं । इस कारण शास्त्रोक्त पूर्व्व कथित लक्षण घटानेपर केवल उत्तर भारतको आर्य्यावर्त्त नहीं कह सकते । पूर्व्वसमुद्र और पश्चिमसमुद्र द्वारा पूर्व्व पश्चिम सीमा समझी जाने पर भारतवर्ष अर्थात् पूरे हिन्दुस्थानको ही आर्य्यावर्त्त करके मान सकते हैं । उत्तरमें हिमालयके होने और दक्षिणमें विन्ध्याचलके होनेके विषयमें उत्तर सीमाका तो मतभेद है नहीं, केवल दक्षिणमें विन्ध्याचलके होनेका रहस्य उद्घाटन होने योग्य है । यद्यपि इस समय भारतवर्षके बीचके पर्व्वतको ही विन्ध्याचल नामसे पुकारते हैं, परन्तु जिस प्रकार नीलपर्व्वत भारतवर्षके कई स्थानोंमें है और पुराणोंमें भी नीलपर्व्वतका भारतवर्षके कई स्थानोंमें होना पाया जाता है । अब भी उड़ीसामें, दक्षिण भारतमें और हरिद्वारके निकट, इन तीन स्थानोंमें नीलपर्व्वतके नामसे पर्व्वत विद्यमान हैं; ठीक उसी ढंग पर भारतवर्षके मध्यपर्व्वतको विन्ध्याचल कहते हैं और दक्षिण समुद्रके निकटवर्त्ती स्थानोंमें भी विन्ध्य नामका पर्व्वत विद्यमान है । यदि यह सिद्धान्त स्थिर माना जाय कि आर्य्यावर्त्तकी सीमा कहते समय महर्षियोंने भारतकी दक्षिण सीमाके विन्ध्यपर्व्वत नामक शिखरको ही लक्ष्य किया है तो अतिसुगमतासे समग्र हिन्दुस्थानको आर्य्यावर्त्त करके निश्चय कर सकते हैं और समग्र भारत-वर्ष अर्थात् हिन्दुस्थानको ही आर्य्यावर्त्त करके माननेमें सब प्रकारकी सुविधा भी है । और शास्त्रोक्त पूर्व और पश्चिम समुद्रकी भी मीमांसा ठीक ठीक हो सकती है ।

सरस्वती और दृषद्वती नाम्नी दोनों देवनदियोंके बीचमें जो देवनिर्मित देश है उसका नाम ब्रह्मावर्त्त देश है । कुरुक्षेत्र, मत्स्यदेश, पाञ्चालदेश व मथुरादेश ब्रह्मावर्तके अन्तर्वर्त्ती ये देश ब्रह्मर्षि देश कहलाते हैं । सृष्टिका आदि विकाश इसी देशमें हुआ है, सृष्टिकी प्रथम दशामें जो ब्राह्मण उत्पन्न हुए थे सो इसी देशमें उत्पन्न हुए थे और इन्हींसे आचार, व्यवहार व चरित्र-का आदर्श संसारमें सर्वत्र व्याप्त होना चाहिये; और सो हुआ भी था । क्योंकि पाश्चात्य पण्डितोंके सिद्धान्तानुसार पूर्ण पुरुष आर्य्यगणोंकी ही ज्ञान-

की ज्योति समस्त संसारमें फैल गई थी सो आजतक उन देशोंमें प्रकाशको दे रही है। और श्रीभगवान् मनुजीके उपर्युक्त वचनोंका भी यही तात्पर्य्य है। शतपथ ब्राह्मणमें लिखा हैः—

तेषां कुरुक्षेत्रं देवयजनमास तस्मादाहुः कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनम्।

कुरुक्षेत्र ही देवताओंके देवयज्ञका स्थान है। देवतालोग कर्मके प्रेरक हैं इसलिये देवयज्ञके द्वारा जो दैवीशक्ति उत्पन्न होती है उसीसे कर्मानुसार सृष्टि-प्रवाह चलता है और वह शक्ति जब कुरुक्षेत्रमें ही प्रथम विकाशको प्राप्त हुई थी तो प्रथम सृष्टिका विकाश कुरुक्षेत्रमें ही हुआ था इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। इसलिये गीताजीमें भी भगवान्ने कुरुक्षेत्रको धर्मक्षेत्र कहा है। जाबालोपनिषद्में लिखा हैः—

यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्।

कुरुक्षेत्र ही देवताओंके देवयज्ञका स्थान है तथा समस्त जीवोंका आदि उत्पत्तिस्थान है। सृष्टिके आदिकालमें पूर्णपुरुष आर्य्यगण भारतके इसी स्थानमें उत्पन्न होकर समस्त आर्य्यावर्त्तमें विचरण करते थे, उनके रहनेके कारण इस भूमिका नाम आर्यावर्त्त हुआ है। शास्त्रोंमें लिखा हैः—

आर्य्याः श्रेष्ठा आवर्त्तन्ते पुण्य भूमित्वेन वसंत्यत्र इति आर्यावर्तः।

पुण्यभूमि होनेके कारण पूर्णपुरुष आर्यगण यहां पर निवास करते थे इसीलिये इस भूमिका नाम आर्यावर्त्त हुआ है। कुल्लूक भट्टजीने आर्यावर्त्त शब्दका यह अर्थ किया हैः—

आर्या अत्राऽऽवर्त्तन्ते पुनः पुनरुद्भवन्तीत्यार्यावर्त्तः।

आर्यगण इस स्थानमें पुनः पुनः जन्म ग्रहण करते हैं इसलिये इस स्थानका नाम आर्यावर्त्त हुआ है। आर्यगणोंके आदि ग्रन्थ वेदमें इन सब विषयोंका बहुधा वर्णन देखनेमें आता है। यथा ऋग्वेदमेंः—

सितासिते सरिते यत्र संगते तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति।

गङ्गा यमुनाके संगम स्थलमें प्राणत्याग होनेसे ऊर्द्ध्वगति होती है। और भी कृष्णयजुर्वेदके प्रथम काण्डमें अष्टम प्रपाठकके दशम अनुवाकमें लिखा हैः—

ये देवा देवसुवः स्थ त इममामुष्यायणमनमित्राय सुवध्वं

महते क्षत्राय महत आधिपत्याय महते जानराज्यायैष वो भरता राजा सोमोस्माकं ब्राह्मणानां राजा। हे देवा अग्न्यादयो ये यूयं देवसुवो यजमानप्रेरकाः स्थ ते यूयमिमं यजमानमामुष्यायणं अमुष्य देवदत्तस्य पुत्रं अमुष्य यज्ञदत्तस्य पौत्रं चानमित्राय शत्रुराहित्यार्थं सुवध्वं अनुजानीध्वं किंच महते क्षत्रायानुत्तमक्षत्रियकुलाय महते आधिपत्याय अप्रतिहतनियमनसामर्थ्याय महते जानराज्याय जनसम्बंधि यद्राज्यं तच्च सागरपर्यन्तभूमिविषयत्वान्महत्–तस्मै सार्वभौमत्वाय सुवतां अभ्यनुजानीताम्। हे भरता राजन्यवैश्यादयो धनिका एष यजमानो युष्माकं राजा, एनं स्वामिनं यथोचितं सेवध्वमित्यभिप्रायः। सोम उत्तमो देवोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा न त्वधमः इति।

राजसूय यज्ञके अङ्गभूत अभिषेचनीय यागमें ऋत्विक्, भारतवर्षमें उत्पन्न आर्य क्षत्रियादिकोंके समस्त संसारमें आधिपत्य विस्तार होनेके लिये यजमानप्रेरक अग्नि आदि देवताओंको अनुज्ञा करनेको कह रहे हैं। इन सब मन्त्रोंके द्वारा भारतवर्ष ही आर्यगणोंकी आदि निवास भूमि है यह बात स्पष्ट रूपसे सिद्ध होती है। अतः वेदादि शास्त्रीय प्रमाण तथा विचारके द्वारा निश्चय हुआ कि आर्यजातिके देशान्तरसे आनेके विषयमें अर्वाचीन पुरुषोंने जो कुछ कल्पना की है सो सर्वथा उनकी मिथ्या कपोल-कल्पना मात्र है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

अब जब विज्ञान व शास्त्रप्रमाणोंके द्वारा सिद्धान्त होगया कि आर्यजाति का आदि स्थान भारतवर्ष ही हो सकता है, यह जाति और कहीं उत्पन्न होकर यहाँ नहीं आई है तो इसी सिद्धान्त पर प्रतिष्ठित होकर अर्वाचीन पुरुषोंके कल्पनाजालपर विचार करनेसे सहज ही उनके मिथ्यात्वके विषयमें निश्चय होजायगा। इसलिये अब उनकी युक्तियोंपर एक एक करके विचार किया जाता है। उनका पहिला कहना यह है कि आर्यगण मध्य एशियामें कास्पियन ह्रदके किनारेपर बसते थे और पश्चात् वहींसे यहाँ आगये। इस प्रकार कल्पनाकी पुष्टिमें वे युक्ति देते हैं कि ऋग्वेदमें मध्य एशियाके नद नदी व नगर ग्रामका नाम देखनेमें आता है, वहाँके लोग वेदमें वर्णित आर्योंकी तरह श्वेतवर्ण होते हैं और वहाँके प्राचीन देवदेवियोंके नामके साथ आर्यशास्त्रोक्त देवदेवियोंके

नाम मिलते हैं। थोड़े विचारसे ही सिद्ध होगा कि अर्वाचीन पुरुषोंकी इस प्रकारकी युक्ति नितान्त सारहीन व अकिञ्चित्कर है। यदि वेदमें मध्य एशियाके नदनदीके नाम देखनेसे ही आर्यगणोंका मध्य एशियामें रहना स्थापित हो जाय तो वेदमें गङ्गा, यमुना, सरस्वती, शतद्रु, वितस्ता आदि नदनदियोंके नाम देखनेसे भारतवर्षमें रहना स्थापित क्यों न होगा? पहले ही प्रमाण दिया जा चुका है कि गङ्गा, यमुना आदि नदनदियोंके अनेक वर्णन वेदमें मिलते हैं। अतः नामको देखकर आदिवासस्थान निर्णय करना सर्वथा अयौक्तिक है। सामान्य दृष्टान्तसे ही समझ सकते हैं कि यदि अँग्रेजोंके किसी इतिहास या भूगोल ग्रन्थमें कामस्कट्काके किसी शहरका नाम मिल जाय तो क्या इससे यह सिद्धान्त करना होगा कि अँग्रेजोंके आदि पुरुष कामस्कट्कामें वास करते थे? यह सिद्धान्त नितान्त हास्यजनक है। इससे यह सिद्धान्त ठीक होगा कि यहाँके लोग वहाँ जाकर अपना आधिपत्य विस्तार करते थे, इसलिये इनके इतिहास व भूगोलमें उस देशके नाम आगये है। इसी दृष्टान्तके अनुसार वेदमें और देशोंके नाम देखकर आर्यजाति औरदेशकी थी, यहाँ आ गयी है। इस प्रकार सिद्धान्त करनेकी अपेक्षा ऐसा कहना बेहतर होगा कि आर्यजाति पूर्व कालमें पृथिवीकी अधीश्वरी थी और इसलिये उसका आधिपत्य-विस्तार पृथिवीके सर्वत्र था। आर्य्यगण सकल स्थानोमें आया जाया करते थे और इसीलिये उनके ग्रन्थोंमें पूर्वोक्त नाम पाये जाते हैं। आर्यजातिके अन्यान्य ग्रन्थोंमें और देशोंके नाम देखकर ऐसा सिद्धान्त भले ही किया जाय परन्तु वेदमें मध्य एशियाके या और किसी प्रदेशके नदनदियोंके नाम देखकर ऐसा सिद्धान्त कभी नहीं करना चाहिये। क्योंकि वेद यदि किसीके बनाये ग्रन्थ होते तो आर्यजातिके भिन्न देशोंमें जानेके साथ ही साथ उन देशोंके नाम या तत्रत्य नदनदियोंके नाम वेदमें आ गये हैं ऐसा कहना ठीक होता। परन्तु वेद ऐसा मनुष्यकृत ग्रन्थ नहीं है। पूर्व खण्डमें वेदके अध्यायमें यह बात सिद्ध हो चुकी है कि वेद ईश्वरकृत व ज्ञानरूप हैं। ऋषि लोग वेदके कर्त्ता नहीं किन्तु द्रष्टा मात्र हैं। इसलिये आर्यजाति वही पर जा बसी और वहाँकी बातें वेदमें लिख दीं ऐसा नहीं हो सकता है। वेदमें मध्य एशिया स्थित नदनदियोंके नाम अथवा गङ्गा, यमुना आदि भारत स्थित नदनदियोंके नाम आनेका कारण यह है कि वेद ज्ञानरूप व पूर्ण ग्रन्थ है। इसलिये संसारभरकी बातें व देशदेशान्तरोंके नाम उसमें आ जाते हैं। जब प्रकृतिसे अतीत परमात्माका अटल सिद्धान्त वेदमें

करतलामलकवत् प्रतिपादन किया गया है तो पृथिवीके सामान्य देश, ग्राम, नगर या नदनदियोंके दो चार नाम बताना वेद जैसे पुस्तकके लिये क्या बड़ी बात है। वेदके त्रिकालदर्शी होनेसे इसमें अतीत, वर्त्तमान या भविष्यत्में होने वाली सभी बातें या सभी देशदेशान्तरोंके नाम या घटनायें यथावत् लिखी जा-सकी हैं। यही कारण है कि वेदमें और देशके नदनदियोंके नाम पाये जाते हैं। मोक्षमूलर आदि पाश्चात्य मनीषिगण सभी एक वाक्य होकर स्वीकार करते हैं कि वेद ही समस्त पृथिवीका आदि ग्रंथ है, और यह भी सभीने स्वीकार किया हुआ है कि भारतवर्ष ही वेदका आदि विकाश स्थान है। अतः सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद जब भारतका आदि ग्रंथ है तो वैदिक आर्यजातिकी आदि वास-भूमि भारतवर्ष ही होगी इसमें क्या सन्देह हो सकता है? आर्यगण श्वेताङ्ग पुरुष थे, भारतवर्षमें श्वेताङ्ग पुरुष नहीं मिलते हैं, काकेशियामें मिलते हैं, इस-लिये आर्यगण काकेशियासे आये हुए हैं। इस प्रकार युक्ति जो लोग देते हैं उन्होंने सर्वत्र परिभ्रमण करके पुरुषोंको देखा नहीं होगा या यथार्थमें श्वेत-वर्ण कैसा होता है इसका उन्हें परिज्ञान नहीं होगा। आर्यशास्त्रोंमें ब्राह्मणोंका वर्ण श्वेत लिखा है सो हिमाचल और विन्ध्याचलके बीचमें और पश्चिम व पूर्व समुद्रके बीचमें जो आर्यब्राह्मण रहते हैं उनका वर्ण आज भी बहुधा श्वेत ही है, अन्य वर्ण नहीं है। और जहाँ कुछ विशेष अन्यथा है वहाँ कालके प्रकोपसे परम्परागत धर्मके ही परिवर्त्तनका फल है, इससे वैदिक सिद्धान्तमें कोई भी विरोध नहीं पड़ता है। और काकेशिया व पाश्चात्य देशके मनुष्योंके वर्णके विषयमें जो कहा जाता है सो वर्ण-विज्ञानके अभावका ही परिचायक है। क्योंकि सिवाय भारतके अन्य देशोंके लोग यथार्थ श्वेतवर्ण नहीं होते किन्तु विकृत श्वेतवर्ण हुआ करते हैं। उनका रंग देखनेसे सभी लोग ऐसा कहेंगे। इससे यह भी युक्ति अकिञ्चित्कर प्रतीत होती है। तृतीयतः देव देवी अथवा भाषागत शब्दोंके नामका मेल देखकर जो लोग मध्यएशियामें आर्यजातिका वासस्थान निर्देश करना चाहते हैं अथवा संस्कृत भाषाके साथ जर्मन भाषाका कहीं कहीं सादृश्य देखकर पोलण्ड या स्काण्डिनेभियामें आर्योंका आदि वासस्थान बताना चाहते हैं उनकी युक्ति भी ऐसी ही मिथ्या है। कोई जाति जब एक देशसे जाकर और किसी देशमें अधिकार विस्तार करती है तो इससे उसजातिके देशका गौरव व स्मृतिचिन्ह लुप्त नहीं होता है। बल्कि इस प्रकार अधिकार विस्तारके द्वारा अपने देशका गौरव बढ़ता ही है।

दृष्टान्त रूपसे समझ सकते हैं कि आजकल अंग्रेज जाति प्रभावशालिनी होकर भिन्न भिन्न देशोंमें आधिपत्य स्थापन कर रही है। क्या इससे इंग्लैण्डका गौरव ह्रास होरहा है यह कहना पड़ेगा? कदापि नहीं, बल्कि इससे इंग्लैण्डकी गौरव-वृद्धि होरही है ऐसा सिद्धान्त प्रत्यक्ष होगा। इसी प्रकार जब भारतवर्षमें वेदसे लेकर समस्त विषयमें आर्यजातिका गौरव परिस्फुट है और अन्य देशोंमें केवल दो चार नामोंका उल्लेख पाया जाता है तो यह सिद्धान्त करना युक्ति युक्त होगा कि आर्यगण और किसी देशसे नही आये थे। भारतही आर्योंका आदि वासस्थान है जहां पर इनकी गौरव पताका फहरा रही है। और इसी देशसे पृथ्वीकी अधीश्वर आर्यजाति विजयपताका फहराती हुई पृथ्वीमें जहां जहां पर गई थी, वहां अब विजयपताका नष्ट होनेसे केवल आर्यभाषाके कुछ शब्द व देव देवियोंके नामका मेलही रहगया है, जिससे आदि वासस्थानके विषयमें इतने सन्देह उत्पन्न हो रहे हैं। विदेशमें अधिकारविस्तार होनेसे स्वदेशका गौरव-निदर्शन बढ़ता ही है; घटता नहीं। सृष्टिके आदिकालसे वसुन्धराके विशाल वक्षमें विराजमान पृथ्वीपति आर्यजातिके विषयमें ऐसाही हुआ है, जिससे भारतमें जगद्गुरु आर्यजातिका गौरव प्रतिष्ठित है और अन्य देशोंमें प्राचीन अधिकार विस्तारके स्मृतिचिह्न आज भी विद्यमान हैं। अतः अर्वाचीन पुरुषोंका कल्पनाजाल खण्ड विखण्ड हो गया। पहले ही कहा गया है कि 'ऋ' धातु का अर्थ गमन या व्याप्ति होनेसे जिसने पृथ्वीमें सर्वत्र गमन करके अपना अधिकार विस्तार किया था वही आर्यजाति है ऐसा सिद्धान्त सुनिश्चित होता है। आर्यजातिके प्राचीन इतिहास पर मनन करने पर भी उपर्युक्त विषयोंका पता लगता है। शास्त्रमें लिखा है कि स्वायम्भुव मनुके पुत्र प्रियव्रतने पृथ्वीको सप्तद्वीपमें विभक्त किया था। यथाः—जम्बु, प्लक्ष, पुष्कर, क्रौञ्च, शाक, शाल्मली, व कुश। इन्हीं सप्तद्वीपोंके अन्तर्गत आजकलके एशिया, युरोप आदि महादेश हैं। राजा प्रियव्रतने इन्हीं सप्तद्वीपोंको अपने पुत्रोंके लिये विभक्त कर दिया था। अतः आर्यशास्त्रके अनुसार प्राचीन कालमें ये ही सप्तद्वीप आर्य राजाओंके अधिकारभुक्त थे, आर्य इतिहाससे यही सिद्धान्त निकलता है। प्रसिद्ध प्रत्नतत्वचित् पण्डित ब्रुगस्वे साहबने कहा है कि अति प्राचीन कालमें सुयेज क्यानल पार होकर आर्यजातिके एक दलने नील नदके तीरपर उपनिवेश स्थापन किया था। कर्नल अलकाट साहबने कहा है कि भारतवर्षसे ही आर्यगणोंने मिशर (Egypt) देशमें जाकर अपनी सभ्यता व शिल्पकलाका विस्तार किया था।

कुरुक्षेत्रके युद्धके पहले पाण्डवोंने दिग्विजय करते हुए जिन जिन देशोंपर अधिकार स्थापन किया था महाभारतके सभापर्वमें उन सभोंका वर्णन है । प्रथम यात्रामें चीन, तिब्वत, मङ्गोलिया, पारस्य आदि देश और द्वितीय यात्रामें अरब, मिश्र आदि देशोंपर अपनी विजयपताका पाण्डवोंने फहराई थी। सगर राजाने भी दिग्विजयके लिये वहिर्गत होकर भारत महासमुद्रस्थित समस्त द्वीपोंपर अधिकार जमाया था, यह वृत्तान्त भारतके आदिपर्वमें लिखा है। यहां तक कि उत्तर मेरु देशमें भी आर्योंका जाना आना था। महाभारतके वनपर्वमें पाण्डुराजाने कुन्तीको उत्तर मेरुमें स्त्री जातिकी अवस्थाके विषयमें वर्णन किया है कि उस देशकी स्त्रियां नग्न रहती हैं इत्यादि । इसके सिवाय ऋग्वेदमें भी सुदास व भुज्यु राजाके दिग्विजयका वृत्तान्त लिखा है। अतः वेद आदि हिन्दुशास्त्र तथा पाश्चात्य पण्डितोंके सिद्धान्तानुसार निश्चय होगया कि आर्यराजागण पृथ्वीके सर्वत्र ही विचरण व राज्य स्थापन करते थे । जहां जहां उनका अधिकार विस्तार होता था वहांके लोगोंमें उनका प्रभाव अवश्य ही जमता था और उस देशकी भाषामें भी आर्यभाषाके शब्द आजाया करते थे। क्योंकि जेता जातिके साथ विजित जातिका इस प्रकार भाषा व भावका सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। आजकल भारतपर अंग्रेज जातिका अधिकार है जिससे यहांके भाषा व जातिगत भावके ऊपर आंग्ल भाषा व भावका वहुतही प्रभाव पड़ गया है। उसी प्रकार प्राचीन कालमें आर्यजातिकी भाषाका और भावका वहुतही प्रभाव पृथ्वीकी अन्यान्य जातियोंपर था। अव कालचक्रकी विपरीत गतिके कारण आर्यजातिका वह प्रभाव नष्ट होगया है । इसलिये उन देशोंमें इनका अधिकार भी विलुप्त हो गया है। केवल स्मृतिरूपसे भाषा आदिका कहीं कहीं सादृश्य देखनेमें आता है। यही कारण है कि मध्यएशिया, पोलण्ड आदि प्रदेशोंमें आर्यभाषाके शब्द, नाम व देवदेवियोंकी संज्ञा देखनेमें आती हैं। आर्यजातिके प्राचीनत्वके विषयमें यही सत्य सिद्धान्त है जिसको वुद्धिमान् लोग विचारके द्वारा निर्णय कर सकते हैं। संस्कृत भाषाके साथ जर्मन, स्काण्डिनेविया, पोलैण्ड आदि देशोंकी भाषाका सादृश्य और भी निम्न लिखित दो कारणोंसे हो सकता है। जिस समय पृथ्वीके अधीश्वर आर्यराजागण सर्वत्र अपना अधिकार विस्तार करके सर्वत्र ही वास करते थे, उस समयसे क्रमशः उनमेंसे वहुत लोग उन देशोंमें अपना स्थायी वासस्थान वनाने लगे। पश्चात् जव आर्य जातिका गौरव पृथ्वीके अन्यान्य-प्रान्तोंमें नष्ट होकर केवल भारतभरमें ही रह

गया तब जो लोग अन्यान्य देशोंमें वस गये थे उनका सम्बन्ध आर्यजातिके साथ नष्ट हो गया। वे सब उधरही रहकर धीरे धीरे अपने आर्यजातीय आचार व्यवहारसे गिर गये और अन्यजाति कहलाने लगे। परन्तु उनकी भाषा आर्य-भाषा होनेके कारण यद्यपि नवीन भाव व जीवनके साथ उसमें कुछ परिवर्त्तन हो गया तथापि पूर्ण परिवर्त्तन नहीं हो सका। यही कारण है कि भारतके सिवाय अन्यान्य देशोंकी भाषाओंमें भी संस्कृत भाषाके साथ सादृश्य देखनेमें आता है। इस प्रकार क्रियालोपसे भिन्नजाति बननेके विषयमें मनुजीने भी कहा हैः—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणाऽदर्शनेन च॥
पौण्ड्रकाश्चौण्ड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदा पन्हवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः॥
मुखबाहूरुपाज्जानां या लोके जातयो बहिः।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः॥

उपनयन आदि क्रियालोप और वेदाध्ययनाध्यापनके अभावसे नीचे लिखी हुई जातियोंने क्रमशः शूद्रत्व प्राप्त किया है। यथा पौंड्रक, औड्र, द्रविड्, काम्वोज, यवन, शक, पारद, पन्हव, चीन, किरात, दरद व खश। ब्राह्मणादि चार वर्णोंके वीचमेंसे क्रियालोपके कारण जो लोग वहिष्कृत होकर वाह्यजाति कहलाते हैं वे आर्यभाषा वोलें या म्लेच्छभाषा वोलें इनकी गणना दस्युओंमें होती है। इस प्रकार वर्णाश्रमधर्म्मोक्त क्रियालोप होनेके कारण प्राचीन आर्य जातियोंमेंसे वहुत जातियां वन गई हैं और पृथिवीके देश देशमें उनका वासस्थान हुआ है। महाभारतमें वर्णित है कि राजा ययातिने अपने कई पुत्रोंको भारत-वर्षसे निर्वासित किया था और राजा सगरने भी अपनी प्रजाओंमें से वहुत लोगोंको भारतवर्षसे निकाल दिया था। ऋग्वेदमें सुदास राजाके विषयमें भी ऐसी वातें देखनेमें आती हैं कि उन्होंने अपने राज्यस्थ अनेक विद्रोही मनुष्यों को परास्त करके राज्यसे निकाल दिया था। इस प्रकार व पूर्वोक्त अनेक प्रकारसे भारतवर्षसे आर्यगण अफ्रिका, यूरोप व अमेरिकाके अनेक स्थानोंमें जा वसे हैं। कालक्रमसे उनके आचार व्यवहार व प्रकृति अन्यरूप हो जानेपर भी वहुतसी वातें अव भी मिलती हैं और भाषाका मेल भी इसी कारणसे पाया जाता है। संस्कृत भाषासे लाटिन्, ग्रीक्, जर्मन् आदि भाषाओंके मेल होनेका द्वितीय कारण संस्कृत भाषाकी मौलिकता है। संस्कृत भाषा और देशोंकी

भाषाओंकी तरह अस्वाभाविक रूपसे बनी हुई भाषा नहीं है। संस्कृत भाषा प्रकृतिस्पन्दसे उत्पन्न प्राकृतिक नादोंसे बनी हुई भाषा है। प्रकृतिके स्पन्दन द्वारा प्रलयान्तमें जब सृष्टि होने लगती है उस समयका प्रथम स्पन्दनजनित शब्द ॐ है। इसलिये ॐ ही सकल शब्दोंका मूल आर्यशास्त्रोंमें माना जाता है। (ओंकार के विषयमें विस्तृत वर्णन अगले अध्यायोंमें किया जायगा) और इसके पश्चात् उसी मूल शब्दसे प्रकृति-विकारजनित अनन्त स्पन्दन द्वारा अनन्त शब्दोंकी सृष्टि हुई है। उन्हीं प्राकृतिक शब्दोंकी समष्टि संस्कृत भाषा है और अन्य देशीय समस्त भाषाएँ इसी प्रकृतिकी विकृतिसे उत्पन्न हुई हैं। जब विकृति प्रकृतिमूलक है और उसी प्रकृतिसे संस्कृत भाषा बनी है तब विकृतिसे उत्पन्न समस्त भाषाओंके मूलमें संस्कृत भाषा ही होगी इसमें कोई सन्देह नहीं है। यही कारण है कि संसारकी समस्त भाषाओंके मूलमें (Root) संस्कृत भाषा देखनेमें आती है। जर्मन आदि भाषाओंके साथ संस्कृतका मेल रहनेके येही सब कारण हैं। आर्यजातिका, पोलण्ड आदि स्थानोंसे भारतमें आना इसका कारण नहीं है। वेदमें दीर्घकालव्यापी रात्रि व दिन तथा शैत्याधिक्यको वर्णन है। इस कारण आर्यगण उत्तरमेरुमें वास करते थे, इस प्रकार जो लोग कल्पना करते हैं उनकी भी कल्पना उपर्युक्त कारणोंसे कपोलकल्पनामात्र प्रतीत होती है। वेद पूर्ण व भगवद्वाक्य होनेसे उसमें संसारकी सभी बातें रहेंगी इसमें सन्देह ही क्या हो सकता है? अतः वेदमें इन बातोंके देखते ही इस प्रकार कल्पना कर डालना ठीक नहीं प्रतीत होता। वेदकी बात ही क्या, जब महाभारतके वनपर्वमें पाण्डु राजाकी कुन्तीके प्रति जो उक्ति है, उसके द्वारा यह सिद्ध होता है कि महाभारत जैसे इतिहासमें भी उत्तर मेरुका वर्णन है; जिससे आर्यगण उत्तर मेरुमें भी जाया आया करते थे ऐसा निश्चय होता है; तो भूत, भविष्यत् और वर्त्तमानको नेत्रके सामने धरनेवाले वेदमें उत्तर मेरुका वर्णन है इसमें असम्भावना ही क्या हो सकती है? पारसी जातिके जेन्दा आभेस्ता ग्रन्थमें आर्यगणोंका स्वर्ग उत्तर मेरु है ऐसा जो वर्णन पाया जाता है वह भी सम्पूर्ण भ्रमात्मक है। हिन्दुशास्त्रों में स्वर्गको अनन्त सुखका स्थान कहा है। यथाः—

सुसुखः पवनः स्वर्गे गन्धश्च सुरभिस्तथा।
यन्न दुःखे नसंभिन्नम्।

इस प्रकारसे स्वर्गलोक अतीव आनन्दमय है, वहां दुःखका लेशमात्र

नहीं है ऐसा वर्णन किया गया है। परन्तु जहां छः छः महीने तक सूर्य-का मुख देखनेमें न आवे और मारे ठण्डके प्राण निकल जाय वह स्थान उपर्युक्त लक्षणयुक्त स्वर्ग कैसे हो सकता है सो बुद्धिमान् लोग सोच सकते हैं। स्वर्ग-लोक ऊर्द्ध्व लोक होनेसे वहाँ प्रकाशका अधिक होना शास्त्र व विज्ञान-सिद्ध है। अतः स्वर्गमें छः महीने दिन व छः महीने रात्रि नहीं हो सकती है और पृथ्वीकी गति जानने वाले लोग जानते हैं कि विषुव रेखाके उपरिस्थित व निकटवर्त्ती देशोंमें ही सूर्य रश्मि अधिक पडती है। इससे उत्तरकी तरफके देशोंमें उत्ताप कम होनेसे शीत अधिक होता है इसलिये उत्तरमेरुमें शैत्याधिक्य होना प्राकृतिक है। वहां पर कभी चिरवसन्त विराजमान था और संसार-के श्रेष्ठ पुरुष आर्यगण वहां रहते थे, पश्चात् शीत अधिक होनेसे वहाँसे भागे ऐसा सिद्धान्त न भूगोल विद्या ही कह सकती है और न हिन्दू शास्त्रमें ही स्वर्ग-का ऐसा लक्षण पाया जाता है। यदि स्वर्गकी ऐसी दुर्दशा हो तो इतनी तप-स्या व यज्ञ करके स्वर्गकी कामना कौन करेगा और भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी भीः—

अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्।

इस प्रकारसे स्वर्गकी महिमा ही क्यों वर्णन करेंगे? अतः इस प्रकारकी कल्पना सर्वथा भ्रमयुक्त है। चतुर्दशभुवन और स्वर्गादि लोकोंका रहस्य अति-सूक्ष्म विज्ञानसे युक्त है। अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत इन तीन भावोंको जो नही समझते वे लोग इस विषयको नही समझ सकेंगे। (स्वर्गादि लोकोंका अतीन्द्रिय सूक्ष्म राज्यसे सम्बन्ध है जिसका विस्तृत वर्णन एक स्वतन्त्र अध्यायमें किया जायगा) जब वेदके वर्णनानुसार उत्तरमेरुकी दशा जो पहले थी, अब भी वही है तो आर्यगण वहांसे यहां क्यों आये? पहले वहां पर शीत कम था, बीचमें कुछ बढ़ गया और आजकल फिर पहलेकी तरह हो गया ऐसा कहना सत्य व वेदवर्णन-सङ्गत नहीं है। और कभी ऐसा हो भी तथापि इससे आर्यगण वहां रहते थे ऐसी कल्पना कैसे हो सकती है? वेदमें केवल शैत्याधिक्यका वर्णन नहीं है। वेदमें जिस प्रकार शीतका वर्णन है उसी प्रकार हेमन्त, शरत्, ग्रीष्म आदिका भी वर्णन है। ऋग्वेदके सप्तम मण्डलमें शरद्‌ऋतुका, षष्ठ व पञ्चम मण्डलमें हेमन्त ऋतुका, दशम मण्डलमें ग्रीष्म व वसन्त ऋतुका और अनेक स्थानोंमें शीत ऋतुका वर्णन देखनेमें आता है। यदि वेदमें शीतका वर्णन देखते ही शीत प्रधान उत्तरमेरु आर्यजातिका आदि वास-

स्थान था ऐसा सिद्धान्त करना हो तो वेदमें शरत्, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म आदि ऋतुओंका वर्णन देखनेसे जिन जिन स्थानोंमें ऐसे ऋतु प्रधान हैं वहांपर भी आर्यजाति प्राचीन कालमें वास करती थी और वहांसे यहां आगई ऐसा कहना पड़ेगा। इस प्रकार की कल्पना का फल यह होगा कि आर्यजातिके आदिवासस्थानके विषयमें कुछ निर्णय ही नहीं हो सकेगा। यदि वेदमें वर्णित ऋतुके विचारसे ही आर्यजातिका आदि वासस्थान निर्णय करना हो तो धीर मस्तिष्क हो कर विचार करनेसे यही सिद्धान्त होगा कि जब वेदमें सभी ऋतुओंका वर्णन देखनेमें आता है तो जहां पर सभी ऋतु भ्रातृ भावसे विराजमान हैं, पूर्ण प्रकृतियुक्त वही देश पूर्णप्रकृति आर्यगणोंका आदि वासस्थान है। और ऐसा सर्वर्त्तु-निर्वृतिकर पूर्णप्रकृतिशाली भारत ही है, अन्य देश नहीं हो सकता। अतः विचार, शास्त्रीय प्रमाण, इतिहास, भूगोलादि सभीके अवलम्बनसे सिद्धान्त हुआ कि भारतवर्ष ही आर्य्यजातिका आदि वासस्थान है। इसके सिवाय कुछ अर्वाचीन पुरुषोंने जो तिब्बतसे आदिसृष्टि मानी है सो प्रमाण व विचारोंसेहीन होनेके कारण सर्वथा मिथ्या है। तिब्बत शीत प्रधान स्थान है। वहां छओं ऋतुओंका विकाश न होनेसे वह भूमि पूर्ण प्रकृतियुक्त नहीं है। अतः पूर्व कहे हुए विज्ञानके अनुसार अपूर्ण प्रकृतियुक्त स्थान तिब्बतमें पूर्ण प्रकृतियुक्त आर्य-गण प्रथम उत्पन्न ही नहीं हो सकते। मध्यएशिया आदिसे आनेके विषयमें जो कुछ युक्ति कोई कोई लोग देते हैं, तिब्बतके लिये ऐसी भी कोई युक्ति नहीं दी जा सकती। अतः प्रमाण व युक्तिसे हीन होनेके कारण यह कल्पना सर्वथा परित्याज्य है और तिब्बत शब्दको त्रिविष्टप अर्थात् स्वर्गका अपभ्रंश कह कर स्वर्गसे देवप्रतिम आर्योंकी उत्पत्ति बताना भी भ्रमयुक्त ही है क्योंकि पूर्वसिद्धान्तानुसार आर्यगण ही आदि सृष्टिमें उत्पन्न होनेसे त्रिविष्टप अर्थात् स्वर्गसे आदि सृष्टि मानना विज्ञान व शास्त्र सङ्गत नहीं है। मनु संहितामें लिखा है:—

तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।
स्वयमेवाऽऽत्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्द्विधा॥
ताभ्याञ्च शकलाभ्याञ्च दिवं भूमिञ्च शाश्वतम्।
मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च निर्ममे॥

भगवान् ब्रह्माजीने सकल सृष्टिके आधाररूप अण्डमें एक वर्ष तक रह कर उसे ध्यानबलके द्वारा द्विधा विभक्त किया। उसके ऊपरके

खण्डसे स्वर्ग आदि लोक और नीचेके खण्डसे पृथ्वी आदि लोकोंकी उत्पत्ति की। इस प्रकार सृष्टिके प्राक्कालमें स्वर्गादि लोक और पृथिव्यादि लोक उत्पन्न होनेके बाद स्वर्गादिमें दिव्य सृष्टि और पृथिव्यादिमें मनुष्य सृष्टि प्रारम्भ होती है। और उसी मनुष्य सृष्टिमें पूर्ण मानव आर्य ऋषिगण हैं; जिसका प्रमाण पहिले ही दिया जा चुका है। अतः तिब्बतको त्रिविष्टप अर्थात् स्वर्ग कह कर वहांसे मनुष्य सृष्टिका वर्णन करना मिथ्या कपोल कल्पना मात्र है, शास्त्र सङ्गत नहीं है। अन्ततः अर्वाचीन पुरुषोंका सकल कल्पना-जाल छिन्न होकर यह सिद्धान्त प्रकट हुआ कि आर्य्य-जातिका आदि निवासस्थान भारतवर्ष ही है।

प्रसङ्गोपात्त 'हिन्दु' शब्दके ऊपर विचार किया जाता है। हिब्रू भाषामें 'हन्द्' शब्दका अर्थ तेज, गौरव या शक्ति है। इस भाषाके 'एस्तार' नामक ग्रन्थमें लिखा है कि राजा आहासुरेश हन्द्से इथिओपिआ तक राज्य करते थे, अर्थात् उनके राज्यके एक प्रान्तमें भारतवर्ष और अन्य प्रान्तमें मिशर देश था। भारतवर्षको वे हन्द् अर्थात् गौरवान्वित राज्य कहा करते थे। जेन्दा अभेस्तामें हन्द् शब्दकी उत्पत्ति 'हिन्दव' से मानी गई है और यही ग्रीक भाषामें 'हन्दकोश' इन्दिकोश व 'इण्डिकोश' आदि शब्द रूपेण परिणत होता है और इसीसे हिन्दु वा इण्डिया शब्द बना है। अतः हिन्दु शब्दका अर्थ पवित्र गौरवान्वित जाति है। और पारसीयोंके अति प्राचीन ग्रन्थ जेन्दा आभेस्तामें जब हिन्दु जातिको गौरवान्वित जाति करके वर्णन किया है तब हिन्दु शब्द पर सन्देह करनेका कोई कारण नहीं है। किसी किसी आधुनिक ग्रन्थमें हिन्दु शब्दका निन्दनीय अर्थ लिखा है ऐसा कहकर आज कल जो लोग अपनेको 'हिन्दु' कहलानेमें सङ्कुचित होते हैं उनकी ऐसी भ्रान्ति ऊपर लिखित प्राचीन ग्रन्थोंके प्रमाणोंसे दूर हो जानी चाहिये। हिन्दु शब्द बहुत ही गौरवान्वित शब्द है और हिन्दु जाति करके आर्य जातिको ही समझना चाहिये। मेरु तन्त्रमें :—

हीनं च दूषयत्येव हिन्दुरित्युच्यते प्रिये।

हीनताकी विरोधी उच्च गौरवान्वित जाति ही हिन्दु जाति है ऐसा कहकर हिन्दु जातिकी परम प्रतिष्ठा की गई है। और इसी सिद्धान्तके अनुसार इस ग्रन्थमें हिन्दु वा आर्य शब्द पर्यायवाचक रूपसे व्यवहृत हुए हैं।

भारत आकाशमें अज्ञानकी घनघटा आच्छन्न होनेसे ज्ञानसूर्य विलुप्तप्राय होगया है। इससे वर्त्तमान भारतवासियोंके हृदयसे उनके प्राचीन पितृपितामह पुण्यश्लोक आर्यगणोंकी गौरवस्मृति दिन व दिन नष्ट होकर नवीन विदेशीय जातिकी अकिञ्चित्कर गौरव कहानी उनके चित्तपर प्रभाव जमा रही है। जिसका यह विषमय फल देखनेमें आ रहा है कि स्वाधीन सन्धानप्रवृत्ति नष्ट हो कर अनुकरणप्रवृत्ति बढ़ रही है और इसीसे हिन्दु जातिका अधःपतन हो रहा है। इसलिये वर्त्तमान प्रवन्धमें प्राचीन आर्य गौरवकी स्मृति दिलाकर उसीके साथ आर्य व अनार्यकी पृथक्ता बताई जायगी। पाश्चात्य मनस्वी मोक्षमूलर साहेवने कहा है कि "जो जाति अपने प्राचीन गौरव, इतिहास व साहित्यसे अपनेको गौरवान्वित नहीं समझती, वह अपने जातीय जीवनके प्रधान आश्रयको नष्ट कर डालती है। जिस समय जर्मन जाति राजनैतिक अवनतिके अन्धकूपमें निमग्न हो गई थी उस समय उसने उपायान्तर न देख कर अपने ही प्राचीन साहित्य पर दृष्टि डाली थी और उसी अतीतकी आलोचना द्वारा उसकी भावी आशालतिका फल फूलोंसे सुशोभित हो गई थी।"

जो जाति अपने प्राचीन पुरुषोंके गौरवको भूल जाती है या उनके प्रति दोष-दृष्टि परायण हो जाती है, वह जातीय जीवनमें कदापि उन्नति नहीं कर सकती। दुर्भाग्य है हमारा कि हम अपने प्राचीन पुरुषोंकी जीवनचर्य्याको छोड़ कर किसी विदेशीय जातिका अनुकरण करते हैं और उसीमें अपना गौरव व उन्नति समझते हैं। मनुसंहितामें लिखा है:—

येनाऽस्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यति॥

पिता, पितामह आदिके द्वारा प्रदर्शित पथ ही उत्तम पथ है। उसीके अवलम्बनसे कोई आपत्ति भी नहीं होती है। अतः अपनी उन्नतिके लिये हमें प्राचीन आर्य्य पुरुषोंकी सर्वतोमुखिनी महिमापर अवश्य ही ध्यान देना चाहिये। आर्य्यजाति व तदीय निवासस्थान भारतवर्षके विषयमें प्रोफेसर मोक्षमूलरने कहा है "समस्त पृथ्वीमें यदि ऐसा कोई देश मुझे बताना हो जिसको प्रकृतिमाताने धन ऐश्वर्य्य शक्ति व सौन्दर्य्यके द्वारा पूर्ण कर रक्खा है, यहाँ तक कि जिसे पृथ्वीमें स्वर्ग कहनेपर भी अत्युक्ति न होगी, तो मैं मुक्त कंठ होकर बता

दूँगा कि वह देश भारतवर्ष है। यदि कोई मुझसे कहे कि किस आकाशके नीचे मनुष्य अन्तःकरणकी पूर्णता प्राप्त हुई थी व जीवन रहस्यके कठिन सिद्धान्तोंकी मीमांसा हुई थी, जिसको प्लेटो व क्यान्ट जैसे दार्शनिक पुरुषोंके दार्शनिक ग्रन्थोंके पाठक भी जानकर ज्ञानवान् हो सकते हैं, तो मैं बता दूँगा कि वह देश भारतवर्ष है। यदि मैं अपनी आत्मा से पूछूँ कि हम यूरोपवासी, जिनकी चिंता-शक्तिकी पुष्टि ग्रीक, रोमन व सेमेटिक जातिकी चिंताशक्ति द्वारा हुई है, अपने अन्तर्जीवनको पूर्ण उदार विश्वव्यापी व मनुष्यत्वपूर्ण बनानेके लिये तथा इस जीवनके सिवाय चिरजीवनके वास्ते पूर्णोन्नत बनानेके लिये किस देशके साहित्य व शास्त्रसे शिक्षा प्राप्तकर सकते हैं? तो मुझे यही उत्तर मिलेगा कि वह देश भारतवर्ष है।" भाषा, धर्म, पुरावृत्त, दर्शनशास्त्र, आचार, शिल्प व विज्ञान कोई भी विषय मनुष्य जानना चाहे, सभीका अपूर्व व अनुपम आदर्श प्रकृति-माताके अनन्त भाण्डार भारतवर्षमें ही प्राप्त हो सकता है। आर्य्य जातिके प्राचीन इतिहास पर सोचनेसे प्रोफेसर मोक्षमूलरकी बातें अक्षरशः सत्य मालूम होती हैं। भारतवर्षके विषयमें कहा गया है:—

मन्ये विधात्रा जगदेककाननम्।
विनिर्मितं वर्षमिदं सुशोभनम्॥
धर्माख्यपुष्पाणि कियन्ति यत्र वै।
कैवल्यरूपं च फलं प्रचीयते॥

भारतवर्ष भगवान्का बनाया हुआ रमणीय उद्यान है जिसमें, धर्म्मरूपी फूल और मुक्तिरूपी फल उत्पन्न होता है। जिस प्रकार सायन्स व शिल्पकला-की उन्नतिसे आधिभौतिक उन्नति समझी जाती है उसी प्रकार ज्ञान व आत्मतत्व-विज्ञानकी उन्नतिसे आध्यात्मिक उन्नति समझी जाती है। प्राचीन कालमें आर्य्य-जाति आध्यात्मिक उन्नतिकी पराकाष्ठा तक पहुँच गई थी, इसको सभी निरपेक्ष लोग स्वीकार करते हैं। जिस गंभीर आत्मतत्त्वकी गवेषणामें प्लेटो व सक्रेटिस जैसे मनीषी थक गये हैं और स्पेन्सरने ईश्वर तत्त्व जानना मेरी बुद्धिसे अतीत है ऐसा कह दिया है, वहांपर अपनी सूक्ष्म बुद्धि व अतीन्द्रिय दृष्टिको दौड़ाकर आत्मतत्वका पूर्ण पर्य्यवेक्षण करना प्राचीन आर्य्यगणकी ही महती शक्तिका फल है। जिसके कारण केवल भारतवर्ष ही नहीं, समस्त संसार उनका ऋणी

रहेगा। पाश्चात्य दार्शनिक विज्ञान और आर्य्यजातिके दार्शनिक-विज्ञान की परस्पर तुलना करनेसे संक्षेपतः यही कहना यथार्थ होगा कि जहांपर अन्य देशोंका विज्ञान समाप्त हुआ है वहांसे आर्य्यजातीय दार्शनिक विज्ञान प्रारम्भ होकर अनन्त ज्ञान समुद्रमें जाकर विलीन हुआ है। जिस प्रकार ज्ञानकी पूर्णतासे पुरुषकी पूर्णता व मुक्ति होती है, उसी प्रकार पातिव्रत्यकी पूर्णतासे स्त्रीकी पूर्णता व मुक्ति होती है। इसलिये जिस देशकी स्त्रियोंमें सतीधर्मकी पूर्णता देखनेमें आती है वही देश पर्णोन्नत है इसमें अक्षरमात्र सन्देह नहीं है। समस्त पृथ्वीमें केवल आर्यमाता भारतभूमि ही सतीत्वकी पूर्णता द्वारा विभूषित हुई थी, इस बातको सभी लोग एकवाक्य होकर स्वीकार करेंगे। आर्य्यरमणीका जीवन अपने सुखके लिये नहीं किन्तु पति देवताकी पूजाके लिये ही है। इसलिये पति देवताका शरीर त्याग हो जानेपर आर्य्यरमणी एकाकिनी संसारमें नहीं रह सकती। क्योंकि देवताका विसर्जन होने पर नैवेद्यकी आवश्यकता क्या है? इसलिये आर्य्यशास्त्रमें सतीके लिये मृतपतिके साथ सहमृता होनेतककी आज्ञा दी गई है। प्राचीन कालमें इस प्रकारकी आज्ञाका पूर्णतया प्रतिपालन हुआ करता था।

ऋग्वेदके दशम मण्डलमें अष्टादश सूक्तके अष्टम ऋक्में संकुशक ऋषिने पति-वियोग-कातरा सहगमनोद्यता किसी स्त्रीको लक्ष्य करके कहा है:—

उदीर्ष्व नार्यभिर्जीवलोकमितासुमेतमुपशेष एहि।
हस्ताग्राभस्य दिधिषोस्त्ववेदं पत्युर्जनित्यमभिसम्बभूव॥

हे स्त्री! संसारकी ओर लौट जाओ, उठो, तुम जिसके साथ सोनेको जा रही हो वह मृत होगया है इसलिये उसके साथ तुम्हारा गर्भाधानादि कार्य समाप्त हो गया है। अब घरमें बाल बच्चोंको लेकर रहो। इस मन्त्रसे यही भावार्थ निकलता है कि स्त्री सहमरणमें जाना चाहती है और लोग उसे निवृत कर रहे हैं। राजा पाण्डुकी मृत्युसे माद्रीका सहमरण, इत्यादि आर्यरमणीकी पूर्णताके ज्वलन्त दृष्टान्त यहाँ पर ही मिलेंगे। अतः प्राचीन आर्यजातिकी आध्यात्मिक उन्नतिकी पूर्णता सर्ववादि सम्मत है।

प्राचीन आर्य-जातिमें मानसिक उन्नति कितनी हुई थी? आर्य-जातिके व्यावहारिक जीवन पर पर्यालोचना करनेसे उसका स्वरूप पूर्णतया प्रकट होगा। जहाँ पर हरिश्चन्द्र जैसे महात्मा सत्यरक्षाके लिये राज्य, धन, स्त्री, पुत्र तकको

उत्सर्ग करके चाण्डालका दासत्व कर सकते हैं, जहाँपर शरणागत पक्षी तककी रक्षाके लिये शिविराजा अपने शरीरको खण्ड २ करके काट दे सक्ते हैं, जहां पर आसुरी शक्तिको दमन करनेके लिये महर्षि दधीचि अपनी अस्थि तकको प्रदान कर सकते हैं, जहां पर मयूरध्वज जैसे गृहस्थ अतिथिसत्कारकी पराकाष्ठाका आदर्श स्थापन करनेके लिये स्त्री पुरुष मिलकर अपने बालकके शरीरके सिरसे पैरतक दो टुकड़े कर सकते हैं, जहां पर पितृ-सत्य-प्रति-पालनके लिये श्रीरामचन्द्र जटा धारण करके वनवासी हो सकते हैं, जहाँ पर पिताकी तृप्तिके लिये भीष्मदेव आजीवन ब्रह्मचारी रह सकते हैं, जहाँ पर समस्त राज्यसे च्युत होकर वनवास क्लेश सहन करने पर भी महाराज युधिष्ठिर सत्यकी मर्य्यादाको नहीं भूल सकते हैं, वहाँकी जातियोंमें मानसिक, नैतिक व चरित्र सम्बन्धीय कितनी उन्नति हुई थी सो सामान्य पुरुष भी विचार कर निर्णय कर सकेंगे। प्राचीन आर्य्य जातिकी उदारता, सरलता, सत्यप्रियता, साहसिकता, शिष्टाचार, सदाचार, दया, परोपकारवृत्ति आदि सभी दैवी सम्पत्तियाँ संसारमें आदर्श रूप हैं। मनुजीने अपनी संहितामें लिखा है:—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

भारतमें उत्पन्न आर्य्य ब्राह्मणोंके पाससे ही पृथिवीकी अन्यान्य जातियोंको चरित्रका आदर्श ग्रहण करना चाहिये। इसकी पूर्णता भारतके इतिहास पाठ करनेसे मालूम होती है। केवल मनुजीकी ही बात नही, अनेक विदेशीय भारत-भ्रमणकारी लोगोंने भी आर्य्यजातिके अपूर्व चरित्र व मानसिक उन्नतिके विषयमें हाथ उठाकर बार बार ऐसाही कहा है। पाश्चात्य पण्डित चसारने सत्यधर्म्मको सकल धर्मसे श्रेष्ठ कहा है और हिन्दु शास्त्रमें:—

नाऽस्ति सत्यात्परो धर्म्मः।

कह कर सत्यकी ही प्रतिष्ठा की है। आर्य्यजातिकी सत्यवादिताके विषयमें द्वितीय शताब्दिके ऐतिहासिक परियान साहब आदिने भी कहा है:—"मैंने कभी किसी आर्य्यको मिथ्या कहते हुए नहीं सुना है।" ग्रीक ऐतिहासिक ष्ट्राबोने कहा है:—"आर्यगण ऐसी उत्तम प्रकृतिके मनुष्य हैं कि चोरीके भयसे उनके दरवाजे पर ताला नहीं लगाना पड़ता और उन्हें किसी कार्यके लिये इकरार नामा नहीं लिखना पड़ता है।" चीन देशीय प्रसिद्ध भ्रमणकारी हुयेनसां ने

कहा है:—"सच्चरित्रता वा सरलताके लिये आर्यजाति चिरकालसे प्रसिद्ध है । वे लोग कभी अन्यायसे किसीकी धन सम्पत्ति आत्मसात् नहीं करते । और न्याय की मर्यादा-रक्षार्थ त्याग स्वीकार करनेमें कुछ भी कुण्ठित नहीं होते । " त्रयोदश शताब्दिके भ्रमणकारी मार्कोपोलोने भारतवर्षीय ब्राह्मणोंकी सत्यनिष्ठाको देखकर कहा था कि पृथ्वीमें ऐसी कोई वस्तु नही है जिसके लोभसे ब्राह्मण मिथ्या भाषण कर सक्ता है। विचारपति कर्नल शिलम्यान् साहवने 'कहा है:—"मैंने सैकड़ों मुकद्दमोंका विचार करते हुए देखा है कि जहां पर एक शब्द मिथ्या वोलनेसे किसीकी प्राणरक्षा वा सम्पत्तिरक्षा आदि हो सक्ती है, वहां पर भी वादी या प्रतिवादीके वशवर्त्ती हो आर्य-सन्तानने मिथ्या कहना पसन्द नहीं किया है ।" और लोगोंकी तो वात ही क्या है, भारतवर्ष के प्रथम गवर्नर जनरल वारन हेस्टिङ्गस साहिवने भी पार्लियामेन्टमें साक्षी प्रदानके समय हिन्दुओंको विनयी, परोपकारी, कृतज्ञ, विश्वासी व स्नेहशील कहकर प्रशंसा की है। अध्यापक यूलियमस् साहिवने कहा है:—" यूरोपकी कोई भी जाति भारतवासियोंकी तरह धर्मपरायण नहीं है ।" प्रोफेसर मोक्षमूलरने कहा है:—"आर्यजातिमें सत्य प्रियता ही सवसे उत्कृष्ट ज़ातीय लक्षण है"। किसीने इस जातिको "असत्य" का लाञ्छन नही लगाया है। ग्रीस देशके प्रसिद्ध सिकन्दर शाह भारतसे जाते समय मेगास्थिनीज नामक जिस दूतको यहांकी रीति नीति पर्यवेक्षण करनेके लिये छोड़ गये थे, उसने आर्यजातिके विपयमें कहा है:—" आर्यजातिमें दासत्वभाव विलकुल नहीं है, इनकी स्त्रियोंमें पातिव्रत्य और पुरुषोंमें वीरता असीम है। साहसिकतामें आर्यजाति पृथ्वीभर की अन्य जातियोंसे श्रेष्ठ है, परिश्रमी, शिल्पी व नम्रप्रकृति है । यह कदापि अदालतोंमें मुकद्दमे नहीं करती और शान्तिके साथ परस्पर मिलकर वास करती है।" विख्यात ऐतिहासिक अवुल फजलने कहा है:—"हिन्दुगण धर्मपरायण, मधुरस्वभाव, अतिथिसेवी, सन्तोपी, ज्ञानप्रिय, न्यायशील, कार्यदक्ष, कृतज्ञ, सत्यपरायण और वहुत ही विश्वस्त होते हैं। " इस प्रकार प्राचीन इतिहासोंकी चर्चा करनेसे प्राचीन आर्यजातिके मधुर व पूर्ण चरित्र का परिचय मिलता है। जिस समय पृथ्वीकी अन्यान्य जातियाँ असभ्यताके घोर अन्धकारमें डूबी हुई थीं, उस समय भारतवर्पमें सभ्यताकी ज्योति सर्वत्र फैली हुई थी और उसी ज्योतिको लेकर ही मनुजीके कथनानुसार

पृथ्वीकी अन्यान्य जातियाँ सभ्यता वा उन्नतिको प्राप्त हुई हैं। दृष्टान्त रूपसे समझ सकते हैं कि खृष्ट जन्मके ५५ वर्ष पूर्व जब पराक्रान्त जुलियस सीजर ब्रिटनद्वीपको अधिकृत करनेके लिये आये थे, तब उन्होंने यह देख कर दुःख किया था कि वे जहांपर अधिकार करनेको आये हैं वहां के लोग पशुतुल्य हैं। कच्चामांस खाना, भूगर्तमें रहना, वृक्ष शाखाओंमें विहार करना, विविध रङ्गोंसे शरीर रञ्जित करना ये सब उनके आचार हैं। उनकी भाषा भी पशुओंकी तरह है। परन्तु जब वीर चूड़ामणि सिकन्दर शाह जुलियस सीजरके तीन सौ वर्ष पहिले भारत विजयार्थ पञ्जाबमें आये थे, तब वे यह देखकर चकित हुए कि अपने देशमें रहते समय जिस आर्य-जातिको वे हीनवीर्य वा असभ्य समझा करते थे वह जाति ग्रीक जातिकी शिक्षागुरु है। उन्होंने राजा पोरसके साथ संग्राममें समझ लिया था कि आर्यजातिके समान वीर जाति संसारमें कोई नही है। उनका वीरत्व, वेष, भूषण, स्वाभाविक अपूर्व सौन्दर्य, दयाशीलता, निर्भयता, आतिथ्य वृत्ति, धर्मबुद्धि आदि गुणसमूह मनोमुग्धकर हैं। उनकी भाषा मन्दाकिनी के मृदुमन्द नादकी तरह अतिमधुर है। इस प्रकार हजारों प्रमाण मिलते हैं जिनसे प्राचीन आर्यजातिकी गुणगरिमाका सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित होना सिद्ध होता है।

जिस जातिका नैतिक जीवन जितना उच्च होता है उसकी राजनीति भी उतनी ही उत्कृष्ट होती है इसमें कोई सन्देह नहीं है। प्राचीन आर्यजातिके चरित्रको देखकर ही उसके राजकीय शासनको समझ सकते हैं। हरवर्ट स्पेन्सरने कहा है कि प्रजाकी चरित्र-सम्बन्धीय उन्नति को देखकर राज्य-शासन प्रणालीके उत्कर्ष या अपकर्षका पता लगता है। शास्त्र में भी कहा है :—

राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः ।
राजानमनुवर्त्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः ॥

राजाके धार्मिक होनेसे प्रजा धार्मिक होती है, पापी होनेसे प्रजा पापी होती है और समभावापन्न होनेसे प्रजा समभावापन्न होती है। प्रजा राजाका ही अनुकरण करती है और राजाके तुल्य प्रकृतिवाली होजाती है। जब पूर्व प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि आर्यजाति मिथ्यावाद, चोरी व अदालतमें जाना तक नहीं जानती थी तो इससे अधिक उत्कृष्ट राजानुशासनका परिचय और क्या मिल सकता है ? आयरलैण्डके प्रसिद्ध पलिटिशियन एड्मण्ड वर्क साहबने

कहा है कि प्रजाकी संख्या व धन-सम्पत्तिको देख कर ही राजानुशासनकी परीक्षा होती है। यदि इस बातकी ही परीक्षा ली जाय, तौभी आर्यजाति इसमें श्रेष्ठ निकलेगी; क्योंकि आर्यजातिकी संख्या व सम्पत्ति प्राचीन कालमें अतुलनीय थी। प्रोफेसर म्याक्स उक्कार व टेसियसने कहा है कि पृथ्वीकी सब जातियोंकी जितनी जनसंख्या होती है, एकही आर्यजातिकी उतनी जनसंख्या है और सम्पत्तिके विषयमें तो भारत स्वर्णभूमिके नामसे चिरप्रसिद्ध ही है। अतः यदि बर्क साहबकी राय मानी जाय तौभी प्राचीन आर्यजातिमें शासनप्रणालीकी पूर्णता प्रमाणित होती है। वास्तवमें राजाका जो लक्षण है सो प्राचीन आर्यजातिमें ही प्राप्त होता था। जिस जातिमें राजा अपनी प्रजाको पुत्रवत् देखते थे, जिस जातिमें राजा प्रजाकी धन सम्पत्तिको अपने विषय-विलासका उपकरण न समझ कर अपनेको उनकी सम्पत्तिका रक्षक मात्र समझते थे, जिस जातिमें राजा प्रजारञ्जनके विना अपने जीवन व राजकार्यको व्यर्थ समझते थे, जिस जातिमें राजा केवल प्रजाको सन्तुष्ट करनेके लिये अपनी निरपराधिनी प्रतिव्रता स्त्रीको घोर अरण्यमें त्याग कर सकते थे, उस जातिमें राजकीय शासन-प्रणाली किस प्रकारकी पूर्णतासे सुशोभित थी सो विचारवान् पुरुष ही सोच सकते हैं। महाभारतमें जो राजधर्मके विषयमें वर्णन किया गया है, शुक्राचार्यने जो राजनीति बताई है और मनुजीने जो राजशासनके लिये नीति बनाई है, पृथ्वी भरमें इनकी तुलना कहीं नहीं मिलती। प्रोफ़ेसर विलसन साहबने मनुजीके कानूनके विषयमें कहा है:—"इस प्रकारका कानून जिस जातिमें बनाया जा सकता है वह जाति सामाजिक सभ्यता व अनुशासनकी पराकाष्ठा तक पहुँची हुई थी इसमें कुछ भी सन्देह नहीं हो सकता"। 'बाइबल इन इण्डिया' में लिखा है कि मनुस्मृति ही मिश्र, ग्रीस व रोमके कानूनोंकी भित्तिरूप है और पश्चिमी देशोंमें मनुस्मृतिका प्रभाव सभी लोग अनुभव करते हैं। डाक्टर राबर्टसन साहबने कहा है:—"मनुकी राजनीतिके देखनेसे प्रतीत होता है कि पृथ्वीमें सर्वोत्तम सभ्यजाति ही इस प्रकार कानून बना सकती है। सूक्ष्मविचार, गम्भीर गवेषणा, न्यायपरता, स्वाभाविक धर्मप्रवृत्ति व धर्मानुशासन इत्यादिकी विशेषता रहनेसे मनुजीकी नीति पाश्चात्य राजनीतिसे अनेक अंशोंमें उत्कृष्ट है।" सर चार्लस मेटकाफ साहबने कहा है:—"आर्य राजनीतिका प्रभाव केवल समष्टि राज्यमें ही नहीं पड़ता था; अधिकन्तु उसीके प्रभावसे ग्राम ग्राममें प्रजातन्त्र प्रणालीकी ऐसी अच्छी व्यवस्था बन गई थी

कि वे लोग परस्परमें ही सब राजनीतिके निर्णय कर लिया करते थे। जिससे उनको बड़ी अदालतोंमें कभी आना ही नहीं पड़ता था और इस प्रकारकी विराट् राजशक्तिके अधीन होने पर भी वे व्यष्टिरूपसे स्वतन्त्र व सुखी रहा करते थे। येही सब प्राचीन आर्यजातिमें राजशासन-प्रणालीकी पूर्णताके लक्षण है।

स्वाधीन जाति मात्र ही वीरताका आदर करती है और देशके कल्याणके लिये जीवन उत्सर्ग करनेमें परम गौरव समझती है; परन्तु प्राचीन आर्यजातिमें यह पूर्णताका ही लक्षण है कि उसकी वीरताके साथ अपूर्वता व धर्मभाव भरा हुआ था। प्राचीन आर्य-जाति आधुनिक पाश्चात्य जातिकी तरह मदोन्मत्त होकर व धर्मको तिलाञ्जलि देकर युद्ध नहीं करती थी; किन्तु धर्मका विजय व अधर्म्मका पराजय करना प्राकृतिक नियम व भगवदाज्ञा है, इसलिये उसीमें निमित्त मात्र बनकर सहायता करनेके लिये युद्ध करती थी। भीष्म पितामह व द्रोणाचार्य दुर्योधनके अन्नसे प्रतिपालित हुए थे, इसलिये उनका उनके पक्षमें होकर युद्ध करना धर्मानुकूल था; परन्तु दुर्योधनके अधार्मिक होनेके कारण उसका नाश भी धर्मानुकूल था। इसलिये भीष्म पितामह व आचार्य द्रोणने पाण्डवोंके विरुद्ध लड़ाई करने पर भी उनको अपनी मृत्यु कैसे हो सकती है सो बता कर धर्मका विजय कराया था। दुर्योधन पाण्डवोंका परम शत्रु था तथापि जिस समय युद्धमें विजयी होनेके लिये क्या युक्ति है इसके जाननेके लिये दुर्योधन युधिष्ठिरके पास आए तो युधिष्ठिरने अपने ही नाशका उपाय दुर्योधनको अकपट चित्तसे बता दिया था। 'अश्वत्थामा मर गये हैं' इसी एक मिथ्या वाक्यके कहनेसे द्रोणाचार्यकी मृत्यु होगी, इसलिये जब युधिष्ठिरको मिथ्या कहनेका परामर्श दिया गया तो उन्होंने उत्तर दिया:—"इन्द्रप्रस्थका राज्य तो सामान्य है, यदि स्वर्गका राज्य व ब्रह्मलोक भी मिल जाय तथापि युधिष्ठिर मिथ्या कभी नहीं कहेगा।" ऐसे अनेक आदर्श मिलते हैं, जिनसे प्राचीन आर्यगणमें धर्मानुकूल वीरताका लक्षण प्रमाणित होता है। आर्यजातिमें स्थूल सम्पत्तिको लेकर संग्रामका कारण उपस्थित होने पर भी चित्तकी उदारता नष्ट नहीं होती थी। धार्मिक पाण्डवों पर दुष्ट कौरवोंने संसार भरमें ऐसा कोई अत्याचार व नृशंसता नहीं है जिसका प्रयोग नहीं किया था; परन्तु ज्येष्ठ, आत्मीय सदा ही पूज्य है इसलिये प्रतिदिन युद्धके अन्तमें पाण्डवगण जन्मान्ध धृतराष्ट्रको प्रणाम करनेको जाया करते थे और दुर्योधनकी स्त्रियाँ

जिस समय तीर्थयात्रामें विपद्ग्रस्ता हो गई थी, उस समय समस्त पाण्डवोंने मिलकर उनकी रक्षा की थी। निरस्त्र शत्रुपर प्रहार करना व निर्बल शत्रु पर अत्याचार करना और अन्याय्य रीतियोंसे युद्ध करना आर्यजाति स्वप्नमें भी नहीं जानती थी एवं जहाँ पर आर्यजातिमें इस उदाहरण व महत्वके विरुद्ध कोई भी कार्य हुआ है, तो उसकी बड़ी भारी निन्दा की गई है। प्रसङ्गोपात्त आर्य्य-जातिके शस्त्रप्रयोगका एक इतिहास कहना उचित समझा गया। अर्जुनने खाण्डव दहन करते समय मय नामक दानवराजका प्राण बचाया था। उस समय कृतज्ञताका परिचय देनेके लिये दानवराज मयने अर्जुनसे कहा कि मेरे पास जो अलौकिक दानवास्त्र हैं, मैं आपको अपने प्राण बचानेके बदलेमें देकर कृतकृत्य होना चाहता हूँ। पश्चात् अर्जुन द्वारा उक्त दानवास्त्रों-का फल पूछने पर मय दानवने उत्तर दिया कि ये अस्त्र ऐसे अलौकिक हैं कि इनके द्वारा आकाशमें उड़कर वा अदृश्य होकर शत्रुका नाश किया जा सकता है, जलमें डूबकर अदृश्य होकर शत्रुओंका क्षय हो सकता है, शत्रुके सम्मुख न जाकर अतिदूरसे शत्रुका नाश हो सकता है इत्यादि। इन लक्षणोंको सुनकर अर्जुनने अस्त्रोंकी प्रशंसा की। परन्तु यह कहा कि हम आर्य्य हैं, ये सब अनार्य्य-सेवित अस्त्र हमारे काम नहीं आ सकते, इस कारण हम इनके सीखनेके अनि-च्छुक हैं इत्यादि। इस इतिहाससे स्पष्ट ही प्रमाणित होगा कि आर्य्यगण किस प्रकारके धर्म्मलक्ष्ययुक्त युद्धके पक्षपाती थे और अद्भुत और अलौकिक शक्ति-विशिष्ट होने पर भी दानव-सेवित्त अस्त्रोंके प्रयोग करनेमें भी अधर्म्म समझते थे।

आर्य्योंके दिव्यास्त्र कैसे थे उसका कुछ कुछ वर्णन पुराणोंमें मिलता है। मंत्र विनियोगके भेदसे ब्राह्मणोंके कामके लिये और क्षत्रियोंके कामके लिये वे विभिन्न रूपसे काममें आते थे। मन्त्रकी सहायतासे क्षत्रियोंके विभिन्न अस्त्र अलौकिक शक्तियुक्त हो जाते थे। ब्राह्मणगण उन्हीं मन्त्रोंके द्वारा साधन शैली और विनियोगके भेदसे अन्तर्राज्यकी सहायतासे स्तम्भन, मोहन, वशीकरण, पीड़ा व ग्रहदोष आदिसे रक्षण इत्यादि अलौकिक कार्य्य किया करते थे। रामायण व महाभारत आदि ग्रन्थोंमें वर्णित क्षत्रियोंके दिव्यास्त्रोंकी अलौकिक शक्तिका वर्णन कविकल्पना नहीं है। उनकी वर्णन शैलीके मूलमें अलौकिक सत्य निहित है। यद्यपि उन मन्त्रयुक्त अस्त्रोंकी साधन प्रणाली इस समय प्रायः लुप्त होगई है, तथापि अभी तक दिव्यास्त्रके पद्धति-ग्रन्थ भारतवर्षमें कहीं

कहीं मिलते हैं। आर्य-जातिके युद्धमें वीरताकी पराकाष्ठा थी, आर्य-जाति केवल क्षुद्र ऐहलौकिक स्वार्थके लिये नहीं लड़ती थी किन्तु धर्म-युद्धमें आत्म-बलिदान करके उत्तरायण गतिके द्वारा अनन्त दिव्यसुख लाभ करनेके लिये लड़ाई करती थी। मनुसंहितामें कहा है:—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाऽभिमुखो हतः॥

परिव्राजक योगी और सम्मुख रणमे जीवनोत्सर्ग करने वाले वीर पुरुष दोनों ही उत्तरायण गतिको प्राप्त करते हैं। गीता में कहा है:—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।

लड़ाईमें मर जाने पर स्वर्गलाभ होगा और जीत होने पर स्वराज्य मिलेगा। इस प्रकारके शास्त्रोक्त उपदेशके अनुसार आर्यजाति वीरताके साथ देश व धर्मके लिये लड़ती थी, आर्य और उनकी सहधर्मिणियोंका परलोक पर पूर्ण विश्वास था, वे जानते कि सम्मुख मृत्यु व सहमरणके बाद दोनों ही अक्षय स्वर्गलाभ व आनन्दोपभोग कर सकेंगे। इसलिये आर्य वीरोंको मरनेमें डर नही था, वे खटिया पर सोके मरना निन्दनीय समझते थे और युद्धमें मरना ही परम पवित्र व आर्य जनोचित समझते थे। और उनकी स्त्रियाँ भी उनके साथ सहमृता होती थी। स्वदेशहितैषिताका भाव उनके रोम रोममें घुसा हुआ था। स्व-देश व स्वधर्म्म सेवाको भगवत्-पूजा समझकर निष्काम कर्मयोगके द्वारा वे आत्माकी उन्नति साधन करते थे और तभी प्राचीन कालमें भारतकी वह शोभ-नीय गौरव गरिमा दिग्दिगन्तमें परिव्याप्त थी। केवल प्राचीन आर्यजातिमें ही नही, उसकी उस गौरव रविकी प्रज्वलित रश्मिने अतीतकी अमानिशाको भेद करके वर्त्तमान आर्यजीवनको भी उद्भासित किया है। अभी थोड़े ही दिन हुए मेवाड़के पुण्यश्लोक महाराणा प्रताप प्रमुख राजपूत वीरगण तथा राठोर दुर्गादास व मेवाड़के पृथ्वीराज आदि वीरोंने भारतमाताकी मुखच्छविको अपनी प्रतिभा व वीरतासे जिस प्रकार उज्ज्वल किया है, पृथ्वी भरके इतिहासमें भी ऐसा दृष्टान्त विरल है। यही प्राचीन आर्य्यजातिमें धर्ममूलक वीरताका दृष्टान्त है, जिसका विशेष वर्णन आगेके किसी अध्यायमें किया जायगा।

केवल वीरता ही नहीं अधिकन्तु युद्ध-विद्याकी भी पूर्णोन्नति प्राचीन आर्यजातिमें हुई थी। प्राचीन धनुर्वेदमें जिस प्रकार अद्भुत अस्त्रशस्त्रोंका

वर्णन देखनेमें आता है उनका प्रयोग करना तो दूरकी बात है, उनके रहस्योंको समझना और उनपर विश्वास करना भी आज कल कठिन हो गया है। नागपाश, शक्तिशेल, सम्मोहन, अग्निबाण, वारुणास्त्र आदिमें वैद्युतिक शक्ति तथा दैवीशक्तिका सञ्चार करके उनके द्वारा मूर्च्छा आदि किस प्रकार उत्पन्न किया करते थे सो आर्यजाति आज कल भूल गई है और पाश्चात्य जातियोंने भी आज तक उनका रहस्य-भेद नहीं पाया है । विलसन् साहेबने कहा है कि बाणनिक्षेप विद्यामें प्राचीन आर्यजाति अद्वितीय थी। एक दम कई बाण निक्षेप करना, निक्षिप्त बाणको लौटा लाना, बाणकी कई प्रकारकी वैद्युतिक शक्ति द्वारा शत्रुको कभी मूर्च्छित, कभी मुग्ध, कभी दग्ध आदि कर देना यह सब प्राचीन आर्यजातिमें युद्ध-विद्याकी पूर्णताका लक्षण था । द्रौपदीके स्वयम्वर में अर्ज्जुनकी बाणविद्या, कुरुक्षेत्रके युद्धमें भीष्म, द्रोण व कर्णकी अद्भुत अस्त्र-चालनविद्या, राम रावणके युद्धमें राम, रावण व मेघनादकी विचित्र रहस्यमय शक्तिशेल, सम्मोहन, वारुणास्त्र, पाशुपतास्त्र, गरुड़ास्त्र नागपाशास्त्र आदि अस्त्र-विद्याएँ संसारमें अतुलनीय और आधुनिक जगत्में स्वप्नस्मृतिवत् हो रही हैं। परन्तु प्राचीन आर्यजातिमें येही विद्याएँ पराकाष्ठा तक पहुँच गई थीं। तलवारके चलानेमें आर्यजाति जिस प्रकार निपुण थी वैसी कोई भी जाति संसारमें निपुण नहीं थी। प्रसिद्ध टेसिया साहबने भारतवर्षीय तलवारको समस्त संसारके शस्त्रोंसे अच्छा कहा है। मुसलमान लोग राजपूत वीरोंकी तलवारसे इतना डरते थे कि उनके ग्रन्थोंके पत्र पत्रमें इसका इतिहास मिलता है। पृथिवी विजयी महावीर अलकजण्डर भारतविजयके लिये यहां आकर पहिले तो महावीर राजा पुरुकी वीरताको देख मोहित होगये और पीछे मगध सम्राट्के सेनाबलको देखकर भारतवर्षसे भाग ही गये। हण्टर साहबने कहा है:—"सैन्यचालना, सैन्यसन्निवेश; सैन्योंका विविध व्यूहोंके रूपसे युद्धक्षेत्रमें संरक्षण, व्यूहरचना आदि युद्धविद्याका वर्णन महाभारतमें अनेक स्थानोंमें पाया जाता है जिससे सिद्ध होता है कि प्राचीन आर्य्यजातिमें इस विद्याकी कोई भी कमी नहीं थी।" उनके सैन्यसन्निवेशकी प्रक्रिया उरस, कक्षा, पक्ष, प्रतिग्रह, कोटी, मध्य, पृष्ठ आदि रूपसे विभक्त थी। उनकी व्यूहरचनामें जो अद्भुत कौशल था सो आज कलके क्या पाश्चात्य क्या एतद्देशीय कोई भी नहीं जानते हैं। कुछ व्यूहोंके नाम उनके आक्रमणके अनुसार हुआ करते थे। यथा मध्यभेदी अन्तर्भेदी इत्यादि। कोई कोई व्यूह वस्तुसादृश्यके

अनुसार हुआ करते थे। यथाः—मकरव्यूह, श्येनव्यूह, शकटव्यूह, अर्द्धचन्द्र, सर्वतोभद्र, गोमूत्रिका, दण्ड, मण्डल, असंहत इत्यादि। कुरुक्षेत्रके युद्धका महाभारतमें वर्णन है कि युधिष्ठिर अर्जुनको (मेसिडोनियन व्यूहकी तरह) सूचीमुख व्यूह निर्माण करनेको कह रहे हैं और अर्जुन वज्रव्यूह रचना ठीक होगी ऐसी प्रार्थना कर रहे हैं और इसी कारण अपनी रक्षाके लिये दुर्योधन अभेद्यव्यूहकी आज्ञा कर रहे हैं। इन वर्णनोंसे ज्ञात होता है कि प्राचीन कालमें आर्यजातिने युद्ध विद्यामें पूर्ण उन्नति प्राप्त की थी। किसी किसी अर्वाचीन पुरुषका यह सन्देह है कि जब आर्यजाति बन्दूक व तोपका व्यवहार नहीं जानती थी, तो उनमें युद्ध विद्याकी उन्नति कैसे हो सकती है। परन्तु आर्यजातिके प्राचीन इतिहास पर दृष्टिपात करनेसे उनका यह सन्देह मिथ्या प्रमाणित हो जायगा। जब प्राचीन भारतके अनन्त अस्त्र शस्त्रोंमें नालास्त्र व शतघ्नी आदिका वर्णन देखते हैं और बड़े बड़े युद्धोंमें उन सब अस्त्रोंका प्रयोग भी देखते है, तो प्राचीन आर्यजातिकी युद्धविद्याके विषयमें इस प्रकारका संदेह करना सर्वथा निर्मूल है। आर्यजातिके प्राचीन ग्रन्थोंके देखनेसे प्रमाणित होता है कि वे तोपको शतघ्नी, बन्दूकको नालास्त्र, बारूदको उर्व्वघ्नी और गोलाको गुड़क कहा करते थे। बारूद उर्व्व नामक ऋषि द्वारा आविष्कृत होनेसे उसका नाम उर्व्वघ्नी था। यद्यपि इन शब्दोंका व्यवहार अन्य प्रकारके अर्थोंमें भी पाया जाता है तथापि अनेक स्थानोंमें इन चारों शब्दोंका व्यवहार तोप, बन्दूक, गोला और बारूदके लिये ही हुआ है। इस प्रकारके युद्धयन्त्र आर्य्यजातिके युद्धमें व्यवहृत होते थे इसमें सन्देह नहीं। आर्य्यधर्म्ममें बाधा न हो, आर्य्यशस्त्र अनार्य्यशस्त्र न बन जायँ और धर्मयुद्धका ढंग बदल कर वह अधर्मयुद्ध न बन जाय केवल इसी लक्ष्यसे ऐसे यन्त्रोंकी विशेष उन्नतिकी ओर आर्य्यजातिने विशेष लक्ष्य नहीं डाला था ऐसा विज्ञजनोंका सिद्धान्त है।

उर्व्वघ्नीप्रोथितां कृत्वा शतघ्नीं गुडकैर्युताम्।

बारूद व गोलेसे भरकर युद्धमें तोप चलाई गई। इन सब प्रमाणोंसे प्राचीन कालमें बन्दूक, तोप आदि अस्त्र व्यवहृत होते थे, यह सिद्ध होता है। यह बात यथार्थ है कि मुसलमानोंके आक्रमणसे पूर्व्ववर्त्ती आर्य्यगण इस प्राचीन युद्ध विद्याको प्रायः भूल गये थे क्योंकि यह तो सर्व्ववादिसम्मत है कि महाभारतके महायुद्ध और बौद्धगणके महाविप्लव द्वारा भारत श्मशानप्राय होगया था और इसी कारण परवर्त्ती मनुष्यगण सब क्रियासिद्ध विद्याओंको भूल

गये थे; तथापि इधरके इतिहासपर विचार करनेसे भी पता लगता है कि आर्यगणमेंसे यह विद्या सम्पूर्ण नष्ट नहीं होगई थी । सम्राट् पृथ्वीराजके समयमें तोपोंका व्यवहार था इसका प्रमाण उनके जीवनचरित्रके इतिहासमें पाया जाता है । यथाः—

जंबूर तोप छुटहि झनंकि ।
दशकोश जाय गोला भनंकि ॥

जम्बूर व तोप झंझनाती हुई छूटी और उनका गोला शब्द-करता हुआ दस कोस तक पहुँचा । प्रसिद्ध गङ्गाकी नहर खोदते समय सर आर्थर कट्लि साहवने उत्तर पश्चिम प्रदेशमें पृथ्वीमध्यस्थित एक वृहत् नगरका ध्वंसावशेष पाया था और उसमें कई एक तोपें भी मिली थीं जिससे उक्त साहवने यह सिद्धांत निश्चय किया कि प्राचीन भारतवासिगण तोपका व्यवहार जानते थे । प्रोफेसर विल्सन साहवने कहा है कि हिन्दुओंके चिकित्साशास्त्रके पाठ करनेसे पता लगता है कि वे वारूद प्रस्तुत करना जानते थे और उनके ग्रन्थोंमें भी इसके प्रयोगका वृत्तान्त वहुधा मिलता है । मैफी साहवने कहा है कि भारतवासिगण पुर्तुगीज् लोगोंकी अपेक्षा तोप आदि आग्नेय अस्त्रोंका प्रयोग विशेष जानते थे । ग्रीस देशके थेमिसटियसने तथा महावीर अलेक्-जण्डरने एरिस्टटल्को पत्र लिखते समय लिखा है कि उनकी सेनाओंके ऊपर हिन्दुओंने भीषण तोपोंके गोलोंका अजस्र वर्षण किया । शास्त्रोंमें शतघ्नीका ऐसा वर्णन मिलता है कि यह आग्नेयास्त्र लोहेसे वनता है, उसका आकार वड़े वृक्षके स्कन्ध की तरह होता है । वे दुर्गके ऊपर चढ़ाये जाते हैं और युद्धक्षेत्रमें भी लाये जाते हैं । इनके शब्द वज्रकी तरह होते हैं । इन सव वर्णनोंसे प्राचीन कालमें तोपका व्यवहार होना प्रमाणित होता है । इण्डियन् गवर्णमेण्टके फरेन् सेक्रेटरी ईलियट साहवने भारतीय आग्नेयास्त्रोंके विषयमें चर्चा करते समय कहा है कि साल्टपिटर जो कि वारूदका एक प्रधान मसाला है और गन्धक जो कि उसके साथ मिलाया जाता है दोनों ही भारतवर्षमें अजस्र मिलते हैं और मेरा यह सिद्धान्त है कि प्राचीनकालमें भारतवासिगण इस प्रकार बारूद व तोपका व्यवहार जानते थे । उनके मकान व फाटकके सामने ऐसी चीजें रक्खी जाती थीं और उनमें दूरसे आग लगाई जाती थी । इसके सिवाय आग लगने पर फट जाने वाले भी अनेक अस्त्रोंका हिन्दुलोग प्रयोग करते थे । इत्यादि अनेक प्रमाणोंसे प्राचीन कालमें तोपोंका व्यवहार और मुसल-

मान राज्यके समय पर्यन्त भी कहीं कहीं तोपोंका व्यवहार सिद्ध होता है। अस्त्र युद्धके सिवाय जल युद्ध व आकाश युद्धमें भी प्राचीन आर्यगण विशेष निपुण थे, इसका प्रमाण शास्त्रोंसे मिलता है। ऋग्वेदके प्रथम मण्डलके ११६ सूक्तमें वर्णन है कि राजर्षि तुग्रने अपने पुत्र भुज्युको ससैन्य समुद्रपथमें दिग्विजय करनेके लिये भेज दिया। इससे प्राचीन कालमें जलयुद्ध का भी निश्चय हुआ। कर्नेल टाड् व ग्रावो साहबने कई स्थानोंमें कहा है कि प्राचीन कालमें आर्यगण जलयुद्धमें विशेष निपुण थे। क्योंकि समस्त संसारव्यापी वाणिज्यश्रीकी रक्षाके लिये उनको सदा ही जलसैन्य, अर्णवपोत आदि रखने पड़ते थे। फरिया साउजाने कहा है कि खीष्टीय १५०० शताब्दीमें एक गुजराती जहाजने पुर्त्तुगीजोंके प्रति अनेक तोपें चलाई थीं। १५०२ में हिन्दुओंने कलिकटमें युद्धके जहाजसे काम लिया और दूसरे वर्ष जामोरिन् जहाजके द्वारा ३८० तोपें लाई गई थीं। आकाशयुद्धके विषयमें प्राचीन इतिहासमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। रावणका पुष्पक विमान पर चढ़कर दिग्विजय करना, इन्द्रजित्का आकाश मार्गसे रामचन्द्रकी सेना पर अजस्र बाण वर्षण करना इत्यादि इत्यादि अनेक प्रमाणोंके द्वारा विमान-विद्यामें प्राचीन आर्यजातिकी पारदर्शिता सिद्ध होती है। कुछ दिन पहले जब बेलून व एरोप्लेन आदि खेचर यन्त्रोंका आविष्कार नहीं हुआ था, तब लोग हिन्दुओंके पुराणादि ग्रन्थोंमें आकाशयानोंका वर्णन देखकर हँसा करते थे। परन्तु भगवान्की कृपासे आज नवीन जेप्लिन और एरोप्लेन आदिके आविष्कारके द्वारा अर्वाचीन लोगोंका वह भ्रम दूर होगया है और प्राचीन आर्यजाति किस प्रकार सूक्ष्म युद्ध-विद्यामे निपुण थी इसको सोच कर वे चकित हो रहे हैं। यही सब प्राचीन आर्यजातिमें युद्ध-विद्याकी पूर्णताका परिचायक है।

ऊपर लिखे हुए आर्यगौरवके लक्षणोंके अतिरिक्त प्राचीन आर्य-इतिहास पाठ करनेसे सिद्धान्त होगा कि पृथिवीमें मनुष्यजातिकी सर्वतोमुखिनी पूर्णता सम्पादन करनेके लिये जितने प्रकारकी विद्याओंमें उन्नति होनी चाहिये प्राचीन आर्यजातिने उन सभीमें उन्नति प्राप्त की थी। क्या भाषाकी उन्नति और क्या भावकी उन्नति; क्या शिल्पकी उन्नति और क्या सङ्गीत आदिकी उन्नति; क्या ज्ञानकी उन्नति और क्या विज्ञानकी उन्नति; क्या शारीरिक रोग-विज्ञान रूपी चिकित्सा-शास्त्रकी उन्नति और क्या भवरोग-विज्ञान रूपी अध्यात्म शास्त्रकी उन्नति; क्या वाणिज्य आदिके द्वारा धनकी उन्नति और क्या सर्वत्र

गमनागमनके द्वारा व्यावहारिक ज्ञान व अभिज्ञता की उन्नति, सभी विषयोंमें प्राचीन आर्यजातिकी उन्नतिकी पराकाष्ठा होगई थी। इसको ऐतिहासिक पाश्चात्य व एतद्देशीय सभी लोग, एकवाक्य होकर स्वीकार करते हैं। अब नीचे इन विषयोंका पृथक् पृथक् वर्णन संक्षेपसे किया जाता है। पृथिवी की और सब भाषाओंका नाम भाषा है परन्तु केवल आर्यजातिकी भाषाका नाम ही संस्कृत है। इसके समान मधुर, उन्नत, पूर्ण व हृदयग्राही भाषा संसारमें कहीं भी नहीं है। और देशोंकी भाषाओंके माधुर्य्यका अनुभव अर्थबोध होने पर होता है। परन्तु केवल संस्कृत भाषामें ही यह अपूर्वता देखनेमें आती है कि समझे या न समझे, श्रवणमात्रसे ही कर्ण व मन परितृप्त हो जाते हैं। अन्य देशोंकी भाषा व अक्षर कल्पनाके द्वारा बनाये हुए हैं; परन्तु संस्कृतभाषा सृष्टिकारिणी प्रकृति शक्तिके प्रतिस्पन्दनमें स्वभावतः विकाशको प्राप्त होती है। भाषा भावकी द्योतक है, परन्तु अन्य देशोंकी भाषाओंमें मानवप्रकृतिके सकल भावोंके विकाश करनेकी शक्ति नहीं है। केवल संस्कृत भाषा ही मानवप्रकृतिके सकल भावोंको पूर्णरूपसे विकसित कर सक्ती है। संस्कृतभाषाका अलङ्कार और व्याकरण जगत्में अतुलनीय है। संस्कृत भाषाकी पद्यमयी कविताशक्ति, जो कभी रणरङ्गिणी श्यामाकी तरह असुरदलन करती है और कभी लव कुशके कण्ठोंसे सुधाधारा का भी वर्षण कराती है। जो कभी रामगिरिमें विरही यक्ष का दौत्यकार्य करती है और कभी चक्रवाक चक्रवाकीके कण्ठसे विरह-संगीत का स्रोत बहाया करती है। जो कभी मन्दाकिनीके अमृतसलिलमें अवगाहन करके कल्पतरुकी छायामें विश्राम लाभ करती है और कभी ऋषिपत्नियोंके साथ आलवालोंमें जलसिंचन करती है। जो कभी वेदव्यासके चित्तमें जगत्कल्याणचिन्ताकी लहरें उठाती है और कभी वाल्मीकिकी वीणासे भुवनमोहन अनन्तरागप्रवाहोंको प्रवाहित करती है। यही संस्कृत भाषाकी पद्यमयी कविताशक्ति, संस्कृत भाषाकी शब्द बहुलता, संस्कृत कोशकी पूर्णता—जिसके सामने और सब भाषाएँ बालकवत् प्रतीत होती हैं—प्राचीन आर्यजातिकी अपार कृपाका ही फल है। जिसकी गौरवगरिमा अभागे भारतवासियोंसे आज विस्मृतप्राय होने पर भी गुणग्राहिणी पाश्चात्यजाति इसका अनुभव करके शतमुखसे आर्यऋषियोंकी प्रशंसा कर रही है।

संस्कृत भाषामें लिखनेकी प्रणाली भी ऐसी संस्कार-प्राप्त और उन्नत है कि बुद्धिमानगण थोड़े ही विचारसे जान सकेंगे कि यदि पृथिवी भरमें कोई

सम्पूर्ण लेखनप्रणाली हो तो वह देवनागरी लेखनप्रणाली ही है। सब भाषाओंके शब्द इन अक्षरोंमें लिखे जा सकते हैं, परन्तु जगत्में ऐसी कोई भी भाषा नहीं है जो संस्कृत शब्दको यथावत् लिख सके। संस्कृत भाषाकी पूर्णताके सिवाय इस भाषाकी एक विशेषता यह है कि यही भाषा जगत्की और सब भाषाओंकी जननी रूप है। विशेष प्रशंसनीय विषय यह है कि संस्कृतके आदित्वमें किसी देशके पण्डित सन्देह नहीं करते। भाषासे और समाजसे घनिष्ठ संवन्ध है। जिस जातिकी भाषा ऐसी उन्नतिको पहुँची थी, उसका समाज-बन्धन अति उत्तम होगा इसमें सन्देह ही क्या है। जीवसमाजका प्रथम बन्धन स्त्री और पुरुषका पारस्परिक संवन्ध है। उनमें परस्पर कैसा वर्ताव होना उचित है सो कामशास्त्रमें विस्तृतरूपेण वर्णित है। इस शास्त्रके वात्स्यायन आदि प्रधान आचार्य्यगणके ग्रन्थ पाठ करनेसे ही भलीभाँति जान पड़ेगा कि आर्य्य-जातिने इस विद्यामें उन्नतिको किस पराकाष्ठा तक पहुँचाया था। पुरुष और स्त्रीके कितने भेद हैं, उन भेदोंके क्या क्या लक्षण हैं, कैसे पुरुषसे कैसी स्त्रीका सम्बन्ध होना उचित है, स्त्री और पुरुषके पारस्परिक सम्बन्ध कैसे निभाने पर इहलोक और परलोकका सुख हो सकता है, कैसे उत्तम संतति उत्पन्न हो सकती है, कैसे एकाधारमें धर्म और कामकी प्राप्ति हुआ करती है इत्यादि नाना गंभीर विचारोंका ज्ञान इस शास्त्रसे होता है। यदि नवीन यूरोप आज दिन वहिर्जगत्की उन्नतिको धारण कर रहा है और अपने बराबर किसीको भी नहीं समझता है, तथापि जर्मनी, अमेरिका, इङ्गलैंड और फ्रांस आदि देशोंके विद्वान्‌गण महर्षि वात्स्यायन आदिके ग्रन्थोंको देखकर मोहित हो रहे हैं। समाजगठन सम्बन्धमें आर्य्यजातिने जितनी उन्नति की थी, आज दिन तक पृथिवीकी किसी जातिने वैसी नहीं की। नदी-स्रोतके अनुकूल यदि वायु प्रवा-हित हो तो नौका जितनी शीघ्र गन्तव्यस्थान पर पहुँच सकती है, उतनी शीघ्र और किसी उपायसे नही पहुँच सकती। भारतकी दिव्य और पूर्ण प्रकृतिसे एक तो भारतवासियोंकी प्रकृति ही पूर्ण थी और दूसरे आर्य्यगणके तप और योगयुक्तबुद्धिकी सहायता थी। दोनों अनुकूलताएँ एक साथ मिलकर उन्होंने भारतवासियोंकी सामाजिकता और भारतवासियोंके मनुष्यत्वको पूर्ण अवस्थामें पहुँचा दिया था, और इसी कारण आर्य्यजातिकी समाजपद्धति मानवजातिको पूर्णताको पहुँचा देनेके उपयोगी बनी थी। आर्य्यजातिका सदाचार, आर्य्यजातिकी चातुर्वर्ण्यविधि, आर्य्यजातिकी आश्रमचतुष्टयकी

व्यवस्था, आर्य्यजातिका शिक्षा और दीक्षाकौशल, आर्य्यजातिके पितृमातृ भक्ति, भ्रातृप्रेम, स्त्रीप्रीति, वात्सल्यस्नेह, अतिथिसेवा और जीवरक्षा आदि सद्गुण और आर्य्यनारियोंका त्रिलोक-पवित्रकारी सतीत्व व पतिपूजन तथा आर्य्यजातिका अपूर्व्व धर्मसाधन-विज्ञान इत्यादिसे ही आर्य्यजातिके समाजकौशल की श्रेष्ठताका प्रतिपादन हो रहा है। यह प्राचीन भारतके समाजविज्ञानका ही फल था कि यहाँके ब्राह्मणगण ज्ञानकी इतनी उन्नत अवस्थामें पहुँचे थे कि जिनकी शिष्यताको स्वीकार करके आज दिन जगत्की और और जातियाँ ज्ञान-राज्यमें विचरण कर रही हैं। यह प्राचीन भारतके समाजविज्ञानका ही फल था कि भारतमें श्रीरामचन्द्र, भीम और अर्जुन आदिके समान योद्धागणने उत्पन्न होकर लक्षों वर्षोंतक समस्त पृथिवी पर अपना अधिकार फैला रक्खा था। यह प्राचीन भारतके समाजविज्ञानका ही फल था कि जिससे भारतके वैश्योंके व्यापार और शूद्रोंके शिल्पकी उन्नति द्वारा पृथिवीमें भारत सर्वश्रेष्ठ और सबसे समृद्धिशाली राज्य समझा जाता था। आजकलके नवीन वैज्ञानिकगण मुक्त-कण्ठ होकर इस विषयको स्वीकार कर रहे हैं कि यह भारतका समाज बन्धन, वर्णविभाग और विवाहपद्धति (यथा स्वगोत्रा कन्याके साथ विवाह न करना, पात्रका वयःक्रम पात्रीके वयःक्रमसे न्यून न होना, असवर्ण विवाह न करना, धर्म-रीतिसे ही स्त्रीगमन करना इत्यादि) का ही फल है कि बहुकालकी भी आर्य्यजाति अभीतक ठहर रही है। प्राचीन ग्रीसजाति, इजिप्सियनजाति, ब्य-बिलोनियनजाति और रोमनजाति आदि अनेक प्रतापशाली जातियोंका नाम इतिहासमें पाया जाता है, परन्तु आज दिन उनका नाम ही नाम है, अन्य चिन्ह तकका लोप हो गया है। थोड़े थोड़े विप्लवसे ही इस संसारसे इन जातियोंका लोप हो गया है; परन्तु यह आदि आर्य्यजातिके समाज बंधनका ही फल है कि अगणित महाविप्लवोंको सहकर भी यह जाति अमर हो रही है। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि हमारा वेदोक्त "धर्म्म" शब्द जिस प्रकार सार्व्वभौम भावमें व्यवहृत होता है उसके अनुसार हमारे "धर्म्म" शब्दके साथ पश्चिमी "रिलि-जन" शब्दकी एकार्थता नहीं हो सकती; उसी प्रकार हमारे "आर्य" शब्दके साथ पश्चिमी "एरियन" शब्दका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। ये दोनों शब्द अलग अलग भावसे व्यवहृत हुए हैं। यह आर्य्यजातिके समाज विज्ञानका ही फल है कि जिससे इस भूमिमें श्रीरामचन्द्रसे राजा, श्रीमान् जनकसे सद्गृहस्थ, सीतादेवी और सावित्रीसी कुलकामिनियाँ, ध्रुवसे बालक, महर्षि वेदव्याससे ग्रंथ-

रचयिता, राजर्षि मनुसे वक्ता, श्रीकृष्णसे उपदेष्टा, सिद्धवर कपिलसे साधक, और परमहंस शुकदेवसे ज्ञानी उत्पन्न हुए थे।

ऋषिकालमें तड़ित् विज्ञान और योग विज्ञानकी जितनी उन्नति हुई थी उसका आज कलके लोग यदि विचार करने लगें तो उन्हें तन्द्रावस्थामें स्वप्न-की तरह अनुभव होने लगेगा। उन्नतिशील पश्चिमी विद्वान्गण उसको यदिच स्वीकार करते जाते हैं, तथापि कारण अन्वेषण करते समय वे अब भी मोहित हुआ करते हैं। प्राचीन आर्य्यजातिके भोजनमें, शयनमें, बैठनेमें, चलनेमें, जलमें, स्थलमें और धर्म्म, अर्थ, काम व मोक्षकारक सब कर्म्मोंमें ही तड़ित-विज्ञानका अद्भुत सम्बन्ध देख पड़ता है। महाबली रावणने जो दुर्जय शक्ति-शैलद्वारा सुमित्रानन्दनको जड़की भाँति स्पंदनरहित कर दिया था; सो तडित विज्ञानकी उन्नतिका ही प्रमाण है। बाणोंमें विद्युत् शक्ति डालनेकी क्रियाका अभी तक यूरोपके विद्वान्गण आविष्कार नही कर सके हैं। नागपाश, शक्तिशैल, सम्मोहन अस्त्र आदि जितने चमत्कारशक्तियुक्त अस्त्र आर्य्यगण युद्धार्थ बनाया करते थे, वे सब तड़ित विज्ञानकी सहायतासे ही निर्माण करते थे। देवमन्दिरके ऊपर अष्टधातु-चक्र अथवा त्रिशूल आदि लगानेकी जो विधि है वह विद्युत्विज्ञानकी उन्नतिका ही चिन्ह है। उत्तरकी ओर सिर करके न सोना, नवीन अपक्व फलकी ओर उँगली न उठाना, नीच जातिका स्पर्शित अन्न भोजन न करना, चैल, अजिन, कुश और कम्बलके आसन पर बैठकर उपासना करना, सौभाग्यवती स्त्रियोंको स्वर्णमय अलङ्कार आदि धारण करनेकी आज्ञा देना और विधवाओंको न देना आदि सब नियम ही इस तड़ितविज्ञानकी उन्नतिके प्रमाण हैं। आजकल की विज्ञानदृष्टिसे यह प्रमाणित ही हो चुका है कि अष्टधातु वज्रपातको निवा-रण करती है इस कारण मन्दिरोंपर वह स्थापन किया जाता है। उसी प्रकार शारीरिक तड़ित् द्वारा अपकफल तब ही दूषित हो जायगा जब उसकी ओर उँगली उठाई जायगी। इसी तरह शूद्रमें तमोगुण अधिक होनेके कारण उसका छुआ हुआ अन्न उसकी दूषित तडितद्वारा दोषयुक्त हो जाने से श्रेष्ठ तडित्युक्त ब्राह्मण देहके लिये अहितकारी ही है। पृथिवी सदा जीव शरीरके अन्तर्गत तडित्को खेंचा करती है। उपासना करते समय मनुष्यके शरीरमें सात्विक तडित्का बढ़ना सम्भव है; परन्तु पृथिवी पर बैठ कर उपासना करते समय वह तडित्संग्रह पृथिवी द्वारा नाशको प्राप्त हो सकता है, किन्तु चैल अजिन कुश और कम्बलमें तडित् ग्रहण करनेकी शक्ति नही है। (वे Nonconductor हैं)

इस कारण उनपर बैठकर साधन करनेसे वह क्षति नहीं होती। सुवर्ण आदि धातु तडितशक्तिके वृद्धिकारक हैं। तडितशक्तिवृद्धिसे शारीरिक इन्द्रियोंकी विशेष स्फूर्ति होती है। इन्द्रियोंकी विशेष स्फूर्ति होनेसे स्त्रियाँ सुसंतान उत्पन्न कर सकती हैं। इस कारण आर्य्य-सदाचारमें सधवास्त्रियोंको अलंकार धारण करनेकी और विधवा स्त्रियोंको अलंकार धारण नहीं करनेकी आज्ञा दी है। तडितविज्ञानपूर्ण इन आचारोंको सुनकर साधारण बुद्धियुक्त मनुष्य भी समझ सकते हैं कि प्राचीन आर्य्यगणने इस सूक्ष्म विज्ञानको किस उन्नत अवस्थामें पहुँचा दिया था। योगविज्ञानकी मुक्ति-सहायकारी जो शक्ति है सो तो विलक्षण ही है। उस विज्ञानकी अन्यान्य भौतिक शक्तियोंकी अद्भुतता अब जगत्‌में प्रसिद्ध हो रही है। योगशक्तिके द्वारा मेघ, वायु आदिका स्तम्भन करना, शून्य मार्गमें विचरण करना, शरीरको लघु अथवा भारी कर लेना; प्रस्तर अथवा मृत्तिका आदि पदार्थमें प्रवेश करना, दूरस्थित विषयको सुनना अथवा देखना, दीर्घ आयु और इच्छामृत्यु होना, क्षुधा पिपासा जय करना और नाना ग्रह-उपग्रहोंमें संयम करके अथवा भविष्यत् प्रारब्धमें संयम करके उनके विषयोंको जान लेना आदि नाना भगवद्विभूतियोंकी प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकारकी शक्ति जीवको कैसे प्राप्त हो जाती है, इसका उल्लेख वेद और नाना योगसम्बन्धीय शास्त्रोंमें है। डाक्टर पाल (Dr. Paul) साहबने अपने योग-विज्ञान नामक पुस्तकमें वैज्ञानिक बुद्धि द्वारा पूर्णरूपसे प्रमाणित कर दिखाया है कि प्राणायाम साधन द्वारा किस प्रकारसे योगीगण दीर्घायु तथा पञ्चभूत जय कर सकते हैं। इस प्रकारसे उक्त पश्चिमी पण्डित महाशयने अष्टाङ्ग योगकी बहुत ही प्रशंसा करके योगके आठों अंगोंकी योग्यता और अद्भुत अलौकिक शक्तियोंका वर्णन अपनी पुस्तकमें किया है।

प्रत्यक्ष प्रमाणमें सन्देह होही नहीं सकता। जब यूरोपवासी विद्वान्‌गणने प्रत्यक्षरूपसे पञ्जावकेशरी महाराजा रणजीतसिंहकी सभामें योगीवर हरिदास स्वामीको छःमासतक पृथिवीके अन्तर्गत जड़ समाधि अवस्थामें रहते हुए देखा। जब उन्होंने देखा कि एक जीवित मनुष्यको पृथिवी खनन करके गाड़ दिया गया और उसके ऊपरकी मृत्तिकापर जौ बोकर पहरे बिठा दिये गये। पुनः जब उनको छः महीने पूरे होने पर निकाला गया तो वे जीवित ही मिले, तब उन विद्वानोंके हृदयमें और कहांसे सन्देह रहेगा? वे विद्वानगण उसी प्रकार मद्रासके योगीको कुम्भकद्वारा आकाशमें स्थित देखकर और कलकत्तेके

भूकैलाशस्थित योगीको श्वासरहित समाधि अवस्थामें देखकर अतीव मोहित हुए। इन तीनों उदाहरणोंको प्रमाणरूपेण उन्होंने अपनी अपनी पुस्तकोंमें भी लिखा है। यदिच उन्होंने प्रत्यक्ष भी कर लिया है तथापि योगशक्तिका कारण अभी तक वे अन्वेषण नहीं कर सके हैं। योगक्रियामें जो बालक हैं, ऐसे पुरुषोंकी बस्ति, नलक्रिया और शङ्खप्रचाल आदि क्षुद्र क्रियाएँ जो आजकल प्रायः देखनेमें आती हैं, पश्चिमी विद्वान्गण वैज्ञानिक बुद्धि द्वारा अभी तक उनका भी कारण नहीं जान सके हैं।

गणितज्योतिष और फलितज्योतिष इन दोनों शास्त्रोंका आविष्कार आदि कालमें इस भारत भूमिमें ही हुआ है। केवल विद्याओंका आविष्कार ही नहीं हुआ किन्तु उनके प्रत्येक विभाग इतनी उन्नतिको पहुँचे थे कि जिन सब विभागोंको अभी तक पश्चिमी वैज्ञानिकगण समझ ही नहीं सके हैं। यद्यपि उन्होंने आज कल यन्त्रोंकी सहायतासे गणित ज्योतिषकी कुछ उन्नति की है, तथापि फलितकी सूक्ष्मताको वे अभी तक पा ही नही सके है। प्राचीनकालमें ज्योतिषशास्त्रकी पूर्ण उन्नति नही हुई थी, ऐसा कोई कोई एकदेशदर्शी परिडत कह दिया करते हैं, परन्तु आर्य्यशास्त्र न देखनेसे ही वे ऐसा कहा करते हैं। ग्रह, नक्षत्र, राशिचक्र, नक्षत्रचक्र, अंश, विषुवरेखा, गोलकार्ध, उदीचीनराशि आदि राशिभेद, क्रान्ति, केन्द्रव्यासनिरूपण, सुमेरु, कुमेरु, छायापथ, ग्रह, उपग्रह, कक्ष, धूमकेतु, उल्कापिंड, निर्घात, मध्याकर्षणशक्ति, सूर्य, महासूर्य आदि भेद, पृथिवी आदिकी आकृति, ग्रहणनिर्णय आदि सकल गंभीर विषयोंके सिद्धान्त जब प्राचीन आर्य्योंके ग्रन्थोंमें देखे जाते है, तब कैसे कहा जा सकता है कि आर्योंने इस शास्त्रकी पूर्ण उन्नति नही की थी। विष्णुपुराणमें लिखा हैः—

स्थालीस्थमग्निसंयोगादुद्रेकि सलिलं यथा।
तथेन्दुवृद्धौ सलिलमम्भोधौ मुनिसत्तमाः॥
न न्यूना नाऽतिरिक्ताश्च वर्द्धन्त्यापो ह्रसन्ति च।
उदयास्तमनेष्विन्दोः पक्षयोः शुक्लकृष्णयोः॥
दशोत्तराणि पञ्चैव अंगुलानां शतानि वै।
अपां वृद्धिक्षयौ दृष्टौ सामुद्रीणां महामुने॥

जवार भाटासे यथार्थमें समुद्रका जल ह्रास और वृद्धिको प्राप्त नहीं होता। किन्तु स्थालीमें जल रखकर उसे अग्निपर चढ़ानेसे जैसे अग्नि-उत्तापद्वारा उफान आकर वह वृद्धिको प्राप्त हो जाता है, वैसे ही शुक्ल और कृष्ण

पक्षकी चन्द्रकला द्वारा आकृष्ट होकर समुद्रजल ह्रास वृद्धिको प्राप्त हुआ करता है। आर्य्यग्रन्थोंमें ऐसे प्रमाण देखनेसे किसको विश्वास न होगा कि आर्य्य गण को ग्रह-आकर्षण शक्ति और जवार भाटाका कारण ज्ञात था। वार और तिथि आदिका आर्य्य महर्षिगणने ही प्रथम आविष्कार करके समयकी शृंखला की थी। सालभरमें जिस दिन दिवा रात्रि समान होते हैं वह दिन, यूरोपीय पण्डित टोलेमी (Tolemy)—जिसको यूरोपजाति इस नियमके आविष्कर्त्ता मानती है—उस के जन्म लेनेसे बहुत काल पूर्व ही प्राचीन आर्य्य आचार्य्यगण द्वारा निरूपित हो चुका था। सूर्य्यसिद्धान्त ग्रन्थमें लेख है:—

सर्वतः पर्वतारामग्रामचैत्यचयैश्चितः।
कदम्बकेशरग्रन्थिकेशरःप्रसवैरिव॥

कदम्ब जिस प्रकार केशरसमूह द्वारा वेष्टित होता है, उसी प्रकार पृथिवी भी ग्राम, वृक्ष, पर्वत आदि द्वारा वेष्टित है। नक्षत्र कल्पमें लेख है:—

कपित्थफलवद्विश्वं दक्षिणोत्तरयोः समं।

कपित्थ फलकी तरह पृथिवी गोलाकार है, परन्तु केवल उत्तर और दक्षिणमें कुछ समान अर्थात् दबी हुई है। जब पश्चिमी विद्वान्गण पृथिवीको नारंगीके साथ उपमा देते हैं, तब आर्य्यगणको कदम्ब और कपित्थके साथ उपमा देते देख क्या विद्वान्गण नहीं समझ सकेंगे कि प्राचीन आर्य्यगण पृथिवीके स्वरूपको पश्चिमी वैज्ञानिक गणसे पूर्व ही भली भाँति जानते थे। आज कल विद्यार्थियोंकी शिक्षाके अर्थ गोलक (Globe) प्रस्तुत किया जाता है; परन्तु जब प्राचीन आर्य्य ग्रन्थोंमें देखते हैं कि वे भी शिष्योंको दारुमय खगोल और भूगोल रचना द्वारा शिक्षा दिया करते थे, तब कौन बुद्धिमान नहीं विश्वास करेंगे कि वे भी इस नवीन रीतिको भली भाँति जानते थे। आज कलकी शिक्षामें प्रधान दोष यह है कि भारतवासी पूर्ण शिक्षा प्राप्त नहीं करते। पश्चिमी अंगरेजी भाषा या संस्कृत विद्या, चाहे किसीमे वे परिश्रम क्यों न करते हों, उसमें पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं करते। द्वितीयतः अपने वर्त्तमान भ्रमोंके दूर करनेके अर्थ दोनों शस्त्रोंका भली भाँति संग्रह करके तत्पश्चात् दोनोंके गुणोंका विचार कर सत्यका अन्वेषण करें, तो उसका अनुसंधान पा सकेंगे; नहीं तो एक विद्याको ही असम्पूर्ण जानकर सत्य अनुसंधान करना विडंवना मात्र है इसमें सन्देह नहीं। आर्य्यभट्टजीने लिखा है:—

चला पृथ्वी स्थिरा भाति ।

पृथिवी चलती है परन्तु ठहरी हुई जान पड़ती है । पुनः आर्ष ग्रन्थों-में लेख है:—

भपंजरः स्थिरो भूरेवावृत्यावृत्य प्रातिदिवसिकौ ।
उदयास्तमयौ सम्पादयति नक्षत्रग्रहाणाम् ॥

नक्षत्रमंडल व राशिचक्र स्थिर हो रहे हैं परन्तु पृथिवी वारंवार घूमती हुई ग्रह नक्षत्रोंका दैनिक उदय अस्त सम्पादन किया करती है । इन लेखोंको देखनेसे कौन नही विश्वास करेगा कि प्राचीन आर्य्यगण पृथिवीकी गतिको जानते थे। जब आचार्य्योंके ग्रन्थोंमें देखते हैं:—

भूगोलो व्योम्नि तिष्ठति ।

पृथिवी शून्यमें ही स्थित है। पुनः जब भास्कराचार्य्यको कहते हुए देखते हैं:—

नान्याधारं स्वशक्त्या वियति च नियतं तिष्ठतीहास्य पृष्ठे ।
निष्ठं विश्वंच शश्वत् सदनुजमनुजादित्यदैत्यं समंतात् ॥

पृथिवी विना आधारके ही अपनी शक्तिद्वारा आकाश मण्डलमें स्थित है और उसके पृष्ठपर चारोंओर देव दानव मानव आदि निवास कर रहे है। तब कैसे विश्वास नहीं करेंगे कि आर्यगण पृथिवीकी स्थितिको भली भाँति नहीं जानते थे। जब ब्रह्मपुराणमें देखते हैं:—

पर्वकाले तु सम्प्राप्ते चन्द्रार्कौ छादयिष्यसि ।
भूमिच्छायागतश्चन्द्रंचन्द्रगोऽर्कं कदाचन ॥

पूर्णिमा आदि पर्व्व दिनोंमें तुम चन्द्र सूर्यको आच्छादन करोगे। पुनः ज्योतिष आचार्य्योंके ग्रन्थोंमें देखते हैं:—

छादको भास्करस्येन्दुरधःस्थो घनवद्भवेत् ।
भूच्छायां प्रमुखश्चन्द्रो विशत्यर्थो भवेदसौ ॥

मेघके समान चन्द्र, सूर्य्यके अधस्थ होकर सूर्य्यको आच्छादित करता है और चन्द्र भूच्छायामें प्रवेश करता है। तब कौन बुद्धिमान्गण नहीं जान सकते हैं कि प्राचीन भारतवासीगण ग्रहण-विज्ञानको भली भाँति जानते थे। इस प्रकारसे ज्योतिषशास्त्रकी उन्नतिके विषयमे जितना विचार करेंगे

उतना ही सिद्धान्त दृढ़ होता जायगा कि इस गंभीर विज्ञान शास्त्रमें प्राचीन भारतने बहुत ही उन्नति की थी। विना गणित ज्योतिषके फलित ज्योतिष कार्य्यकारी नहीं होता, इस कारण भारतका फलितशास्त्र ही गणितशास्त्रकी उन्नतिका प्रमाण है। आजकलके यूरोपीय सम्वादोंका पाठ करनेसे बुद्धिमान् मात्र ही जान सकेंगे कि आज दिन यूरोपवासी किस प्रकारसे मेटीओरोलोजी (Meteorology) विद्या परसे अपनी दृष्टि हटाकर फलित ज्योतिषकी सत्यता की ओर झुकते जाते हैं। आज दिन यूरोपका यह फलित ज्योतिषका पक्षपात ही हमारे इस गणित एवम् फलित ज्योतिष विषयक सिद्धान्तको पूर्णरूपसे दृढ़ कर रहा है।

पश्चिमी विद्वान्गण यह कहते हैं कि मध्याकर्षण शक्तिका आविष्कार करनेवाले न्यूटन (Newton) साहब हैं। परन्तु जब देखते हैं कि श्रीमद्भागवत-में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके उपदेशमें पृथिवीकी मध्याकर्षण-शक्तिका विस्तृत विवरण आया है। जब देखते हैं कि भास्कराचार्य्यजीने लिखा है:—

आकृष्टशक्तिश्च मही तया यत् खस्थो गुरुः स्वाभिमुखं स्वशक्त्या।
आकृष्यते तत् पततीति भाति समे समंतात् क पतत्वियं खे॥

पृथिवी आकर्षणशक्तिविशिष्टा है; क्योंकि कोई भारी पदार्थ आकाशकी ओर निक्षिप्त करने पर पृथिवी अपनी शक्ति द्वारा उसको आकर्षण कर लेती है। आकाश चारोंओर ही है, परन्तु वह पदार्थ पृथिवीके ऊपर ही गिरता है। पुनः जब देखते हैं कि आर्यभट्ट कह रहे हैं:—

आकृष्टशक्तिश्च मही यत्तया प्रक्षिप्यते तत्तया धार्य्यते।

पृथिवी आकर्षणशक्ति विशिष्ट है, क्योंकि जो वस्तु फेंकी जाती है, आकर्षण शक्तिद्वारा पृथिवी उसको धारण करलेती है। तब कैसे कहेंगे कि न्यूटन साहब इस वैज्ञानिक नियमके आविष्कर्त्ता हैं। जब न्यूटन साहबके जन्म ग्रहण करनेसे सहस्र २ वत्सर पूर्व्वके ग्रन्थोंमें उस विज्ञानका प्रमाण मिल रहा है, तब कैसे मानेंगे कि वह नियम भारतसे नहीं निकला; यूरोपसे निकला है। यूरोपके प्रसिद्ध विद्वान् बेली (Bailly) साहब, प्लेफेयर (Playfair) साहब और केशेनी (Casseni) साहब आदि बड़े बड़े पण्डितगण मुक्तकण्ठ होकर स्वीकार करते हैं कि पांच सहस्र वर्षोंके पूर्व्व भारतवर्षमें जो ज्योतिष ग्रन्थ लिखे गये थे वे अब भी मिला करते हैं; भारतवर्ष ही ज्योतिष शास्त्रका

आविष्कारकर्त्ता है। वर्त्तमान कालके प्रसिद्ध ज्योतिष शास्त्रके अध्यापक कोलब्रुक (Colebrooke) साहब प्रमाणके सहित लिखते हैं कि अति प्राचीन कालमें ज्योतिष-गणनाकी प्रधान सहायक पृथिवीकी अयनांशगति अथवा क्रांतिपातकी वक्रगतिका भारतवर्षके विद्वान्‌गणने ही आविष्कार किया था। अभी थोड़े दिन हुए, यूरोपवासियोंने नाना यन्त्रोंकी सहायतासे सूर्य्य कलकका (Solar spots) अनुमान किया है, और वे कहते हैं कि यह उनका नूतन आविष्कार है। परन्तु आर्यशास्त्रोंको देखनेसे अति सुगमता द्वारा ही यह भ्रम दूर हो सकता है। विष्णु व मार्कण्डेय आदि पुराणों और वराहमिहिर आदिकी ज्योतिष संहिताओंमें इसका विशेष विवरण पाया जाता है। पुराणोंमें लेख है कि विश्वकर्माने जव अपने भ्रमी नामक यन्त्रका सूर्यमण्डलपर प्रयोग किया था तव उस अस्त्रका सूर्य्यमण्डलके जिस जिस अंशमें स्पर्श हुआ, वही वही अंश श्यामिकाको प्राप्त हो गया और उसी उसी अंशको सूर्य्य-कलंक कहते हैं। प्राचीन आर्य्य जाति ही इस शास्त्रकी प्रधान गुरु है, ऐसा एक-देश-दर्शी मुसलमान भी स्वीकार करते हैं। आरवीय "त्वारिकल हुक्मा" और "खुलाश तुल हिसाब" आदि ग्रन्थोंमें इस विचारका भली भांति प्रमाण मिलता है। उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें आर्य्य भट्टका नाम "आज्यभर" और भास्कराचार्य्यका नाम "वाखर" करके लिखा है। इन विचारोंसे यह सिद्ध ही होता है कि इस प्रकारके गंभीर वैज्ञानिक तत्व तथा वैज्ञानिक शास्त्रोंका आदि गुरु भारतवर्ष ही है। भारतकी इस श्रेष्ठताको ईसाई तथा, मुसलमान आदि सभी स्वीकार करते हैं और इसीसे यह मत सर्व्ववादि सम्मत है। ग्रीक भाषाके ग्रन्थ, रोमन भाषाके ग्रन्थ, अरवी भाषाके ग्रन्थ तथा नाना यूरोपीय भाषाओंके ग्रन्थोंसे जव यही सिद्ध होता है कि प्राचीन आर्य्यजाति ही सकल मनुष्य जातियोंसे पहिले अपनी भारतभूमिमें शिल्प नैपुण्य तथा वैज्ञानिक सिद्धान्तोंकी प्रकाशकर्त्री थी, जव प्राचीन महर्षिगणके नाना ग्रन्थोंमें ज्योतिष विज्ञान, रसायन विज्ञान, भूतत्व विज्ञान, चिकित्साविज्ञान और अतुलनीय योग आदि धर्म्म विज्ञानका वर्णन देखते हैं; तव निरपेक्ष विद्वान्‌गण मात्र ही स्वीकार करेंगे कि प्राचीन भारत ही विज्ञान आदि उन्नतिका आदि गुरु है।

प्राचीनकालमें सामुद्रिक केरल स्वरोदय और जीवस्वरविज्ञान आदि शास्त्रोंकी उन्नति भारतमें विशेषरूपेण हुई थी। अव इतने दिनों वाद यूरोप वासीगण भारतके इन शास्त्रोंको देख कर चकित होकर उसकी महिमाका

प्रचार कर रहे हैं। यद्यपि अब सामुद्रिकशास्त्रकी उन्नति यूरोपमें कुछ कुछ देख पड़ती है, तथापि यह मानना ही पड़ेगा कि जितनी उन्नति यहां भूतकाल में हुई थी उतनी वहां पर होनेमें अभी बहुत विलम्ब है। आजकल यूरोपीय वैज्ञानिकगण नूतन रीतिसे मस्तिष्क परीक्षा द्वारा—अर्थात् मृतविद्वान्गणके मस्तकोंको चीर चीर कर परीक्षा द्वारा—इस शास्त्रकी उन्नति कर रहे हैं, किन्तु त्रिकालदर्शी महर्षिगणने स्वतः ही रेखागणना, मुखचिन्हगणना आदि जो अति सुगम रीतियां सामुद्रिक शास्त्रमें निकाली थीं, वह बात अभीतक यूरोप समझ नहीं सका है। केरल आदि शास्त्रों द्वारा नाना प्रकारके प्रकृति-इङ्गित और जीव-स्वर-विज्ञानकी उन्नतिका प्रमाण भलीभाँति मिलता है।

यद्यपि प्रकृतिमें गुणभेद होनेके कारण उसके स्वरूप अनेक हैं, तथापि सर्व्वव्यापक चैतन्य एक होनेके कारण सब वस्तुओंका सम्बन्ध सब वस्तुओंके साथ है। जिस प्रकार निद्राके समय कभी कभी मन एकाग्र होनेसे भूत, भविष्यत् आदि अद्भुत विषय स्वप्नगोचर हो जाते हैं, विना किसी कारण आप ही आप भविष्यत्की घटनाओंका हाल निद्रितावस्थाकी साम्यावस्थामें दिखलाई दिया करता है, उसी प्रकार जागृत अवस्थामें जीवोंका मन प्रकृति-इङ्गित (छींक, बाधा और शकुन आदि) द्वारा भविष्यत् घटनाओंका अनुमान कर सकता है। मन सर्व्वव्यापक है, इस कारण वह जब साम्यावस्थामें हो जाता है, चाहे निद्रितावस्थामें और चाहे जागृत अवस्थामें, तब उसका सम्बन्ध दूसरे जीवसे होकर अथवा दूसरे पदार्थ पर जाते ही उसे वहीं भविष्यत् भावकी स्फूर्ति हो जाती है। इन्हीं प्रकृतिके भावोंको समझनेमें यह शास्त्र सहायता देता है। योगिराज महर्षि पतञ्जलिजीने अपने योगसूत्रमें सिद्ध किया है कि शब्दसे अर्थका ज्ञान, अर्थसे भावका ज्ञान और भावसे बोध अर्थात् यथार्थ ज्ञानका उदय होता है। इस कारण वाच्यपदार्थ और वाचक शब्द इन दोनोंका ही परस्पर सम्बन्ध है और शब्दसे ही शब्द-उत्पत्ति-कारण भावका पूर्ण ज्ञान हो जाता है। इसी कारणसे इस वैज्ञानिक भित्तिपर महर्षिगणने जीव-स्वर-विज्ञानकी सृष्टि की थी। जिसके द्वारा नाना जीवोंकी साम्यावस्थाकी बोलीके द्वारा वे भविष्यत् गणना कर सकते थे। यद्यपि अब यूरोप सामुद्रिक और स्वरोदयशास्त्रको कुछ कुछ समझने लगा है, तथापि जीव-स्वर-विज्ञान अभी वह समझ नहीं सका है। किन्तु इसके निकटवर्ती "थाटरीडिंग" नामसे एक नया विज्ञान आविष्कार कर रहा है, जिसके देखनेसे बुद्धिमान जन समझ सकते हैं कि इस शास्त्रकी

उन्नतिकी पराकाष्ठा अपने आचार्य्यगणप्रणीत जीव-स्वर-विज्ञानमें हुई है। मन और वायु एकही पदार्थ है, अर्थात् वायु रूपी प्राणके जाननेसे मनका ज्ञान हो सकता है। इस वायुज्ञान द्वारा मन ज्ञानकी रीतिको ही स्वरोदय कहते हैं। स्वरोदयशास्त्र प्रत्यक्ष फलप्रद है। इसके पाठ करनेसे ही बुद्धिमानगण जान सकते हैं कि इस विज्ञानकी कितनी उन्नति ऋषिकालमें हुई थी। अंग्रेजी, जर्मन तथा फ्रेंच भाषाओंमें स्वरोदय विज्ञानकी कई एक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। उनके पाठ करनेसे ही अनुमान हो सकता है कि आजदिन यूरोपवासी स्वरोदय विज्ञानके कितने पक्षपाती हैं। आज कलके बहुतसे यूरोपीय विद्वान्गणने इस शास्त्रको देखना आरम्भ कर दिया है और इस शास्त्रकी वैज्ञानिक भित्तिको देखकर वे इसकी प्रशंसा कर रहे हैं।

प्राचीन आर्यजातिमें संगीतविद्या पूर्णताको प्राप्त हुई थी। उनका तीसरा उपवेद गंधर्ववेद सङ्गीत शास्त्र है। आधुनिक यूरोपवासियोंने इस शास्त्रको केवल शिल्प करके जाना है और इसके द्वारा वे केवल वैषयिक आनन्द भोग किया करते हैं। परन्तु प्राचीन भारतवासियोंकी यह विद्या वैसी नही थी। इसकी उस कालमें इतनी उन्नति हुई थी कि सङ्गीतशास्त्र एक प्रधान विज्ञान शास्त्र समझा जाता था और इसका विशेप सम्बन्ध आध्यात्मिक जगत्से रक्खा गया था। जहां कुछ क्रिया है वहां अवश्य शब्द होगा। क्रिया शक्तिके न्यून होनेसे चाहे उसका शब्द अपने कर्णगोचर न होता हो, क्योंकि सूक्ष्मतर विषयोंको अपनी इन्द्रियाँ ग्रहण नही करती, परन्तु जहां क्रिया है, वहां कम्पन है और जहां कम्पन है वहां किसी न किसी प्रकारका शब्द अवश्य ही होगा। ब्रह्माण्डकी सृष्टि-क्रिया भी एक प्रकारका कार्य्य है और समष्टिरूपसे उस क्रियाकी ध्वनिका नाम प्रणव अर्थात् ओंकार है। शास्त्रोंमें ओंकारके लक्षण लिखे हैं। यथाः-

तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत्।

यह ध्वनि योगीगणको भलीभांति स्वतः ही सुनाई देती है। जैसी समष्टिरूप प्रकृतिकी ध्वनि ओंकार है, वैसे ही व्यष्टिरूप नाना प्रकृतिके नाना स्वर हैं। नाना स्वररूपी नाना प्रकृतिके आविर्भाव करनेके अर्थ ही संगीत शास्त्र बना है।

वेदानां सामवेदोऽस्मि।

इन वाक्यों द्वारा सामवेदकी महिमा शास्त्रोंने गाई है। यह वेद सङ्गीत शास्त्रकी सहायता से ही पढ़ा जाता है। यह सङ्गीतकी माधुरीका ही प्रभाव है कि सामवेद और वेदोंसे मनुष्योंके हृदयको शीघ्र ग्रहण करता है। यूरोपीय

सङ्गीत विद्याके पक्षपाती होने पर भी जब प्रोफेसर वोयलर (Professor Boiler) आदि पश्चिमी संगीत आचार्य्यगणको भारतवर्षीय राग रागिणी-कौशलकी प्रशंसा करते देखते हैं, तब यह कहना ही पड़ेगा कि यूरोपके विद्वान्-गण हमारी संगीत विद्याकी उन्नतिको देखकर मोहित हो रहे हैं। आर्य्य ऋषि-कालमें इस संगीतशास्त्र द्वारा षोड़श सहस्र राग रागिणियां गाई जाती थीं और उनके साथ तीनसौ छत्तीस ताल वजते थे। इसके देखनेसे ही बुद्धिमान्-गण जान सकते हैं कि प्राचीन भारतवर्षकी संगीत विद्याने जितनी उन्नति की थी, यूरोपवासी अभीतक उसको समझ भी नहीं सके हैं। नाना राग रागिणियां नाना प्रकृतिके आविर्भाव करनेके अर्थ ही वनाई गई थीं। मनुष्य-हृदयमें जिस प्रकृतिके आविर्भाव करनेकी आवश्यकता हुआ करती थी, उसी प्रकारकी राग रागिणियों द्वारा (यथा भैरव रागका रूप वैराग्यमय, हिण्डोल रागका रूप विलासमय है इत्यादि) कोई मन्त्र अथवा गान विशेष गानेसे उनके हृदयमें वैसी ही प्रकृतिकी स्फूर्ति होने लगती थी। जिस प्रकार युद्धशास्त्र आदि क्रिया-सिद्ध विद्याएँ क्रियासिद्ध आचार्योंके अभावसे लोप हो गई हैं, उसी प्रकार प्राचीन मार्ग सङ्गीत (वेद गानेकी रीति) और देशी सङ्गीत (ईश्वर सम्बन्धीय ध्रुवपद गानेकी रीति) विद्या भी क्रियासिद्ध उपदेशकके अभावसे लोप हो गई है। अव जो भारतवर्षमें सङ्गीत विद्या सुननेमें आती है, वह यथार्थमें प्राचीन सङ्गीतविद्या नहीं है। वह प्राचीन सङ्गीत शास्त्रका जीर्ण कङ्काल मात्र है। अर्थात् यह वर्त्तमान हिन्दू विद्या वह नवीन विद्या है, जो मुसलमान सम्राटोंके समय प्राचीन सङ्गीतके अनुकरणसे उत्पन्न हुई थी। इन थोड़े ही विचारोंसे बुद्धिमान् गण समझ सकते हैं कि पूज्यपाद ऋषिगणप्रणीत सङ्गीतशास्त्रकी कैसी गम्भीरता थी और वे कैसे वैज्ञानिक भित्तिपर स्थित थे। इसका विशेष वर्णन एक स्वतन्त्र अध्यायमें किया जायगा।

ज्ञान विज्ञान-उन्नतिके विषयमें प्राचीन आर्यजाति किस प्रकार अलौकिक शक्तिसम्पन्न थी सो प्राचीन इतिहास पाठ करनेसे विदित होता है। मृत पुरुषका पुनर्जीवन लाभ,—जो कि आजकल कल्पनामें भी नहीं आ सकता—प्राचीन भारतके इतिहासमें वहुधा देखनेमें आता है। दैत्यगुरु शुक्राचार्यने मृतसञ्जीवनी विद्याके प्रभावसे रणाहत मृत दैत्योंको पुनर्जीवित किया था। अतिवृद्ध कङ्का-लसार च्यवनऋषिका नवयौवन लाभ इत्यादि सभी वातें प्राचीन अलौकिक ज्ञान-विज्ञानोन्नतिकी अपूर्व्व परिचायक हैं। जिसको निष्पक्ष विचारशील पुरुष अवश्य

ही स्वीकार करेंगे। जिस प्रकार पहाड़पर रहनेवाले किसी मनुष्य से, जिसने-कभी रेलगाड़ी नहीं देखी है, पृथ्वीपर एक घण्टेमें ६० मील जानेवाली भी वस्तु हो सकती है ऐसा कहा जाय, तो वह उसे हँसकर उड़ा देगा। परन्तु उसका ऐसा उड़ाना केवल अपना ही अज्ञान और मूर्खताका प्रकाश करना है। ठीक उसी प्रकार आज हमारी शक्ति नष्ट हो गई है इसको न स्वीकार करके जो कुछ प्राचीन बातें हमारी समझमें नहीं आतीं, उन्हें गपोड़ा समझकर उड़ा देना, वृथा अहङ्कार, उन्माद व मूर्खताका परिचायक मात्र है। धीर व निष्पक्ष विचारशील पुरुष ऐसा कभी नहीं करते। ज्ञानसमुद्र अनन्त है, उसका पूरा पता कौन लगा सकता है? आज पाश्चात्य जगत्में कितने ही नये सायन्सोंका आविष्कार हो रहा है। जिन बातोंको लोग पूर्ण असम्भव जानते थे वे ही आज सत्य हो रही हैं। इससे क्या यह सिद्धान्त नहीं निकलता कि जो लोग उन सब सायन्सों-के आविष्कारके पहले उन्हें असम्भव कहा करते थे वे सब भ्रान्त थे। और यदि आजसे ४०० वर्षोंके बाद येही सब सायन्सोंके आविष्कार करनेवाले लोग मर जाँय, कोई भी ऐसे पुरुष जीते न रहें जिससे ये सायन्स ही नष्ट हो जायँ, तो इन ४०० वर्षोंके बाद जो लोग उत्पन्न होंगे वे भी क्या इन सब सायन्सकी बातोंको किसी पुस्तकमें देखकर गपोड़ा, पुराण व पोपलीला नहीं सम-झेंगे? कालकी रहस्यमयी गतिको कौन समझ सकता है? इसमें साहङ्कार स्पर्द्धाकी अपेक्षा धीर होकर ऐसे विषयोंको मानना और मानवीय बुद्धिको परिच्छिन्न समझना ही सत्य व युक्तियुक्त है। प्राचीन आर्यजातिमें अपने कर्म्मको दूसरेमें सञ्चालित करनेकी अद्भुत शक्ति थी। ययाति राजाने अपने वार्द्धक्यको अपने युवक पुत्रपर समर्पित कर उसके यौवनको ग्रहण किया था। भगवान् शङ्करकी आयु षोड़श वर्षकी थी, परन्तु महर्षि वेदव्यासने अपनी आयुसे १६ वर्ष देकर उनकी आयु ३२ वर्षकी कर दी थी। इसी तरह परीक्षितकी कितनेही वर्षोंकी आयु एक ऋषिपुत्रने घटाकर सात दिनकी सीमापर डाल दी थी। ऐसे ऐसे कितने ही दृष्टान्त प्राचीन आर्यजातिके इतिहासमें मिलते हैं।

चिकित्सा शास्त्रमें प्राचीन आर्यजातिने बहुत उन्नति की थी। चिकित्सा विद्यामें जो जो विषय रहनेसे उसकी पूर्ण उन्नति समझी जा सकती है, वे सभी आयुर्वेदमें थे। शस्त्रविद्या, रसायनविद्या, धातुप्रयोगविद्या और काष्ठादिभेषज-प्रयोगविद्या सभी आयुर्वेदमें पाई जाती हैं। आयुर्वेद आठ तन्त्रोंमें विभक्त है। यथाः—शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगद, रसायन व

वाजीकरण। इन आठ प्रकारके चिकित्सातन्त्रोंमें शरीरविज्ञान, देहविज्ञान, शस्त्रविज्ञान, धात्रीविज्ञान, चिकित्साविज्ञान, भेषजविज्ञान व रोगनिदान सभी विषय वर्णित किये गये हैं। केवल मनुष्यकी चिकित्सा ही नहीं पशु आदिकी चिकित्सा-प्रणाली भी आयुर्वेदमें वर्णित है। चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट आदि आयुर्वेदीय ग्रन्थोंके अनुशीलन करनेसे सर्वव्याधिविनाशनोपाय निर्द्धारित हो सकता है। कक्षीवानकी कन्या घोषा कुष्टरोगसे आक्रान्त हो गई थी। अश्विनीकुमारोंने उसको रोगमुक्त किया तब उसका विवाह हुआ था। कण्वऋषि अन्धे हो गये थे, निषधपुत्र वधिर हो गये थे, वध्रिमतीके पति नपुंसक हो गये थे, परन्तु प्राचीन आर्यजातिके आयुर्वेदशास्त्रकी ही महिमा है, जिससे ऐसे ऐसे कठिन रोग भी आराम हो जाया करते थे। आर्यचिकित्साविद्यामें विशेषता यह है कि उसने स्वतन्त्र रूपसे काष्ठादिक और धातुज औषधियोंकी उन्नति की है। कोई आचार्य केवल काष्ठादि औषधियोंकी ही व्यवस्था कर गये हैं और कोई केवल धातुज औषधियोंको ही प्रसिद्ध कर गये हैं। आयुर्वेदोक्त चिकित्साशास्त्र कितनी उन्नति पर पहुँचा था सो इसके नाड़ीज्ञानशास्त्रके पाठ करनेसे ज्ञात हो सकता है। जिसकी सहायतासे नाड़ीपरीक्षा द्वारा सकल प्रकारके रोगोंका भली भाँति निदान हो सकता है और जिसमें विलक्षणता यह है कि एकमात्र नाड़ीज्ञानसे ही तीन मास, छःमास अथवा उससे अधिक काल पूर्वमें भी भविष्यत् रोगका ज्ञान हो सकता है। यह नाड़ीज्ञानशास्त्र इतना गँभीर व सूक्ष्म है कि आजतक पश्चिमी विद्वान्‌गण उसको समझ नहीं सके हैं। इसके सिवाय शस्त्रचिकित्सामें भी प्राचीन आर्यगणने बहुत उन्नति की थी। डाक्तर रेली साहबने बड़ी प्रशंसाके साथ मुक्तकण्ठ होकर कहा है:—"प्राचीन भारतवासियोंके ग्रन्थ देखनेसे प्रकट होता है कि वे शस्त्रचिकित्सामें विशेष निपुण थे। प्रायः १२७ प्रकारके शस्त्रोंका वे शरीरपर प्रयोग किया करते थे और शस्त्रव्यवहारके साथ नानाप्रकारकी औषधियोंका भी प्रयोग किया करते थे।" वेवर साहबने कहा है कि शस्त्रचिकित्सामें (Surgery) प्राचीन आर्यगण पूर्णता प्राप्त कर चुके थे और इस विद्यामें पश्चिमी लोग अभी उनसे बहुत कुछ सीख सकते हैं। जैसा कि विकृत कान या नाकको सुधारकर नया बना देनेकी चिकित्सा पश्चिमी चिकित्सकोंने प्राचीन हिन्दुओंसे ही प्राप्त की है। डाक्तर हन्टर साहबने भी ऐसी ही आर्यशस्त्रचिकित्साकी बड़ी प्रशंसा की है। मिस् म्यानिङ्गने कहा है कि प्राचीन हिन्दुओंके शस्त्रचिकित्सायन्त्र ऐसे उत्तम व सूक्ष्म हुआ करते थे कि उनसे केश तक सीधे लम्बे फाड़े जा-

सकते थे। इस प्रकार पश्चिमी विद्वान् व एतद्देशीय सभी पुरुषोंने प्राचीन आर्य-जातिके चिकित्साशास्त्रकी महिमा प्रकट की है।

बुद्धि-विकाशका प्रथम लक्षण शिल्पनिपुणता है। जब बुद्धि सूक्ष्म अवस्थाको धारण करती जाती है तब यद्यपि वह पूर्ण सूक्ष्मताको धारण करके अध्यात्मिक जगत्में पहुँच जाती है, तथापि प्रथम अवस्थामे वह स्थूल जगत्में ही विचरण करती हुई नाना स्थूलजगत् सम्बन्धीय सुचारु विचित्रताको प्रकाशित करने लगती है। यही बहिर्जगत् सम्बंधीय विचित्रता शिल्पनैपुण्य है। प्राचीन भारतमें इस विद्याकी पूर्णोन्नति हुई थी। आर्यगणका चतुर्थ उपवेद स्थापत्यवेद ही इसका साक्षी है। यदिच आजकल की तरह कपड़े बुननेकी कल, मैदा पीसनेकी कल, सिलाई करनेकी कल, सूत कातनेकी कल आदि देशमें भिखारी पैदा करनेवाली कलें प्राचीन कालमें नहीं थीं, तथापि प्राचीन भारतमें देशोन्नति व धनोन्नतिकारिणी शिल्पविद्या व विज्ञान विद्यामें कितनी उन्नति हुई थी इसकी धारणा भी आजकलके लोग नहीं कर सकते। आर्यशिल्पकी उन्नतिके चमत्कारोंका वेदमें भी वर्णन किया हुआ है। सहस्र द्वार व सहस्र स्तम्भयुक्त अट्टालिका, लोहनिर्मित नगर व प्रस्तर निर्मित पुरीका वर्णन ऋग्वेदमें किया गया है। यह भारतवर्षकी अपूर्व शिल्पनिपुणताका ही कारण है कि विदेशीय जातियोंने उसके लोभसे यहाँ आकर क्रमशः भारतपर अधिकार जमा लिया है। मय-दानव-निर्मित युधिष्ठिर की राजसभाका वर्णन महाभारतमें पढकर किसके चित्तमें लोभ व दर्शन-कौतूहल न होगा? राजसूय यज्ञके समय मयदानवने जो सभागृह बनाया था उसकी तुलना संसारमें नहीं हो सकती। उस सभामें उन्होंने एक अनुपम सरोवर निर्माण किया था। उसमें मणिमय मृणाल व वैडूर्यमय पत्रयुक्त शतदल-कमल व काञ्चनमय कुमुदकदम्ब सुशोभित थे। अनेक चित्रविचित्र विहङ्गम केलि करते थे। प्रफुल्ल पङ्कज व सुवर्णनिर्म्मित मत्स्य कूर्मादिकी विचित्रता और चतुर्दिशाओंमें चित्रस्फटिकसोपानयुक्त उस निर्मल सरोवरके चित्रको वास्तविक सरोवर समझकर अनेक राजपुरुष मुग्ध व भ्रान्त होकर उसमें गिर पड़े थे। इस प्रकारका शिल्प वैचित्र्य समस्त पृथिवीमें दुर्लभ है।

आज कल रेलगाड़ीको देख सब लोग आश्चर्य करते हैं परन्तु भारत-वर्षके प्राचीन विमान, अस्त्र, शस्त्र व नाना यान आदिके वर्णनका पाठ करनेसे यह स्वतः ही सिद्ध हो जायगा कि यद्यपि यूरोपने शिल्प विद्यामें बहुत ही उन्नति की है, तथापि उसकी बुद्धिमें अभी तक यह बात नही आती कि किस

प्रकारसे प्राचीन आर्यौंने उन पदार्थोंकी सृष्टिकी थी और किस प्रकारसे भारतने शिल्प विद्यामें इतनी उन्नति कर डाली थी। थोड़े ही दिन पहिले अधःपतित भारतकी जो शिल्पविद्या थी, दीन हीन भारतवासी भी जो काश्मीरी शाल, ढाकाके वस्त्र, काशीं आदि स्थानोंके पट्टवस्त्र और नाना सुवर्ण, रौप्य, रत्न आदिसे जड़ित आभूषण आदि वनाया करते थे उसकी समानता अभीतक शिल्प निपुण यूरोपसे नहीं की गई है। मिस मैनिङ्गने कहा है कि प्राचीन आर्य्य-जातिकी शिल्पकला ऐसी अपूर्व थी कि यूरोपके दर्शक लोगोंको उनकी प्रशंसा करनेके लिये योग्य शब्द ही नहीं मिलते थे। वे लोग उनकी सुन्दरता व कारी-गरीको देखकर विस्मय समुद्रमें एकदम डूब जाते थे। प्राचीन ग्रीक व मिश्र देशकी शिल्पविद्याके साथ तुलना करके प्रोफेसर हीरेन साहवने कहा है कि मूर्तियोंका निर्माण व वाहरकी सजावटमें आर्यशिल्प ग्रीस व मिश्रदेशके शिल्पसे बहुत उन्नत था। कर्नल टाड साहवने कहा है कि भारतीय प्राचीन स्तम्भ व मूर्त्ति आदिके देखनेसे मालूम होता है कि मानों कलासुन्दरीने अपनी समस्त सुषमाको प्राण खोलकर भारतवर्षमें प्रकट कर दिया है। यहाँ पर सभी शिल्प-कौशल पूर्णता-पदपर प्रतिष्ठित हो गया है। वैरन डालवर्ग साहवने द्वारकापुरी-की शिल्पकलाको देखकर उसे "चमत्कार पुरी" कह दिया था और कहा था कि प्राचीन आर्य्यजातिने यहाँ पर शिल्पविद्याको पृथिवी भरकी अन्य सव जाति-योंकी अपेक्षा पूर्णता पर पहुँचाया है। इलोरा आदि स्थानोंके गुफामन्दिर, श्रीजगन्नाथ आदि देवताओंके देवालय, चितौर आदिके दुर्ग, कटक आदि स्थानोंके नदीवन्ध, आगरेका ताजमहल आदि प्राचीन स्थानोंके देखनेसे प्राचीन भारतकी शिल्प-उन्नतिका दृढ़ प्रमाण मिल सकता है। इलोराके गुफामन्दिरको देखकर तो पश्चिमी लोग स्तब्ध हो गये हैं। उनकी वुद्धिमें ही यह वात नहीं आती कि पहाड़ खोदकर इतनी मूर्तियाँ व इसप्रकारके मकानात कैसे वन सकते हैं। प्रोफेसर हीरेनने इसके विषयमें कहा है कि इलोराके गुफाद्वारमें प्रवेश करते समय हृद्कम्प होता है कि ऐसे ऐसे हल्के स्तम्भोंके ऊपर इतना विशाल छत्र कैसे रक्खा गया है और दोनोंके वजन और शक्तिके अनुपातका हिसाव किस तरहसे किया गया है। इसको सोचकर प्राचीन आर्यशिल्पकी अपूर्वताके विषयमें अनुमान होता है। पहाड़के गात्रपर खोदा हुआ इसप्रकारका शिल्पकला युक्त सुन्दर मन्दिर पृथिवीमें और कहीं भी नहीं है। प्राचीन आर्यजातिकी शिल्प-विद्याका यह अद्वितीय प्रमाण है। इसी प्रकार पूनेके पास कारोलिका गिरिगुफा,

सालसती गुफा, अयन्ता गिरिगुफा आदि सभी प्राचीन आर्यशिल्पकी पराकाष्ठाके परिचायक हैं। उदयगिरि व खंडगिरिमें जो शिला मन्दिर प्रतिष्ठित हैं, भुवनेश्वरमें जो अपूर्व मन्दिर विराजमान है, इन सभोंकी तुलना संसारमें कम ही मिलती है। फर्गुसन साहवने कहा है कि डाट बनानेका कौशल प्राचीन आर्यजाति ही जानती थी और यह कौशल भारतवर्षसे ही अन्यदेशोंमें प्रचारित हुआ है। अध्यापक वेवर साहबने कहा है कि पश्चिमी देशोंमें धर्मालयोंका शिखर भारतवर्षके बौद्धमन्दिरों-के शिखरोंके अनुकरण पर निर्माण किया गया है। हन्टर साहवने कहा है कि वर्त्तमान समयमें अङ्गरेज शिलिपगण जो कुछ शिल्पनैपुण्यका परिचय दे रहे हैं इनमेंसे अधिकाँश शिल्प आर्यशिल्पिके अनुकरण पर ही बना हुआ है। किसी किसीका यह कहना है कि सारासेन जातिने ही प्रथम डाटनिर्म्माणका आवि-ष्कार किया था। परन्तु कर्नल टाड साहवने स्वप्रणीत राजस्थान नामकं ग्रन्थमें प्रतिपादन किया है कि सारासेन जातिने प्राचीन आर्यजातिसे ही उस प्रकारके डाट बनानेकी पद्धति सिखी थी। इस प्रकारसे अनुसन्धान द्वारा सिद्ध होता है कि प्राचीन आर्यजातिने स्थापत्य विद्या व शिल्पकलाकी विशेष उन्नति की थी, जिसका कङ्काल आज भी सर्वत्र देखनेमें आ रहा है।

इस प्रकार सर्वतोमुखिनी उन्नतिके साथ सर्वतोगामिनी व्यापकता-के भी भूरि भूरि प्रमाण आर्यजातिमें देखेनेमें आते हैं। प्राचीन कालमें आर्यजाति देशविजय, राज्यविस्तार, देशपर्यटन, उपनिवेशस्थापन, वाणिज्यवृद्धि आदिके लिये पृथिवीके सब देशोंमें ही गमन करती थी; इसका प्रमाण पाश्चात्य व एतद्देशीय सभी प्रत्नतत्वविज्ञ पण्डितोंने दिया है। ऐतरेय ब्राह्मणमें राजा सुदासके विषयमें लिखा है उन्होंने ससागरा पृथिवीको जय करके सर्वत्र ही अपना अधिकार विस्तार किया था। एल्फिन्स्टन व ष्ट्रोन साहबने कहा है कि पारसदेशका तो तिहाई अंश प्राचीनकालमें हिन्दुओं के अधीन था। कर्नल टाड साहबने कहा है मुसलमानी राज्यके पहले हिन्दुओं-का अधिकार मध्यएशियाके अनेक स्थानोंमें था। वेबर साहबने अपने प्रणीत Indian Literature नामक ग्रन्थमें अनेक प्रमाणोंके द्वारा बताया है कि प्राचीन कालमें ग्रीस व रोमके साथ आर्यजातिका बहुत ही सम्बन्ध था। हिन्दू राजाओंके प्रासादोंमें ग्रीक स्त्रियाँ दासीरूपसे रहा करती थीं और वहाँके दूत यहाँ और यहाँके दूत वहाँ प्रायः यातायात करते थे। भारतवर्षकी प्रकृति पूर्ण होनेसे आदि सृष्टि यहाँ ही हुई थी इसका विज्ञान पहले ही कहा गया है।

पृथिवीकी आदि जाति आर्यगण 'पृथिवी पाल' थे इसका भी प्रमाण पहले ही दिया गया है। यही पृथिवीपालक आर्यजाति प्राचीन कालमें पृथ्वी भरमें विस्तृत होकर राज्यविस्तार व उपनिवेश-स्थापन करती थी, जिसका चिह्न आज भी सर्वत्र विद्यमान है। दृष्टान्तरूपसे थोड़ा सा वर्णन किया जाता है।

पञ्चदश शताब्दिके बीचमें कोलम्बसके द्वारा अमेरिकाका आविष्कार हुआ था, इस बातको पढ़कर अर्वाचीन हिन्दू बहुत ही आश्चर्यान्वित होते हैं। परन्तु उनके पितापितामह आदिने पञ्चदश शताब्दिसे कितने सहस्राब्द पहले अमेरिकाका आविष्कार किया था उसकी खबर दुर्भाग्य, अन्धी, अर्वाचीन हिन्दु जातिको नहीं है। यह खबर अनुसन्धित्सु पाश्चात्य पण्डितोंको है। उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें लिखा है कि जिस समय यूरोपीय जातिने अमेरिकामें प्रथम उपनिवेशस्थापन किया था उस समय तक वहाँपर प्राचीन हिंदुओंका आचार व्यवहार विद्यमान था। यद्यपि भारतके साथ सम्बन्ध विच्छिन्न होनेसे वहाँके भारतवासियोंके आचारादिमें अनेक फेरबदल हो गये थे, तथापि आर्य आचारादिका चिह्न एकबार ही लुप्त नहीं हो गया था। जर्मनीके प्रसिद्ध-दार्शनिक व परिभ्रमण करनेवाले बैरन हाम्बोल्ट साहबने कहा है कि अमेरिकामें अब भी हिन्दुओंका परिचयचिह्न विद्यमान है। पेरुदेशके लोगोंके आचारोंके विषयमें चर्चा करते समय मि० पोलकने कहा है कि पेरुवासियोंके पितृपुरुषगण किसी समय भारतवासियोंके साथ सम्बन्धयुक्त थे। मि० हार्डिने कहा है कि अमेरिकामें जो प्राचीन प्रासाद-समूह देखनेमें आते हैं वे सब भारतवर्षके मंदिर-शिखरोंकी तरह हैं। मि० स्कयाटने कहा है कि दक्षिण भारत व भारतीय द्वीपोंमें जो बौद्ध-मन्दिर देखनेमें आते हैं, मध्यअमेरिकाकी अनेक अट्टलिकाएँ उसीके अनुकरण पर बनी हुई हैं। प्रेस्कट् व हेलप् साहबने अपने अनेक ग्रन्थोंमें अनेक स्थानोंपर लिखा है कि भारतीय देवदेवियोंके अनुकरण पर ही अमेरिकामें देवदेवियोंकी मूर्त्तियाँ बनाई जाती थीं और उसी प्रकारसे पूजादि हुआ करती थी। भारतवर्षकी तरह पृथ्वीपूजा वहांपर प्रचलित थी। भारतवर्षमें श्रीकृष्णपदचिह्न, श्रीबुद्धपदचिह्न व श्रीदत्तात्रेय आदिके पदचिह्नोंकी पूजाकी तरह मेक्सिकोमें भी 'कोयेट्जालकोटल्' नामक देवताके पदचिह्नकी पूजा होती थी। भारतवर्षकी तरह वहां पर भी सूर्य व चन्द्रग्रहणके समय उत्सव होता था। यहां पर जिस प्रकार राहु द्वारा चन्द्र सूर्यग्रासकी कथा प्रचलित है, वहां पर भी ऐसी ही 'माल्य' नामक दैत्य द्वारा सूर्य-चन्द्रग्रासकी किम्वदन्ती प्रचलित थी। मेक्सिको देशमें हाथीके शिरसे युक्त एक

नरदेवताकी पूजा होती थी। वैरन हम्बोल्ट साहबकी सम्मति है कि उस देवता के साथ हिन्दूदेवता गणेशका सम्पूर्ण सादृश्य मिलता है। भारतवर्षमें 'दशहरा' उत्सवकी तरह मेक्सिकोमें भी प्रतिवर्ष राम सीताके नामसे उत्सव होता था। सर विलियम जोन्सने कहा है कि यह एक प्रख्यात विषय है कि पेरुदेशके इन्सेस् लोग अपनेको सूर्यवंशीय कहते हुए गौरव समझते थे और उनका प्रधान पर्वोत्सव रामसीताका ही उत्सव था। इसीसे सिद्ध होता है कि जिस हिन्दु-जातिने एशियाके देशदेशान्तरमें जाकर रामसीताका इतिहास तथा आर्य आचारों का प्रचार किया था, उसीने दक्षिण अमेरिकामें जाकर उपनिवेशस्थापन भी किया था। इसके सिवाय युगान्तर, खण्डप्रलय, कूर्मपृष्ठपर पृथिवीधारण, सूर्यपूजा आदि कई एक विषयोंमें भारतवर्षके साथ अमेरिकाका सादृश्य था इसका परिचय मिलता है, जिससे प्राचीन आर्यजातिकी व्यापकता सिद्ध होती है। कितने ही पश्चिमी पण्डितोंने तो यह कहा है कि पृथिवीकी सभी जातियोंकी उत्पत्ति आर्यजातिसे हुई है। आर्यजाति ही सब देशोंमें भिन्न भिन्न समय पर जा बसी है। जिससे देशकाल व आचार-भेदानुसार उनमें अनेक भेद पड़ गये हैं। आचार आदिकी भ्रष्टताके कारण आर्य पदवीसे च्युत होकर वे सब अन्य-जाति कहलाने लग गये हैं। मि० पोलक साहबने कहा है कि पञ्जाबके रास्तेसे असंख्य हिन्दू यूरोप व एशियाके कई स्थानोंमें गये थे और वे उन्हीं देशोंके अधिवासी बन गये हैं। प्रोफेसर हीरेनने कहा है कि अन्तर्विवाद अर्थात् अपने ही समाजमें लड़ाई झगड़ेके कारण आर्यगण अन्यदेशोंमें जा बसे हैं। ऐसा मानने पर भी ऐसा तो अवश्य ही मानना पड़ेगा कि भारतवर्षमें हिन्दुओंकी अगणित विशाल जातियोंके बसनेके लिये यथेष्ट स्थान नहीं था, इसलिये अन्यान्य अनेक देशोंमें प्राचीन हिन्दुगणने उपनिवेशस्थापन किये थे, जिससे संसारभर का विस्तार आर्यजातिसे ही हुआ है। मनुसंहितामें क्रियालोप व वेदपाठके अभावसे अनेक क्षत्रियजाति किस प्रकार पतित होकर काम्बोज, शक, यवन, खश, पारद आदि नीचजाति बन गई थी, इसका वर्णन किया गया है, जिसका प्रमाण पहले ही दिया जा चुका है। महाभारतके अनुशासनपर्व व शान्तिपर्वमें भी ऐसी अनेक जातियोंका वर्णन देखनेमें आता है, जो आर्यजातिसे ही क्रिया-लोपके द्वारा बन गई हैं। यथाः—

शका यवनकाम्बोजास्तास्ताः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं परिगता ब्राह्मणानामदर्शनात्॥

द्राविडाश्चकलिन्दाश्च पुलिन्दाश्चाप्युशीनराः ।
कोलिसर्पा माहिषकास्तास्ताः क्षत्रियजातयः ॥
मेकला द्रविडा लाटा पौण्ड्राः कोन्वाशिरास्तथा ।
शौण्डिका दरदा दर्वाश्चौरा शवर वर्वराः ॥
किराता यवनाश्चैव तास्ताः क्षत्रियजातयः ।
वृषलत्वमनुप्रासा ब्राह्मणानामदर्शनात् ॥

(अनुशासन पर्व)

वेदाचारके खण्डित होनेसे शक, यवन आदि जातियाँ क्षत्रिय जातिसे बन गई थीं । इस प्रकार शान्तिपर्वमें:—

यवनाः किराता गांधाराश्चीनाः शवरवर्वराः
शकास्तुशारा कंकाश्च पन्हवाश्चान्ध्रमद्रकाः ॥
पौण्ड्राः पुलिन्दा रमठाः काम्बोजाश्चैव सर्वशः ।
ब्रह्मक्षत्रप्रसूताश्च वैश्याः शूद्राश्च मानवाः ॥
कथं धर्मांश्चरिष्यन्ति सर्वे विषयवासिनः ।
मद्विधैश्च कथं स्थाप्याः सर्वे वै दस्युजीविनः ॥

यवन, किरात, गान्धार आदि जो अनेक जातियाँ चतुर्वर्णसे बन गई हैं उनका धर्म क्या होगा और उनपर शासन भी किस प्रकारसे होगा ऐसा प्रश्न हो रहा है । इसके द्वारा प्राचीन कालमें आर्यजाति पृथिवीकी अन्य सब जातियों पर आधिपत्य करती थी यह भी सिद्ध होता है । मनसियर डेलवो साहबने कहा है कि हजारों वर्ष पहले जो सभ्यता गङ्गाके तट पर विस्तारको प्राप्त हुई थी उसीका प्रभाव आज तक यूरोप व अमेरिका भोग कर रही है और समस्त सभ्य जगत्की दशदिशाओंमें वही प्राचीन आर्यजातीयसभ्यता विस्तृत हो गई है । प्राचीन आर्यगण इस प्रकार भिन्न भिन्न देशोंमें उपनिवेश स्थापन करनेके लिये स्थलपथ व जलपथ दोनोंके द्वारा ही सर्वत्र गमनागमन करते थे । यवद्वीप, बोर्णियो आदि अतिक्रम करके प्राचीन हिन्दूगण अमेरिका जाते थे, ऐसे प्रमाण अनेक स्थानोंमें पाये जाते हैं । पाश्चात्य पण्डितोंकी आलोचना द्वारा सिद्ध हुआ है कि वेरिङ्ग प्रणाली (State) का अस्तित्व पहले नहीं था । उस समय रूस देशके उत्तरपूर्व प्रान्तीय स्थानोंके साथ उत्तर अमेरिकाके आलास्का देशका

सयोग था जिससे भारतवासीगण चीन, मंगोलिया व साइवेरिया होकर अमेरिका जाया करते थे। बौद्धधर्मके प्रादुर्भावके समय बौद्ध मिशनरीगण अमेरिकामें जाया आया करते थे। चीन देशके इतिहासमें इसका प्रमाण मिलता है। प्राचीन मिश्र या वर्तमान अफ्रिका देशमें प्राचीन आर्यगणने जो उपनिवेश स्थापन किया था उसका वृत्तान्त पहले ही कहा गया है। कई एक आचारभ्रष्ट क्षत्रियोंको राजा सगरने समाजच्युत किया था। वे ही शक, यवन व पारद कहे जाते हैं। भारतवर्षको छोड़कर इन लोगोंने नानादेशोंमें जाकर उपनिवेश स्थापन किये थे। किसी किसीकी सम्मति है कि इन भ्रष्ट क्षत्रियोंमेंसे 'पारद' लोगोंके द्वारा ही 'पारस्य' देशका नामकरण हुआ है और किसी किसीके मतमें परशुरामके अनुचरगणके द्वारा ही पारस्य देशका नामकरण हुआ है। श्रीरामचन्द्रके किसी वंशजके द्वारा रोमराज्यकी प्रतिष्ठा और मगध राजगणके द्वारा ग्रीसराज्यकी प्रतिष्ठा अनेक पाश्चात्य पण्डितोंकी गवेषणाके द्वारा सिद्ध हुई है। प्राचीन ग्रीसका नाम यवनराज्य था। जर्मन देशमें मनुके वंशजोंने उपनिवेश स्थापन किया था। तुरस्क व उत्तर एशियामें हिन्दुओंका ही आधिपत्य था। इन बातोंके अनेक प्रमाण मिलते हैं। चीन देशमें आर्यगणका आधिपत्य जमा था, इसका वृत्तान्त चीनदेशीय धर्म व जातितत्वके देखनेसे निश्चित होता है। अब भी चीन देशके लोग अपनेको आर्यवंशीय कहकर परिचय देते हैं। प्राचीन ब्रिटेन द्वीप भी किसी समय आर्यगणका अधिकारभुक्त था। आजकल अनेक पाश्चात्य पण्डितोंको गवेषणाके फलसे ऐसाही स्वीकार करना पड़ता है। वे कहते हैं कि प्राचीन ब्रिटेनके 'ड्रुइद' पुरोहित गणकी उत्पत्तिके मूलमें आर्यब्राम्हणगण अथवा बौद्धधर्मीय याजकगणका प्राधान्य अवश्य ही विद्यमान था। जम्बु, प्लक्ष, पुष्कर, क्रौञ्च, शक, शाल्मली व कुश इन सात द्वीपोंकी प्रसङ्ग पर चर्चा करके कर्नल विलफोर्ड आदि प्रमुख पाश्चात्य पण्डितोंने जो सिद्धान्त किया है उससे प्रमाणित होता है कि प्राचीन कालमें समस्त पृथिवी ही आर्यजातिकी अधिकारभुक्त थी। कालकी कुटिलगतिसे प्राचीन आर्योंके अधिकारभुक्त अनेक स्थानोंका नाम परिवर्तन होनेसे आर्यजातिकी अधिकार-सीमाका पता ठीक ठीक नहीं चलता; परन्तु थोड़ा ही ध्यान देकर विचार करनेसे आर्यजातिके 'पृथिवी पाल' लक्षणकी चरितार्थता पूर्णतया प्रतीत हो जायगी। आर्यजातिका अधिकारभुक्त प्राचीन गान्धार वर्तमान कन्दाहार है। प्राचीन काम्बोज वर्तमान काम्बोडिया है।

प्राचीन पन्हव व पारद वर्तमान पारस्य है। प्राचीन यवन आधुनिक ग्रीस है। प्राचीन दरद वर्तमान चीन है। प्राचीन खस वर्तमान पूर्व युरोप है। इस तरह प्राचीन देशोंकी नामावलीका पता लग सकता है, जिससे आर्यजातिका समस्त पृथिवी पर अधिकार सिद्ध होता है। अव भी यव और वाली द्वीपके लाखों हिन्दू अधिवासी, काम्वोडियाके अपूर्व मन्दिरोंके ध्वंसावशेष और पृथिवीके प्रधान अंशोंमें वौद्धधर्म्मका विस्तार आर्य्यजातिकी सर्वत्र व्यापकताको सिद्ध कर रहे हैं।

प्राचीन कालमें इस प्रकार पृथिवीके सर्वत्र जाने आनेके लिये आर्यगणके पास यान आदिका भी अभाव नहीं था। प्राचीन इतिहास पुराणादिमें जो द्रुत-गामी रथ, पोत आदिका प्रमाण मिलता है—जिनके द्वारा थोड़े समयमें ही स्थल, जल व आकाशमार्गमें वहुत दूर तक जानेकी वात वताई गई है—उनके द्वारा आधुनिक जहाज, वेलून, यारोप्लेन आदिका अस्तित्व सिद्ध होता है। ऋग्वेदके प्रथम मण्डलमें ३७ सूक्तकी प्रथम ऋक् यह हैः—

क्रीळं वः शर्द्धोमारुतमनर्वाणं रथे शुभम्।
कण्वा अभिप्रगायत।

इसमें 'अनर्वाणं' शब्दका अर्थ 'अश्वरहित' है और 'मारुत' शब्दका तात्पर्य्य मरुत्‌दत्त या .वाष्पदत्त वलसे है। अतः पूरे ऋक्‌का यह अर्थ निकलता है कि हे कण्वगोत्रोत्पन्न महर्षिगण! जिस प्रकारसे वाष्पके प्रभावसे अश्वरहित रथ चल सकता है, उसकी शिक्षा हमें दीजिये। अतः इस ऋक्‌के द्वारा अश्वरहित वाष्पीय रथ प्राचीन कालमें था ऐसा सिद्ध हुआ। ऋग्वेदके प्रथम मण्डलके ९७ सूक्तमें लिखा हैः—

द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय।
स नः सिन्धुमिव नावयाति पर्षाः स्वस्तये॥

हे विश्वतोमुख देव! तुम हमारे शत्रुओंको जहाज़से पार करनेकी तरह दूर भेज दो और हमारे कल्याणके लिये हमें जहाज़के द्वारा समुद्र पार ले चलो। इस प्रकार और भी अनेक मन्त्रोंके द्वारा प्राचीन कालमें अर्णवपोत आदिके भी अस्तित्वका प्रमाण मिलता है। केवल समस्त पृथिवी पर अधिकार विस्तारके लिये ही नहीं, अधिकन्तु वाणिज्य आदिके लिये भी प्राचीन आर्यगण पृथिवीके सर्वत्र जाया आया करते थे। ऋग्वेदके चतुर्थ मण्डलके ५५ सूक्तमें

धनलाभेच्छु वणिकगणके समुद्रयात्राका वृत्तान्त लिखा हुआ है। प्रोफेसर म्याक्स डंकारने कहा है कि खृष्टजन्मके २००० वर्ष पहले आर्यजाति जहाज़ प्रस्तुत करना जानती थी और समस्त पृथिवीके साथ उसका वाणिज्य कार्य चलता था। प्रोफेसर हीरेन साहवने कहा है कि प्राचीन हिन्दुगण एक प्रकारका जलयान प्रस्तुत करना जानते थे, जिस पर चढ़कर करमण्डल तट, गङ्गातटस्थ अनेक देश, ग्रीस व मछलिपट्टनके अनेक प्रदेशोंके साथ वे वाणिज्य करते थे। हिन्दूशास्त्रमें ,भी इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं जिससे सिद्ध होता है कि प्राचीन आर्यगण काष्ठ विज्ञानको भली प्रकारसे जानते थे और इसी विद्याकी सहायतासे उत्तम व दृढ़ जहाज प्रस्तुत करके देशविदेशमें आया करते थे। वृक्ष-आयुर्वेदके मतानुसार काष्ठ भी चार वर्णों के होते थे। यथाः—

लघु यत्कोमलं काष्ठं सुघटं ब्रह्मजाति तत्।
दृढांगं लघु यत्काष्ठमघटं क्षत्रजाति तत्॥
कोमलं गुरु यत्काष्ठं वैश्यजाति तदुच्यते।
दृढांगं गुरु यत्काष्ठं शूद्रजाति तदुच्यते॥
लक्षणद्वययोगेन द्विजातिः काष्ठसंग्रहः॥

जो काष्ठ हलका, नरम व दूसरे काष्ठसे अच्छी तरह मिल सकता है वही ब्राह्मणजातिका काष्ठ है। जो काष्ठ हलका व दृढ़ है और अन्य काष्ठसे मिल नहीं सकता, वह क्षत्रियजातिका काष्ठ है। नरम व भारी काष्ठ वैश्यजातिका है और दृढ़ व भारी काष्ठ शूद्रजातिका है। दो जातिके काष्ठोंके गुणयुक्त काष्ठ द्विजातीय वर्णसंकर काष्ठ कहलाते हैं। पूर्वोक्त लक्षणानुसार चार वर्णोंके काष्ठ जलयान वनानेके काममें आते थे। उपर्युक्त श्लोकोंके द्वारा इस ग्रन्थके द्वितीय खण्डमें वर्णधर्म नामक अध्यायमें जो वृक्षोंमें भी चार वर्णों की व्यवस्था बताई गई है, उसका प्रमाणित होना सिद्ध होता है। भोजराजने उल्लिखित चतुर्वर्णके काष्ठोंमेंसे जहाज प्रस्तुत करनेके लिये कौन कौन काष्ठ किस प्रकारसे उपयुक्त हो सकते हैं और काष्ठ द्वारा जहाज किस प्रकारसे वनाया जाना चाहिये सो वर्णन किया है। यथाः—

क्षत्रियकाष्ठैर्घटिता भोजमते सुखसम्पदं नौका।
अन्ये लघुभिः सुदृढैर्दधति जलदुष्पदे नौकाम्॥

विभिन्नजातिद्वयकाष्ठजाता न श्रेयसे नापि सुखाय नौका।
नैषा चिरं तिष्ठति पच्यते च विभिद्यते सरिति मज्जते च॥

भोजराजके मतानुसार क्षत्रिय-काष्ठ-निर्मित जलयान ही सुख व धनका देनेवाला होता है। अधिक जलमें तैरनेके लिये भी इस प्रकार लघु व दृढ़काष्ठ-युक्त-यान ठीक होता है। वर्णसङ्कर काष्ठ अर्थात् विभिन्न दो जातियोंके काष्ठ द्वारा निर्म्मित जलयान कदापि मंगल व सुख देनेवाला नहीं होता, क्योंकि ऐसा यान बहुत दिनों तक काम नहीं दे सकता, शीघ्र ही सड़ जाता है, थोड़ा आघात पानेसे ही फट जाता है और समुद्रमें डूब जाता है।

युक्ति-कल्पतरुमें आकारके भेदके अनुसार जहाजोंके दस भेद बताये गये हैं। यथाः—

क्षुद्राथ मध्यमा भीमा चपला पटला भया।
दीर्घा पत्रपुटा चैव गर्भरा मन्थरा तथा॥

आकार भेदानुसार जलयानके दस भेद होते हैं। यथाः—क्षुद्रा, मध्यमा, भीमा, चपला, पटला, भया, दीर्घा, पत्रपुटा, गर्भरा व मन्थरा। ये सब भेद सामान्य जलयान अर्थात् नदीमें जानेवाले जलयानके हैं। इनके अतिरिक्त समुद्रमें जानेवाले अर्थात् विशेष दीर्घ जलयानके भी दस भेद हैं। यथाः—

दीर्घिका तरणिर्लोला गत्वरा गामिनी तरिः।
जंघाला प्लाविनी चैव धारिणी वेगिनी तथा॥

दीर्घिका, तरणि, लोला, गत्वरा, गामिनी, तरि, जंघाला, प्लाविनी, धारिणी व वेगिनी। महाभारतके आदिपर्वमें लिखा हैः—

ततः प्रवासितो विद्वान् विदुरेण नरस्तदा।
पार्थानां दर्शयामास मनोमारुतगामिनीम्॥
सर्ववातसहां नावं यन्त्रयुक्तां पताकिनीम्।
शिवे भागीरथीतीरे नरैर्विश्रम्भिभिः कृताम्॥

महात्मा विदुरजीने पाण्डवोंकी रक्षाके लिये गङ्गातटपर ऐसे एक विश्वासी पुरुषोंसे अधिष्ठित जहाजको भेज दिया, जिस जहाजमें सभी प्रकारके यन्त्र थे, ध्वजा थी और पवनवेगको सहन करनेकी भी शक्ति थी। रामायणके अयोध्याकाण्डमें लिखा हैः—

नावां शतानां पञ्चानां कैवर्त्तानां शतं शतम्।
सन्नद्धानां तथा यूनान्तिष्ठन्त्वित्यभ्यचोदयत्॥

शत्रुओंके पन्थारोध करनेके लिये शत शत कैवर्त युवक ५०० जलयानोंमें इधर उधर छिपे रहे। ऐसे अनेक प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि प्राचीन कालमें आर्यगण जहाज आदि जलयान वनानेके कौशलको पूर्णतया जानते थे और इस प्रकार अर्णवपोत आदिमें चढ़कर दिग्विजय व वाणिज्य आदिके लिये समुद्रपथसे दूर दूर देशोंमें यातायात करते थे।

वाणिज्यके विषयमे प्राचीन आर्य-इतिहासकी पर्यालोचना करनेसे पता लगता है कि आज कलकी तरह प्राचीन हिन्दुजाति विदेशीय लोगोंके हाथमें समस्त वाणिज्य धनको सौंपकर दीन हीन भिखारी व परमुखापेक्षी नहीं हो गई थी, किन्तु अपनी अनुपम वाणिज्य समृद्धिके द्वारा समस्त संसारकी अधिपति थी। प्राचीन कालमें भारत अतुल ऐश्वर्यसम्पन्न होनेके कारण स्वर्णभूमि कहलाता था, आर्यजातिका वाणिज्य ही इसका प्रधान कारण था। मिस म्यानिङ्गने कहा है कि भारतवर्षकी अनेक वस्तुएँ देशान्तरमें देखनेसे तथा संस्कृत ग्रन्थोंके प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि प्राचीन आर्यजाति वाणिज्यपरायण जाति थी। मि० एलफिन्ष्टोनने कहा है कि मनुजीके समयमें भी आर्यगण समुद्रपथसे वाणिज्य करतेथे क्योंकि उनके ग्रन्थ पढ़नेसे ऐसा ही निश्चय होता है। मैक्स डनकर साहवने कहा है कि खृष्ट जन्मसे दश शताब्दि पहले फिनिशियन् जातिके साथ आर्यजातिका हस्तिदन्त, चन्दन-काष्ठ, स्वर्ण, रौप्य, मणि व मयूर आदिका वाणिज्य चलता था। यह एक प्रसिद्ध वात है कि ग्रीकजातिने भारवासियोंसे ही चीनीका व्यवहार पहले सीखा है। अंग्रेजी सुगर शब्द संस्कृत 'शर्करा', से ही वना हुआ है। पश्चात् अरव, पारस्य व यूरोपके अनेक देशोंमें इसका प्रचार हुआ है। मि० मण्डारने कहा है कि सेलूसिडिके राज्यकालमें भी सिरियाके साथ आर्यजातिका वाणिज्य चलता था। भारतवर्षके लोह, अलंकार व वहुमूल्य वस्त्र जहाजोंके द्वारा यहांसे व्याविलोन व टायर देशमें जाया करते थे। मिश्र देशके साथ वाणिज्य सम्बन्धके विषयमें तो पहले ही कहा गया है। रेशम, प्रवाल, मुक्ता, हीरा आदिका व्यापार सदा ही मिश्र व तदन्तर्गत अलगजेण्ड्रियासे था। हस्तिदन्त व नीलका वाणिज्य ग्रीसके साथ प्राचीन आर्यजातिका था। रोमके साथ भारतवासियोंका नाना प्रकारके सुगन्धी द्रव्य व

मसालोंका व्यापार था, ऐसा प्रो० हीरेन साहबने कहा है। प्राचीन रोम देशकी स्त्रियाँ भारतीय रेशम व सुगन्ध द्रव्यको इतना पसन्द करती थीं कि सोनेके दामसे उसे खरीदती थीं। प्लैनी साहबने दुःखप्रकाश किया है कि इस प्रकारसे रोमके सकल प्रान्तोंसे भारतवर्षमें प्रतिवर्ष ४० लाख रुपया चला जाता था। इस प्रकार वाणिज्यके विषयमें पाश्चात्य पण्डितोंके प्रमाणोंके अतिरिक्त हिन्दूशास्त्रीय प्राचीन व आधुनिक ग्रन्थोंमें भी अनेक प्रमाण मिलते हैं। ऋग्वेदके चतुर्थ मण्डलमें इस प्रकार आर्यवणिक्गणकी समुद्रयात्राके विषयमें जो वर्णन है, सो पहले ही कहा गया है। याज्ञवल्क्य संहितामें एक स्थानपर लिखा है:—

ये समुद्रगा वृद्ध्या धनं गृहीत्वा अधिकलाभार्थं प्राणधन-विनाशशंकास्थानं समुद्रं गच्छन्ति ते विंशं शतकं मासि मासि दद्युः।

इसमें अधिक लाभके लिये रुपया लेकर आर्य वणिक्गण समुद्र यात्रा करते थे ऐसी सूचना की गई है। वृहत् संहितामें लिखा है:—

स्वातौ प्रभूतवृष्टिर्दूतवणिङ् नाविकान् स्पृशत्यनयः।
ऐन्द्राग्नेऽपि सुवृष्टिर्वणिजां च भयं विजानीयात्॥
अथवा समुद्रतीरे कुशलागतरत्नपोतसम्बन्धे।
धननिचुललीनजलचरसितखगशवलीकृतोपान्ते॥

इसमें पहले श्लोकमें स्वाति नक्षत्रके साथ वृष्टिका सम्बन्ध बताकर समुद्र-यात्रा करनेवाले आर्यवणिजक्जनोंको सावधान किया गया है और दूसरे श्लोकमें समुद्रतीरपर जहां कि धनरत्नसे भरे हुए जलयानके समूह विदेशसे वाणिज्य करते हुए आते हैं, वहां स्नान करनेका माहात्म्य लिखा गया है। वायु-पुराण, मार्कण्डेयपुराण व भागवतपुराणमें आर्यवणिक्गणके जलपथसे वाणिज्य करनेके विषयमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। वाराहपुराणमें गोकर्ण नामक एक वणिक्के विषयमें लिखा है कि उसने वाणिज्य करनेके लिये समुद्रमें जाकर आंधीके द्वारा बड़ा ही कष्ट पाया था और वह डूबता हुआ बच गया था। उसी पुराणमें और एक स्थानपर लिखा है:—

पुनस्तत्रैव गमने वणिग्भावे मतिर्गता।
समुद्रयाने रत्नानि महास्थौल्यानि साधुभिः॥

रत्नपरीक्षकैः सार्द्धमानयिष्ये वहूनि च।
एवं निश्चित्य मनसा महासार्थपुरःसरः॥
समुद्रयायिभिर्लोकैः संविदं सूच्य निर्गतः॥
शुकेन सह संप्राप्तो महान्तं लवणार्णवम्।
पोतारूढास्ततः सर्वे पोतवाहैरुपोषिता॥

इन श्लोकोंमें स्पष्ट रूपसे कहा गया है कि भारतीय वणिक् लोग प्राचीन कालमें मुक्ता आदि रत्नोंके प्राप्त करनेके लिये रत्नपरीक्षक लोगोंके साथ समुद्रयानमें दूर दूर जाते थे। केवल जलपथमें ही नहीं—अधिकन्तु स्थलपथमें भी—प्राचीन आर्यजातिने समस्त पृथिवीके साथ वाणिज्य सम्बन्ध स्थापन किया था। चीन, तुर्किस्तान, पारस्यदेश, वैविलोन, मिशर, ग्रीस, रोम आदि देशोंके साथ आर्यजातिके स्थलवाणिज्यका भी सम्बन्ध था। प्रो० हीरेन ने कहा है कि पश्चिम एशियाके पामीरियान् लोगोंके साथ हिन्दुओंका स्थलपथमें वाणिज्य था। इस पामीराके पथसे हिन्दुगण रोममें यातायात करते थे। वहांसे सिरियाके वन्दरमें होकर अनेक पश्चिमी देशोंके मार्ग वने हुए थे। स्थलपथसे वाणिज्यका दूसरा भी एक मार्ग वना हुआ था। यथाः—हिमालयको पार कर अकसस्, वहांसे कसपियन् सागर और वहांसे क्रमशः यूरोपके वाजारों में। इस प्रकार कई मार्गोंसे हिन्दुजातिका स्थलपथसे वाणिज्य चलता था।

यद्यपि आर्य्यजातिके प्राचीन शास्त्रीय ग्रन्थोंका वड़ा भारी हिस्सा लुप्त हो गया है और उसका केवल एक सहस्रांश इस समय मिलता है ऐसा कहनेसे अत्युक्ति नहीं होगी; तौ भी जितने ग्रन्थ इस समय मिलते हैं उनकी ही आलोचनासे यह सिद्ध होता है कि आध्यात्मिक और आधिदैविक जगत्के विस्तारित ज्ञान लाभ करनेमें प्राचीन आर्य्यजातिने ऐसी वड़ी योग्यता दिखाई है, जिसकी आजतक पृथिवीकी और कोई जाति कल्पना भी नहीं कर सकी है। आर्य्यजातिके सप्तदर्शन विज्ञान, आर्य्यजातिकी मन वाणीसे अगोचर ईश्वरज्ञानकी विलक्षणता, आर्य्यजातिका भगवत्सम्बन्धीय ब्रह्म, ईश और विराट्रूपोंका अनुभव, आर्य्यजातिकी सगुण और निर्गुण उपासना पद्धति, आर्य्यजातिकी अलौकिक योगसाधन-पद्धति, आर्य्यजातिके कर्म्मविज्ञानका महत्व और आर्य्यजातिके मुक्तितत्व आदिकी वरावरी पृथिवीकी और कोई शिक्षित जाति न कर सकी है और न कर सकेगी। अतीन्द्रिय अधिदैव सूक्ष्म राज्यके विषयमें आर्य्यजातिने जो

कुछ बड़ा भारी आविष्कार किया है उसको विश्वास करने तककी शक्ति अभी-तक पृथिवीकी और किसी जातिमें पैदा नहीं हुई है। आर्य्यजातिके ऋषि देवता और पितरोंके अस्तित्व और उनकी शक्तिका विज्ञान, आर्य्यजाति द्वारा आविष्कृत सप्त ऊर्द्धलोक, सप्त अधोलोक स्वर्गलोक, नरकलोक, पितृलोक, प्रेतलोक आदिविविधलोकोंकी विचित्रता, आर्य्यजातिका अवतारतत्व, आर्य्यजातिके गभीर गवेषणापूर्ण तीर्थ और भगवत् शक्तिमय पीठ आदिकी महिमाके समझनेकी शक्ति और आर्य्यजातिकी देवता आदिसे साक्षात्कार करनेकी शैली इत्यादि अनेक बातें विज्ञान शास्त्र (सायन्स) की ऐसी उन्नतिके समयमें भी पृथिवीके नीचे दबे हुए गुप्त खजानेकीसी प्रतीत होती हैं।

अतः पूर्वापर समस्त इतिहासकी पर्यालोचना तथा विचारके द्वारा निश्चय हुआ कि आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक सकल विषयामें ही पूर्णप्रकृतिमयी भारतमाताके पवित्र अङ्कमें शोभायमान प्राचीन आर्यजाति सर्वतोमुखिनी उन्नतिकी पराकाष्ठा तक पहुँच गई थी, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

आर्यजातिके लक्षण, आदि निवासस्थान तथा गौरवके विषयमें वर्णन किया गया। अब नीचे इस जगत्पूज्य आर्यजातिके साथ अनार्यजातिकी विशेषता बताई जाती है। पहले ही कहा गया है कि यास्क मुनिने आर्यजातिका लक्षण वर्णन करते समय उसको 'ईश्वरपुत्र' कहा है। अनार्यजातिके साथ विशेषताके विषयमें आर्यजातिका यही एक प्रधान लक्षण है। जिस जातिकी जीवन-प्रवाहिनी कल्याणवहा होकर अमृतसिन्धुकी ओर अविरामगतिसे धावमाना होती है, जिस जातिकी समस्त चेष्टा, आचार, नित्य-नैमित्तिक-काम्य आदि समस्त कार्योंके मूलमें अध्यात्मलक्ष्य ही रहता है, जो जाति खान पानसे लेकर जीवनसंग्रामका सकल पुरुषार्थ ही पारलौकिक कल्याण और मुक्तिलाभके लिये किया करती है, गीताविज्ञानके अनुसार अग्निके धूमावरणकी तरह समस्त कार्य दोष युक्त होने पर भी अमृतकी मधुर धारासे सिंचित होकर जिस जातिका समस्त कार्य निर्दोष व निःश्रेयसप्रद हो जाता है वही जाति आर्यजाति है। और जिस जातिके किसी कार्यके मूलमें अध्यात्मलक्ष्य नहीं है, जो जाति मुक्तिको लक्ष्यकरके कार्य नहीं करती किन्तु स्थूलशरीरके वैषयिक विलासके लिये ही कार्य करती है, स्थूलसंसारकी उन्नतिमें ही जिस जातिका पुरुषार्थ प्रारम्भ व परिसमाप्त होता है, वही जाति हिन्दू शास्त्रोंके अनुसार अनार्यजाति है। हिन्दुशास्त्रोंमें

आर्य्यजाति और अनार्य्यजातिका जो भेद वर्णन किया गया है सो मनुष्यजातिके किसी शारीरिक लक्षणके विचारसे नहीं किया गया है। वेदसम्मत शास्त्रोंमें आर्य्यजाति और अनार्य्यजातिका भेद मनुष्यजातिके धार्मिक विचार और जीवनके लक्ष्यके अनुसार किया गया है। इस कारण हिन्दूशास्त्रके "आर्य्य" शब्द और पाश्चात्य साहित्यके "एरियन" शब्दमें आकाश पातालकासा अन्तर है।

संसारमें जीवनधारण कौन नहीं करता है। एक पशु भी प्रकृतिदत्त अन्नसे परिपुष्ट होकर अपनी निर्दिष्ट आयुको विताया करता है। परन्तु यथार्थ आर्यसुलभ जीवनधारण वही है जिसमें आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त होकर अपना और जगत्‌का परम कल्याण साधन हो। अन्यथा प्रकृतिमाताका अन्न ध्वंस करके विषयके पङ्किल प्रवाहमें अपनी आत्माको डालकर जीवन विताना अनार्यसुलभ जीवनधारण है। बाल्यजीवन सार्थक तभी है, जब बाल्यजीवनके सदाचरण व शिक्षा द्वारा यौवनजीवन धर्ममय व आत्मोन्नतिमय हो। यौवनजीवन सार्थक तभी है, जब यौवनजीवनके यथार्थ यापनके फलरूपसे वृद्धावस्थामें आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त हो। वृद्धावस्थाकी सार्थकता तभी है, जब वार्द्धक्यकी मुनि-वृत्तिके द्वारा पुनर्जन्म मधुरिमामय हो जाय। इहलोककी सार्थकता तभी है, जब इहलोकके धर्मपुरुषार्थके द्वारा परलोक सुधर जाय। जन्म वही यथार्थ है, जिसके द्वारा पुनर्जन्मका निरोध होकर दुःखमय संसारमें जन्ममरणका चक्र शान्त हो जाय। मृत्यु वही यथार्थ है, जिसके कारण अमृतके अतलसिन्धुमें स्नान करके पुनर्मृत्युका निरोध हो। जीवनका एक मुहूर्त्त या एक अवस्था यदि दूसरे मुहूर्त्त या दूसरी अवस्थाकी उन्नतिका कारण हो; तो वह मुहूर्त्त या वह अवस्था सार्थक है। अन्यथा सुखदुःखमय अनित्य संसारमें कौन नहीं जीता मरता है? यही आर्यजातीय भावके अनुसार जीवनयात्राका विचार है। इससे विरुद्ध जो कुछ विचार हैं सो अनार्य विचार हैं। हम आर्य इसलिये हैं कि हम spiritual हैं। हमारी जीवनगति material में प्रारम्भ होकर spiritual में जा समाप्त होती है। हमारे लिये material end नहीं है परन्तु spiritual end है और material means to that end है। हमारे पास material का कोई मूल्य नहीं है, यदि वह spiritual को वाधा देवे और उसका सहायक न होवे। तात्पर्य्य यह है कि आर्य्यजातिकी सब शारीरिक और मानसिक चेष्टा उसकी आत्माकी उन्नतिके लिये है। यदि ऐहलौकिक उन्नतिकी उसमें कुछ इच्छा भी हो तो सो भी आत्माकी उन्नतिकी सहायक होनी चाहिये। हमारा ब्रह्मचर्य-आश्रम तभी यथार्थमें

ब्रह्मचर्याश्रम होगा, जब उसके द्वारा गृहस्थाश्रममें धर्ममूलक प्रवृत्ति करनेकी शिक्षा लाभ हो। हमारे गृहस्थाश्रमकी प्रवृत्ति तभी धर्ममूलक यथार्थ प्रवृत्ति होगी, जब उसके द्वारा वानप्रस्थ व संन्यास आश्रममें पूर्ण निवृत्तिकी सहायता हो। हमारा वानप्रस्थाश्रम तभी सार्थक होगा, जब उसके द्वारा संन्यास की सिद्धि हो। हमारा संन्यास आश्रम तभी सत्य संन्यास होगा, जब उसके द्वारा निःश्रेयस पदवी पर प्रतिष्ठा लाभ हो। अन्यथा ब्रह्मचारी बनकर कपटाचारी होना, गृहस्थ बनकर घोर विषयी होना, वानप्रस्थ होकर ऊपरका आडंबर मात्र बताना और संन्यासी होकर असंयमी व प्रच्छन्नविषयी होना अनार्य भाव है। हमारा होम यदि केवल स्थूल प्रकृति पर प्रभाव डालकर वायुशुद्धि मात्र करके शक्तिहीन होजाय, तो इस प्रकारका होम आर्योंका होम नहीं कहा जा सक्ता। आर्यलक्षणयुक्त होम तभी होगा जब अग्निसमर्पित होम अग्निमुख देवताओंके साथ अधिदैवसम्बन्ध स्थापन करके अधिदैवशक्तिकी प्रसन्नता व सम्वर्द्धनाके द्वारा संसारमें धन, धान्य, पशु, प्रजा, शक्ति, सुख और समृद्धिकी वृद्धि करेगा। जैसा कि मनुजीने कहा है:—

अग्नौ प्रस्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥

अग्निमें प्रक्षिप्त आहुति सूर्यात्माको प्राप्त होती है और इसप्रकार समस्त दैवीशक्तिके मूलरूप सूर्यात्माकी तृप्ति होनेसे प्रसादफलरूप वृष्टि, वृष्टिसे अन्न और अन्नसे प्रजाकी उत्पत्ति होती है। यही यथार्थमें आर्यहोम है। संसारमें दग्धोदरपूर्त्तिके लिये भोजन कौन नहीं करता है। परन्तु आर्यभोजन केवल उदरपूर्त्तिके लिये नहीं है, अधिकन्तु वैश्वानरको आहुति प्रदान द्वारा उनकी तृप्तिसाधन करनेके लिये है। यदि आर्यजाति केवल रसनेन्द्रियकी तृप्ति व विलासलोलुपताके लिये भोजन करे तो इस प्रकारका भोजन अनार्यभोजन होगा। आर्यजातिका भोजन स्थूल शरीरकी रक्षाके लिये है और स्थूलशरीरकी भी रक्षा केवल सूक्ष्मशरीरकी रक्षाके द्वारा आत्मोद्धार करनेके लिये है। श्रीभगवान्ने गीताजीमें कहा है:—

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

यज्ञद्वारा परितुष्ट होकर देवतागण धनादि भोग्यवस्तु प्रदान करेंगे। परन्तु उनके द्वारा प्रदत्त वस्तुओंको उन्हें निवेदन न करके जो भोजन करता है वह चोर है। यज्ञावशिष्ट अन्न प्रसादरूपसे भोजन करनेपर समस्त पापसे जीव निर्मुक्त होता है। केवल अपनी उदरपूर्त्तिके लिये भोजन करना पापभोजन मात्र है। इस प्रकार सकल अन्नको भगवानको समर्पण करके प्रसाद भोजन करना ही आर्यजातीय भोजन है। क्योंकि भोजनमें प्रसादबुद्धि उत्पन्न होनेसे भोग्यबुद्धि नष्ट होती है और इस प्रकार भोजनके प्रति लोभ उत्पन्न न होनेसे भोग्यवस्तुके द्वारा बन्धन प्राप्त नहीं होता है और प्रसाद बुद्धिके फलसे पापनाश, शान्ति व आत्मोन्नति होती है। आर्य्यजातिका भोजन इष्टदेवकी सेवाके अर्थ निवेदित हो कर—अतिथि सेवा, पोष्यवर्गकी सेवा आदि द्वारा पवित्र होकर—केवल शरीर रक्षाके लिये ग्रहण करने योग्य है। यही आर्य्यजातिका भोजन है। जिस भोजन-में ये सब लक्षण न पाये जायें वह अनार्य्य भोजन है। संसारमें अर्थ-लालसा-परायण होकर समस्त पुरुषार्थशक्तिको धनसम्पत्तिवृद्धिके लिये प्रयोग करके उसीको जीवनका लक्ष्य बनाना, आर्यभावसुलभ लक्ष्य नही है; क्योंकि जहांपर स्थूल शरीरकी रक्षा आत्मोन्नतिसाधन मात्रके लिये है, स्थूल वैषयिक तृप्तिके लिये नहीं है, वहां पर धनसम्पत्ति-संग्रह जीवनका लक्ष्य नही हो सकता। जिस जातिमें पूज्यतम व श्रेष्ठतम पुरुष वे माने जाते हैं, जिन्होंने गीतोक्त 'समलोष्ठाश्म-काञ्चन' भावको प्राप्त कियाहै व जिनके सामने समस्त संसारकी सम्पत्ति तुच्छ है। इस प्रकार त्यागकी महिमा जिस जातिमें सर्वोपरि गाई गई है, उस जाति में अर्थप्रियता कब जातीय आदर्श होसकती है? इसलिये आर्यजातिका अर्थोपा-र्जन विषयविलासके लिये नही है किन्तु शरीरयात्रानिर्वाह व परोपकार साधनके लिये है। इससे विपरीत आदर्श अनार्यजातीय है।

भावकी कैसी अपूर्व महिमा आर्यजातीय जीवनमें प्राप्त होती है! आर्य-जाति नीचसे नीच कार्यको भी भाव शुद्धि द्वारा धर्ममय व अमृतमय बना सकती है। भावजगत्की यह अपूर्वता पुण्यश्लोक आर्यजातिमें ही प्राप्त हो सकती है, अन्यत्र कहीं नहीं। काम जैसा प्रबल शत्रु, कामक्रिया जैसी पाश-विक क्रिया, संसारमें और क्या हो सकती है? परन्तु जिस कार्यके साथ सृष्टि विस्तार व प्राकृतिक प्रेरणाका सम्बन्ध है उसे एकाएक त्याग करना जीवके लिये असम्भव है। इसलिये जिस पाशविक कार्यको त्याग नहीं कर सकते हैं, उसमेंसे भावशुद्धि द्वारा पशुभावका अंश नष्ट करनेका प्रयत्न किया गया

है । यही आर्यजातीय भावशुद्धिका लक्षण है । आर्य्यजातिका विवाह कामके तरंगमें इन्द्रिय व चित्तवृत्तिको डालकर पशुभाव प्राप्त करनेके लिये नहीं है, किन्तु स्वाभाविक विषयस्पृहाको नियमबद्ध करके धीरे धीरे उसे नष्ट करके निवृत्तिसेवी बननेके लिये है । आर्यजातिका गृहस्थाश्रम अनर्गल भोगविलासमें लिप्त होनेके लिये नहीं है, किन्तु प्रारब्धकर्मजनित भोग-संस्कारको निर्बीज करके संन्यासाश्रमकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये है । आर्यजातिमें पतिपत्नीसम्बन्ध कामका क्रीत दास बननेके लिये नहीं है, किन्तु गर्भाधान संस्कारके अनुसार धर्माविरुद्ध कामके द्वारा संसारमें धार्मिक पुत्र उत्पन्न करनेके लिये है । यही आर्यजातिकी अनार्य जातिसे विशेषता है । इस प्रकार सकल कार्योंमें आध्यात्मिक भावका पोषण करके आर्यजाति अपने जीवनको उपासनामय व ज्ञानमय बनाती है । उसकी सकल इन्द्रियोंकी गति अध्यात्मसिन्धुकी ओर और बुद्धिवृत्तिकी गति ज्ञानार्णवकी ओर हो जाती है । आर्यनेत्र गंगा यमुनाकी धाराओंमें भगवान्की प्रेमधाराको निरीक्षण करते हैं, हिमालयके विराट् शरीरमें भगवान्की विराट् मूर्तिका दर्शन करते हैं, समुद्रके अनन्त विस्तार व गम्भीरतामें भगवान्की अपार उदारता व अनादि अनन्तशक्तिका परिदर्शन करते हैं । पुष्पोंके अविश्रान्त विकाशमें आनन्दकन्द भगवान्की आनन्द सत्ता देखना, वासन्तीविलास व वर्षासुलभ प्राकृतिक सौन्दर्यमें चिदानन्दकी लहरें निरीक्षण करना, तारावली-परिशोभित गम्भीर अमानिशाके गगनमें दिव्यज्योतिर्मय अक्षर-संग्रथित भगवद् भजनावलीका निरीक्षण करना, आब्रह्मस्तम्ब पर्यन्त जगत्की अविरामगतिको शान्तिमय सच्चिदानन्द समुद्रकी ओर उपासनाकी अनन्त नदियोंकी गतिके रूपसे देखना और देखते देखते भावसिन्धुके उद्वेलित होनेसे भावमय विराट भगवान्के अनन्तस्वरूपमें सान्त देह, मन और प्राणको विलीन करके निःश्रेयस पद प्राप्त करना, आर्यनेत्रोंका यथार्थ दर्शन व चरम परिणाम है । आर्यजातिके कर्ण कोलाहलमय संसारके अनन्तनादमें व्याकुल नहीं हो जाते हैं; किन्तु सकल नादोंके मूलमें ओंकारके अविच्छिन्न मधुर गम्भीर निनादको सुनते हैं, जान्हवी व यमुनाके तरङ्गभङ्गमें श्रुतिविमोहन कलगीतका आस्वादन करते हैं, प्रभातके विहङ्गगानमें व भ्रमरोंके गुन गुन गुञ्जनमें भगवान्का स्तुतिगान सुनते हैं, यही आर्यकर्णोंकी विशेषता है । आँखोंमें दूरवीक्षण या अनुवीक्षण यन्त्रका संयोग हो जाय, कर्णेन्द्रियकी शक्ति वैज्ञानिक यन्त्रके योगसे वृद्धिगत होजाय, परन्तु यदि आर्यनेत्र संसारके समस्त दृश्यकी विलासकलामें भगवल्लीला माधुरीका निरीक्षण-

न कर सकें या आर्यकर्ण दशदिशाओंमें श्रीकृष्ण परमात्माकी मधुर वंशिध्वनिको न सुन सकें; तो भारतमाताके अङ्कमें इस प्रकार आर्यगुणहीन सन्तानकी उत्पत्ति ही वृथा भारमात्र है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं। संसारके सकल भावोंके मूलमें भगवद्भावका अनुभव करना ही आर्य मनकी आर्यता है। संसारकी सकल सत्ताओंमें ब्रह्मसत्ताकी उपलब्धि करना ही आर्य बुद्धिकी चरितार्थता है। जब आर्यजाति अपनी जीवनगतिको इसप्रकार आदर्शके अनुकूल बना सकती है, तभी वह स्पर्द्धाके साथ भगवान् शङ्करकी वाणीसे कह सकती है:—

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहम्।
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः॥
सञ्चारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो।
यद् यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो! तवाराधनम्॥

हे भगवन्! आप आत्मा हैं, जगदम्बा मति हैं, पंचप्राण सहचर हैं और शरीर गृह है। समस्त विषयभोग भोगके लिये नहीं हैं किन्तु आपकी पूजाके लिये हैं। निद्रा तमोगुणकी परिणामरूप नहीं है किन्तु समाधिरूप शान्तिमें विश्राम व आनन्द भोग रूप है। इतस्ततः भ्रमण आपकी अनन्त मूर्तिकी प्रदक्षिणा रूप है। समस्त वाणी आपकी स्तुति रूप है और समस्त कर्म विषयविलास-मय संसारमें भोगप्रवृत्तिके लिये नहीं हैं किन्तु आपकी आराधना रूप हैं। इस प्रकार समस्त कार्य, समस्त चेष्टाएँ और समस्त चित्तवृत्तियाँ जब भगवत्कार्य व भगवद्भावमें ही भावित हो जाती हैं, तभी आर्यजीवन उपासनामय होकर आध्यात्मिक उन्नतिकी चरमसीमामें पहुँच सकता है। यही कल्याणवाहिनी आर्यजीवनतरंगिणीकी सच्चिदानन्द समुद्रकी ओर अविराम गति है और यही अनार्य जातिसे आर्यजातिकी विशेषताका एक प्रधान लक्षण है।

अनार्यजातिसे आर्यजातिकी विशेषताका द्वितीय लक्षण आर्यजातिका सदाचार है। श्रुति, स्मृति व पुराणोंमें जितने प्रकारके सदाचार वर्णन किये गये हैं उनके मूलमें स्थूल, सूक्ष्म व कारण शरीरके उन्नतिकर किस प्रकार वैज्ञानिक तत्व भरे हुए हैं और उनके सम्यक् प्रतिपालनसे शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक उन्नति किस प्रकारसे हो सकती है इसका पूरा वर्णन अगले किसी अध्यायमें किया जायगा। आर्य्यजातीय जीवनके प्रत्येक कार्यके साथ धर्मका अतिघनिष्ठ सम्बन्ध रहनेसे प्रथम धर्मरूप आचारका प्रतिपालन करनेमें ही आर्यका आर्य-

त्व है इसमें सन्देह नहीं। वहिःप्रकृति अन्तःप्रकृतिकी धात्री है। वहिःप्रकृतिमें आर्यभाव न रहनेसे अन्तःप्रकृतिमें आर्यभाव नहीं रह सकता। वहिःप्रकृतिको आर्यभावयुक्त रखनेके लिये जो कुछ प्रक्रिया व अनुष्ठान हैं वही सदाचार कहलाता है। स्थूल दृश्यजगत्में सर्वत्रही देखा जाता है कि एक जातिके साथ जात्यन्तरकी प्रत्यक्ष विशेषता आचारकी विशेषताके द्वाराही निर्णीत हुआ करती है। आचारकी स्थितिके द्वारा ही एक जाति अन्य सब जातियोंके बीचमें अपनी पृथक् सत्ताको कायम रखनेमें समर्थ होती है। जो जाति अपने परम्परागत आचारका त्याग कर देती है अथवा अन्यजातीय आचारोंको मानकर अपने जातीय आचारोंके प्रति उपेक्षा करती है, वह जाति धीरे धीरे अपनी स्वतन्त्रसत्ताको खोकर अन्य जाति, जिसका कि वह अनुकरण करती है, उसीमें लय हो जाती है। पृथिवीके इतिहासके पाठ करनेसे विदित होगा कि इसी प्रकार अनेक विजित जातियां अपने आचारोंको छोड़ विजेता जातिके आचारोंका पालन करती हुई अन्तमें उसीमें लय होगई हैं। परन्तु आर्यजातिपर इतनी वार विदेशीय जातियोंका आक्रमण होनेपर भी आजतक जो यह जाति अपनी स्थितिके रखनेमें समर्थ हुई है इसमें आर्यजातिका सदाचार पालन ही मुख्य कारण है। आर्यजातिमें आध्यात्मिक जीवनकी पूर्णता होनेसे स्थूल आचारकी भी पूर्णता होना स्वाभाविक है और इस लिये सदाचार पालन अनार्यजातिसे आर्यजातिकी विशेषताका एक लक्षण है।

अनार्यजातिकी विशेषताका तृतीय लक्षण आर्यजातिका वर्ण व आश्रमधर्म है। आर्य्यजातिमें वर्णधर्म व आश्रमधर्मका वन्धन नहीं रहे तो वह आर्यभावापन्न नहीं रह सकती। यह बात वर्णधर्मके अध्यायमें पहले ही सिद्ध हो चुकी है कि आर्यजातिमें प्राकृतिक पूर्णता होनेसे त्रिगुणानुसार चातुर्वर्ण्यकी यथावत् स्थिति रहना इसमें स्वाभाविक है। इसी स्वभावसिद्ध नियमके अनुसार अनादिकालसे यह जाति अपनी आर्यभाव-मूलक जातीयताके अटल रखनेमें समर्थ हुई है और आज भी इतने दुर्दिनके समय चातुर्वर्ण्यकी बीजरक्षा द्वारा सनातन आर्यत्वकी बीजरक्षा कर रही है। जातितत्त्वके विज्ञानों पर संयम व धीर विचार करनेवाले लोग अवश्य ही कहेंगे कि प्राकृतिक वर्णव्यवस्थाके विना कोई भी जाति बहुत वर्ष पर्यन्त पृथिवीपर अपनी स्वतन्त्र सत्ताके रखनेमें समर्थ नहीं हो सकती और दिन दिन अधोगतिको प्राप्त होकर नष्ट हो जाती है या अन्य किसी जातिमें लय हो जाती है। इसी प्राकृतिक

नियमके अनुसार आर्यजाति भी यदि वर्णधर्मका पालन करना छोड़ दे तो वह भी आर्यभावसे च्युत होकर अनार्यभावापन्न हो जायगी, जिससे और भी अधःपतित होकर अन्तमें नष्ट हो जायगी। यद्यपि त्रिगुणमयी प्रकृतिकी विलासस्थली भारतभूमिमें पूर्णप्रकृतियुक्त आर्यजातिका पूर्ण नाश होना असम्भव व विज्ञानविरुद्ध है; क्योंकि यहाँपर त्रिगुणका विकाश स्वतः ही रहनेसे वर्णधर्मकी बीजरक्षा प्रबल तमोगुणके कालमें भी अवश्य ही होगी; तथापि वर्णव्यवस्थाके बिगड़ जानेसे आर्यजाति बहुत ही हीन दशाको प्राप्त हो जायगी और उसमेंसे अनेक मनुष्य अनार्य हो जायेंगे इसमें कोई सन्देह नहीं है। यह बात पहले ही मनुसंहिता व महाभारतके प्रमाणके साथ कही गई है कि क्रियालोपके कारण कितने ही आर्यसन्तान अनार्य बनकर पृथिवीके भिन्न भिन्न प्रान्तोंमें बस गये हैं। अब नीचे वर्णव्यवस्थाके साथ आर्यजातिकी सत्ताका क्या सम्बन्ध है सो बताया जाता है। समष्टि सृष्टि व व्यष्टि सृष्टिका विचार करते हुए वर्णधर्मके अध्यायमें पहले ही कहा गया है कि दोनों सृष्टिकी प्रवृत्ति निम्नगामिनी है। समष्टि सृष्टिकी प्रवृत्ति निम्नगामिनी होनेसे प्रथम सत्ययुग व तदनन्तर त्रेता, द्वापर व कलियुग होते हैं और उसीके अनुसार समष्टि सृष्टिमें पहले सनकादि पूर्ण पुरुष व केवल ब्राह्मण उत्पन्न होकर पश्चात् अन्यान्य जातियाँ उत्पन्न होती हैं। सृष्टिकी धारा अधोमुखिनी होनेसे नीच प्रारब्धयुक्त जीव क्रमशः उत्पन्न होते रहते हैं। इसी तरह व्यष्टि-सृष्टिमें भी प्रकृतिके अधीन होनेके कारण उद्भिज्जसे लेकर पशुयोनि पर्यन्त जीव क्रमोन्नति प्राप्त करता है और मनुष्य योनिमें स्वतन्त्रता प्राप्त करते ही उसकी वह उन्नति रुक जाती है और उसकी प्रवृत्ति इन्द्रियकी तरफ होनेसे पुनः नीचेकी ओर होने लगती है। वर्णधर्म समष्टि सृष्टि व व्यष्टिसृष्टिकी इन्हीं दोनों निम्नगामिनी प्रवृत्तियोंको रोकता है। इसीलिये

"प्रवृत्तिरोधको वर्णधर्मः"

वर्णधर्म प्रवृत्तिका रोधक है ऐसा कर्ममीमांसामें सिद्धान्त किया गया है। वर्णव्यवस्थाके द्वारा सृष्टिकी अधोमुखिनी दोनों प्रवृत्तियाँ रुक कर उनकी ऊर्द्ध्वगति बनी रहती है। जिस प्रकार कौशलके साथ बांध बांधकर फैलनेवाली नदीका प्रवाह रोका जाता है, उसी प्रकार चातुर्वर्ण्यरूपी बांधके द्वारा जीवकी पाशविक प्रवृत्ति रोकी जाती है। पहले ही कहा गया है कि सृष्टिके प्रारम्भमें यद्यपि सभी ब्राह्मण थे और सत्वगुणका भी पूर्ण विकाश था, तथापि कालान्तरमें सृष्टिकी धारा नीचेकी ओर चलनेके कारण जब रजोगुण व तमो-

गुणके प्रभावसे जीवकी गति पापकी ओर होने लगी, तब उस पापप्रवणताको रोकना भी परम कर्त्तव्य हो गया। यदि सृष्टिकी वह पापप्रवण नीचेकी ओर चलनेवाली धारा न रोकी जाती तो सभी जीव पापी बनकर अपने आर्यगुणसे भ्रष्ट हो अनार्य बन जाते और भारतवर्षकी यह चिरन्तन मर्यादा नष्ट हो जाती। इस लिये सृष्टिकी उस विषम धाराको रोककर जीवकी क्रमोन्नतिको बाधारहित करनेके लिये ही श्रीभगवान् मनुजीने चार वर्ण रूप बन्ध बांध दिये। मनुजीने किस प्रकार मनुष्योंकी स्थूल, सूक्ष्म, कारण प्रकृतिको देखकर चातुवर्ण्यकी व्यवस्था उस समय की थी यह वर्णव्यवस्थाके अध्यायमें स्पष्टरूपसे बताया गया है। अब इन सब विचारोंसे यह सिद्धान्त निश्चय होता है कि जब समष्टि सृष्टिकी धारा स्वभावतः ही नीचेकी ओर है और वर्णव्यवस्थाके द्वारा उसमें रुकावट हो जाती है, तो जिस जातिमें वर्णव्यवस्था न होगी वह जाति क्रमशः प्रकृतिकी निम्नगामिनी धारामें पड़कर अधोगतिको प्राप्त हो जायगी और अन्तमें अधो-गतिकी पराकाष्ठा होनेसे वह जाति नाशको प्राप्त हो जायगी अथवा और किसी उन्नत जातिमें लय हो जायगी। पृथिवीका इतिहास पाठ करने पर वर्णधर्म-विहीन कई एक जातियोंका इसी प्रकार परिणाम दृष्टिगोचर होता है। जिस समय प्राचीन रोमके नाशका समय आया था, उस समय रोममें भी भीषण पापका प्रवाह बहने लग गया था; जिससे रोम अधोगतिकी पराकाष्ठाको प्राप्त होकर नष्ट हो गया। इसी प्रकार ग्रीस, मिश्र व ब्रिटेनकी कई एक जातियोंका परिणाम पृथिवीके इतिहासमें स्पष्ट है। ऐतिहासिक विद्वान्गण पृथिवीका इतिहास पाठ करनेसे एक वाक्य होकर स्वीकार करते हैं कि सिवाय वर्णाश्रमधर्म-युक्त आर्यजातिके और कोई भी प्राचीन जाति इस समय अपने स्वरूपमें जीवित नहीं है। रोम, ग्रीस, मिशर आदि अनेक प्राचीन जातियोंके नाम इतिहासमें मिलते हैं, परन्तु उन जातियोंके अस्तित्वका साक्षी देनेवाला एक भी व्यक्ति इस समय विद्यमान नहीं है। दूसरी ओर वर्ण धर्म माननेवाली आर्यजाति अब भी अपने स्वरूपमें विद्यमान है। अतः उपर्युक्त सिद्धान्तसे निश्चय होता है कि वर्णव्यवस्थाके प्रवृत्ति रोधक बन्धके बिना संसारमें कोई भी जाति चिरस्थायी नहीं हो सकती, किन्तु प्रवृत्तिके प्रवाहमें बहकर अपनी जातीयताको कालसमुद्रमें डुबा देती है। व्यष्टि सृष्टिमें उद्भिज्जसे लेकर पशुयोनि पर्यन्त जीवकी क्रमोन्नति बाधारहित होने पर भी, जब मनुष्य योनिमें आकर जीवकी गति इन्द्रियासक्ति बढ़ जानेके कारण पुनः नीचे की ओर होने लगती है, तब वर्णव्यवस्थाका बन्धन ही

जीवकी इस अवनतिकी सम्भावनाको रोककर उसे प्राकृतिक उन्नतिशील प्रवाहमें डालकर धीरे धीरे शूद्रयोनिसे ब्राह्मणयोनि तक पहुँचाता है और अन्तमें सत्त्वगुणकी पूर्णताके द्वारा निःश्रेयस (मुक्ति) पदवी पर उसको प्रतिष्ठित करता है। यदि वर्णव्यवस्थाका प्रवृत्तिरोधक बन्ध न होता तो मनुष्य योनिमें आकर जीव पुनः नीचेकी ओर जाने लगता। उसकी उन्नति न हो कर उसे पुनः पश्वादि योनियोंकी प्राप्ति होती, जीव मनुष्यत्व पदसे गिर कर मूढ़ योनिको प्राप्त करता। अतः सिद्धान्त हुआ कि समष्टिसृष्टिकी तरह व्यष्टिसृष्टिमें भी वर्णव्यवस्थाके न होनेसे कोई मनुष्यजाति चिरस्थायी नहीं हो सकती। और निवृत्तिकी तो बात ही क्या! जिस जातिमें वर्णव्यवस्था नहीं है, उस जातिमें प्रवृत्तिके रोकनेका कोई भी उपाय न होनेसे जीवन प्रवृत्तिमय हो जाता है। उस जातिका आध्यात्मिक उन्नति व मुक्ति ही नही किन्तु स्थूल शरीरका भोगमात्र ही लक्ष्य हो जाता है। जिससे वह जाति आर्यत्वके लक्षणसे च्युत होकर अनार्य होजाती है। इसलिये अनार्यसे आर्यकी विशेषताके जितने लक्षण हैं उनमेंसे वर्णव्यवस्था भी एक लक्षण है। वर्णव्यवस्थाके न रहनेसे प्रत्येक जाति आध्यात्मिक अवनतिको प्राप्त करके पशुकी तरह बन तो जायगी ही अपितु और भी गंभीर विचार करने पर यही सिद्धान्त निकलेगा कि वर्णव्यवस्थाके न रहनेसे कोई भी जाति संसारमें बहुत दिनों तक जीवित नहीं रहेगी। अब नीचे इस सिद्धान्तका कारण बताया जाता है।

प्रकृतिके राज्यमें प्रत्येक वस्तुकी स्थिति तभी तक रह सकती है जबतक व्यापक प्रकृतिके साथ उस वस्तुका सम सम्बन्ध हो। जिस वस्तुके साथ व्यापक प्रकृतिका समसम्बन्ध नहीं, उलटा विषम सम्बन्ध है, वह वस्तु बहुत दिनों तक प्रकृतिके राज्यमें रह नहीं सकती। उसका या तो समूल नाश हो जाता है या किसी समप्रकृतियुक्त वस्तुमें लय हो जाता है। व्यापक प्रकृतिकी यह एक अकाट्य व नित्य स्थिर नीति है। उसी नीतिके अनुसार विचार करनेसे यही सिद्धान्त होगा कि उद्भिज्जसे लेकर मनुष्य पर्यन्त समस्त जातियोंमें समप्रकृतिक जाति ही जीवित रहेगी, विषमप्रकृतिक जाति कुछ दिनोंके बाद नष्ट हो जायगी या किसी समप्रकृतिक जातिमें मिल जायगी। दृष्टान्तरूपमें समझ सकते हैं कि घोड़े व गधेके सम्बन्धसे जो एक अश्वतर (खच्चर) की जाति बनती है, उसकी प्रकृतिका मेल न तो घोड़ेसे और न गधेसे होनेके कारण वह एक विषम प्रकृतिकी पशु जाति है। उसके साथ प्रकृतिकी

समधाराका मेल नहीं है और इसलिये उपर्युक्त विज्ञानके अनुसार अश्वतरकी जाति जीवित नहीं रह सकती। इस बातको सभी लोग जानते हैं कि अश्वतरी (खच्चरी) का वंश नहीं चलता । एक ही जन्मके बाद वह वंश लुप्त हो जाता है। यह सब उपर्युक्त प्राकृतिक विज्ञानके अनुसार विषम प्रकृति होनेका ही परिणाम है। पशु जातिकी तरह उद्भिज्ज व अण्डज जातिमें भी यही प्राकृतिक नियम दृष्टिगोचर होता है । दो विभिन्न जातिके उद्भिजके सम्बन्धसे जो वृक्ष बनाया जाता है या दो विभिन्न जातिके पक्षियोंके मेलसे जो पक्षीजाति बनायी जाती है, उसका वंश आगे नहीं चलता । यह प्रकृतिकी विषम धारामें उत्पन्न होनेका प्राकृतिक परिणाम है । इस दृष्टान्त व विज्ञानको मनुष्य जातिमें घटा कर विचार करनेसे यही सिद्धान्त निकलेगा कि दो विभिन्न वर्णोंके मेलसे जो वर्णसङ्कर जाति उत्पन्न होगी वह प्रकृतिकी समधारामें स्थित न होनेके कारण बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सकेगी किन्तु कुछ दिनोंके बाद ही नष्ट या अन्य समधारावाली जातिमें लय हो जायगी। आर्यजातिमें वर्णव्यवस्थाके टूट जानेसे एक वर्णके साथ वर्णान्तरके सम्बन्ध अवश्य ही होंगे, जिसके फलसे अनेक वर्णसङ्कर जातियाँ उत्पन्न होंगी । परन्तु इस प्रकार वर्णसङ्कर जातियाँ प्रकृतिकी समधाराके विरुद्ध होनेके कारण कुछ दिनोंमें ही नाशको प्राप्त हो जायँगी, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं हो सकता। भारतवर्षमें जबसे वर्णव्यवस्था शिथिल हो गई है, तबसे कितनी ही वर्णसङ्करजातियाँ इस प्रकार उत्पन्न होकर कुछ दिनोंके बाद नष्ट होगई हैं या अन्य किसी जातिमें लय होगई हैं। साधारण तौरपर देखा जाता है कि प्रायः उच्च जातिमें वर्णसङ्कर पुरुष या स्त्रीकी सन्तान नहीं होती और ऐसे मनुष्य प्रायः निर्व्वंश हो जाते हैं। प्रकृतिकी विषमधाराका ही यह सब परिणाम है। अतः आर्यजातिमें वर्णव्यवस्थाके टूट जानेसे केवल आर्यजाति अनार्य ही नहीं हो जायगी, अधिकन्तु व्यापक प्रकृतिमें अनेक विषमधाराओंकी सृष्टि करके कुछ दिनोंके बाद उसके अतलगर्भमें डूब जायगी। अतः सिद्धान्त हुआ कि आर्यजातिमें वर्णव्यवस्थाका रहना इस जातिके जीवित तथा आर्यभावयुक्त रहनेके लिये परम हितकर है। इसी विचारको अन्यान्य जातिमें घटानेसे सिद्धान्त होगा कि वर्णव्यवस्थाके विना कोई भी जाति चिरस्थायी नहीं हो सकती। अगष्ट कौम्टिने गभीर गवेषणाके द्वारा इसी सिद्धान्तको पहले प्रकट कर दिया है। मनुष्यके नीचेके जीवोंमें देखिये। ये जीव प्रकृतिके तमःप्रधान राज्यमें

होनेके कारण यद्यपि उनमें वर्णव्यवस्थाकी स्थिति स्पष्टतया नहीं दिखाई देती, तथापि उनमें चातुर्वर्ण्य है। क्योंकि प्रकृतिका कोई भी राज्य त्रिगुणसे बाहर न होनेके कारण त्रिगुणके अनुसार चारवर्णोंकी स्थिति सर्वत्र ही स्वाभाविक है। जब मनुष्येतर प्राणियोंमें भी चार वर्ण विद्यमान हैं, तो चाहे अनार्य ही क्यों न हो, सभी मनुष्योंमें चार वर्ण अवश्य रहेंगे। केवल विशेषता इतनी ही है कि आर्यजातिमें त्रिगुणका पूर्ण विकाश होनेके कारण यहांपर कालप्रभावसे वर्णसङ्कर प्रजा उत्पन्न होनेपर भी चातुर्वर्ण्यका बीजनाश कदापि नही होगा। परन्तु अन्यान्य जातियोंमें त्रिगुणका पूर्ण विकाश न होनेके कारण वहां पर वर्णव्यवस्थाकी पूर्ण स्थिति असम्भव होनेसे स्वतःही वर्णसङ्कर प्रजा उत्पन्न हो कर कुछ दिनोंमें वह जाति अवश्यही समूल नाशको प्राप्त हो जायगी। यही वर्णव्यवस्थाके साथ प्रत्येक जातिके अस्तित्वका सम्बन्ध है और अनार्यजातिसे आर्यजातिकी विशेषतामें यही वर्णव्यवस्थाकी आवश्यकताका प्रमाण है।

मीमांसा शास्त्रके आचार्य्योंने किसी मनुष्यजातिके चिरस्थायी होनेके विषयमें असवर्ण विवाह, स्वगोत्र विवाह और अयोग्यवयस्क विवाह इन तीनोंको प्रधान बाधा करके वर्णन किया है। अपने अपने वर्णमें विवाह न करके यदि असवर्ण विवाहका प्रचार किया जाय तो मनुष्य जाति किस प्रकारसे लयको प्राप्त हो जाती है उसका प्रमाण हम ऊपर दे चुके हैं। स्वगोत्र विवाह से भी मनुष्य जाति नष्ट हो जाती है। इसके विषयमें मीमांसा दर्शनशास्त्रकी सम्मति यह है कि पुरुषसे वीर्य्यकी धारा और स्त्रीसे रजकी धारा ये दोनों अलग अलग तथा परस्परमें वेमेल जब तक रहती है तब तक दोनोंकी शक्ति यथावत् बनी रहती है। स्त्री यदि पुरुषका काम और पुरुष यदि स्त्रीका कार्य्य करने लगे, स्त्री यदि पुरुषकी प्रकृति और पुरुष यदि स्त्रीकी प्रकृतिका अनुकरण करने लगे तो दोनों ही जैसे अपने स्वरूपसे भ्रष्ट होजाया करते हैं, ठीक उसी प्रकार किसी मनुष्य जातिमें यदि वीर्य्यकी धारा और रजकी धारा एक दूसरेसे वेमेल न रक्खी जायगी, तो दोनों धाराएँ दुर्बल होकर अन्तमें उस मनुष्य जातिका नाश कर देती हैं। इसी वैज्ञानिक सिद्धान्त पर स्थित होकर आर्य्य महर्षियोंने स्वगोत्रा कन्याके साथ विवाह करनेका प्रबल निषेध किया है; और स्वगोत्रा कन्यामें गमन करनेको मातृगमनके तुल्य वर्णन किया है। आर्य्यजातिमें इसी कारण यह साधारण नियम है कि जिस गोत्रका पुरुष हो उसी गोत्रकी कन्याके साथ उसका विवाह नहीं हो सकता। अर्थात् वीर्य्यकी

धाराको रजकी धारामें मिलने देना उनके सिद्धान्तोंके अनुसार अधर्म्म है। उसी शैली पर पुरुषसे कन्याका वय कम न होना भी आर्य्यजातिमें धर्म्म विरुद्ध माना गया है। सृष्टिप्रवाहमें पुरुष प्रधान और स्त्री अप्रधान है। इस विज्ञानको हम नारीधर्म्मके अध्यायमें भली भाँति दिखा चुके हैं। जब तक प्रकृतिके स्वाभाविक नियमकी रक्षा हम करेंगे तब तक हम जीवित रह सकते हैं। प्राकृतिक नियमोंके साथ बलात्कार करनेसे और प्राकृतिक धर्म्मके विरुद्ध चलनेसे हम अल्पायु होंगे इसमें कुछ भी सन्देह नहीं; इसीसे विवाह पद्धतिमें भी वयके विचारसे पुरुषका प्राधान्य और स्त्रीका गौणत्व रक्खा गया है। जिस मनुष्यजातिकी विवाहरीतिमें पुरुषका अधिक वय होने और स्त्रीके कम वय होनेकी आज्ञा रहेगी वही मनुष्यजाति प्रकृतिके साधारण नियमोंके पालन करनेसे अधिक काल जीवित रह सकेगी। इस प्रकार वैज्ञानिक रहस्यपूर्ण एवम् जातिको दीर्घायु बनानेके उपयोगी सदाचारयुक्त नियम आर्य्यजातिमें होनेसे आर्य्यजाति इतने कालसे जीवित है। और यही सब सिद्धान्त अनार्य्यसे आर्य्यजातिकी विशेषताको सिद्ध करते हैं।

इसी प्रकार आश्रमधर्म भी अनार्यसे आर्यकी विशेषताका अन्यतम लक्षण है। कर्ममीमांसादर्शनमें लिखा है:—

प्रवृत्ति रोधको वर्णधर्मः।
निवृत्तिपोषकश्चाऽपरः।
उभयोपेताऽऽर्यजातिः।
तद्विपरीताऽनार्याः।

वर्णधर्म प्रवृतिरोधक है और आश्रमधर्म निवृत्तिपोषक है। जो जाति वर्ण व आश्रम दोनों धर्मोंसे युक्त हो वही आर्यजाति है। इससे विपरीत अर्थात् वर्णाश्रम-धर्म-विहीन जाति अनार्यजाति है। जिस प्रकार प्रवृत्तिका निरोध करके मनुष्यको वर्णधर्म नीचे जानेसे रोकता है, उसी प्रकार आश्रमधर्म भी निवृत्तिभावको बढ़ाकर जीवको आध्यात्मिक उन्नतिकी पराकाष्ठा तक पहुँचाकर मुक्तिपद प्रदान करता है। पहिले ही आश्रमधर्मके अध्यायमें कहा गया है कि ब्रह्मचर्याश्रममें संयमके साथ धर्ममूलक प्रवृत्तिकी शिक्षाके अनन्तर गृहस्थाश्रममें भावशुद्धि-पूर्वक प्रवृत्तिके पालनसे जब निवृत्तिका उदय होने लगता है, तब वानप्रस्थाश्रममें तपस्याके द्वारा शरीर व मनको शुद्ध करके निवृत्तिके अभ्यासके परिपाकमें निवृत्तिके चरम आश्रम संन्यासको मनुष्य

प्राप्त करते हैं। इसी प्रकारसे पूर्ण निवृत्तिकी प्राप्ति होनेसे जीवको निःश्रेयस लाभ होता है। जैसा कि उपनिषद्‌में लिखा हैः—

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेनाऽमृतत्वमानशुः।

सकाम कर्म, प्रजोत्पत्ति या धनके द्वारा नहीं, किन्तु त्यागके द्वारा ही अमृतत्वकी प्राप्ति होती है। जिस जातिमें आश्रमधर्मका ठीक ठीक प्रतिपालन होता है, वह जाति स्वाभाविक प्रवृत्तिवाधाको दूर करके अवश्य ही निवृत्तिकी पूर्णतामें मुक्तिपदको प्राप्त कर सकती है। परन्तु जिस जातिमें आश्रमधर्मका प्रचार नही है, वह जाति निवृत्तिभावके पोषण न होनेसे दिन वदिन प्रवृत्तिके अन्धकूपमें डूवती जाती है। जिससे उसकी जातीयताका नाश, अधःपतन व अन्तमें अस्तित्व तकका नाश हो जाता है। जिस जातिमें आश्रमधर्म्म नहीं है वह जाति कभी आध्यात्मिक मार्गमें उन्नति नही कर सकती और न निवृत्ति-मूलक आर्यभावको ही कायम रखनेमें समर्थ हो सकती है। आश्रमधर्मके दुर्वल होनेसे आर्यजाति आज हीनदशाको प्राप्त होरही है और इसमेंसे निवृत्तिका भाव दूर होकर इसमें दिन प्रतिदिन विलासबुद्धि व पाशविक भाव वढ़ रहा है। आश्रमधर्मके नष्ट होनेसे यह जाति अपनी आर्यतासे गिरकर अनार्य वन जायगी। अतः आर्यजातिकी जातीयताकी रक्षाके लिये आश्रमधर्मका प्रतिपालन करना आवश्यक है और यही अनार्यजातिसे आर्यजातिकी विशेषताका अन्यतम लक्षण है।

इसी प्रकार जिस जातिमें पातिव्रत्यधर्मका पालन नहीं होता, वह जाति कभी अपने आर्यभावको कायम रखनेमें समर्थ नहीं हो सकती और उसकी स्थिति भी संसारमें वहुत कालतक नहीं होती। नारीधर्मके अध्यायमें पहिले ही कहा गया है कि जो जाति स्थूल शरीरके भोगविलासको ही मुख्य मानती है और सूक्ष्म शरीर तथा आत्माके आनन्दको गौण समझती है, उस जातिकी स्त्रियोंमें एकपतिव्रतका पालन कभी नहीं हो सकता। उन्हें एक पतिकी मृत्यु होने पर पुरुषान्तर ग्रहण करना स्थूलशरीरके भोग विलासके लिये अवश्य ही प्रयोजनीय होता है। जहांपर जीवनका आदर्श इस प्रकार इन्द्रियपरायणता ही हो, वहां अन्तःकरणकी हीनता व उन्नत चरित्रका अभाव होना स्वतःसिद्ध है। इसलिये इस प्रकारकी जातिमें पूर्ण पुरुष तथा आर्य-गुण-सम्पन्न पुरुष कदापि नहीं उत्पन्न हो सकते। जिस जातिके मातापिताओं-में तथा पूर्वपुरुषोंमें जिस संस्कारका अभाव है उस जातिमें उस संस्कारसे

सम्पन्न सन्तान कदापि नहीं उत्पन्न हो सकती । आर्य स्त्री ही जानती है कि पतिके स्थूलशरीरके नाश होनेपर उसकी आत्माके साथ आध्यात्मिक आनंद व संयमजनित आनन्दका भोग तथा सम्बन्ध किस प्रकार हो सकता है । आर्यमाता ही जानती है कि स्त्रीका शरीर जब अपने भोगविलासके लिये नहीं किन्तु पतिदेवताकी पूजाके लिये नैवेद्य रूप है, तो जिस प्रकार देवताके अन्तर्धान होनेसे नैवेद्यका कोई प्रयोजन नहीं रहता, उसी प्रकार पतिदेवताके परलोकवास होनेसे इहलोकमें स्त्री-शरीर रखनेका कोई भी प्रयोजन नहीं रह जाता । इस लिये सहमृता होना और जीवित रहे तो केवल पतिके कल्याणार्थ ही निवृत्तिधर्मका पालन करतेहुए जीवित रहना पतिप्राणा सतीके लिये परम धर्म है । जिस जातिमें इस प्रकारका आदर्श जाज्वल्यमान है, वही जाति आत्माके सुखके लिये स्थूलशरीरके सुखको त्याग कर सकती है। और आत्मानन्दको ही मुख्य मान कर शरीरका व्यवहार संसारमें उसी परमानन्दके लक्ष्यसे कर सकती है । यही यथार्थ आर्यभाव है जैसा कि पहिले वर्णन किया गया है । जिस जातिमें दाम्पत्यप्रेम ऐसे उच्च आदर्श पर प्रतिष्ठित है उसी जातिमें आर्यगुणसम्पन्न सन्तान उत्पन्न हो सकती है, अन्य जातिमें कदापि नहीं हो सकती । इसलिये यदि आर्यजातिमेंसे पातिव्रत्यधर्म्मका सर्वोन्नत आदर्श नष्ट हो जायगा तो आर्य्यजाति अधःपतनको प्राप्त हो कर अनार्य हो जायगी इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है । यही अनार्य्यजातिसे आर्य्यजातिकी विशेषताका एक प्रधानतम लक्षण है । पातिव्रत्यधर्म्मके नष्ट होनेसे न केवल अनार्य्यत्वप्राप्ति ही होगी अधिकन्तु जिस जातिमें पातिव्रत्यधर्म नहीं है वह जाति संसारमें कदापि चिरस्थायी नहीं हो सकेगी । संसारमें भोगद्वारा वासनाका क्षय कदापि नहीं होता । घृताहुत वह्निकी तरह बढ़ती हुई वासना मनुष्यको प्रवृत्तिके अधस्तम अन्धकूपमें ले जाती है । सतीधर्म त्याग व तपस्यामूलक है । उसके पालनसे जातिमें प्रवृत्तिकी अनर्गलता रुक जाती है और आध्यात्मिक उन्नतिकी ओर वह जाति बढ़ सकती है । जहाँ पर प्रवृत्तिको नियमित व अर्गलाबद्ध करनेका नियम नहीं है, वहां पर प्रवृत्ति भोगद्वारा क्रमशः बलवती होकर जातिको अधोगति प्राप्त करावेगी । और इस प्रकार अधोगतिकी पराकाष्ठा अर्थात् प्रवृत्तिकी पराकाष्ठामें प्राप्त होनेसे वह जाति नष्ट हो जायगी इसमें भी कोई सन्देह नहीं है । अन्ततः पातिव्रत्यधर्मका नाश होनेसे कोई भी जाति चिरस्थायी

नहीं हो सकती। इसके सिवाय और भी एक कारण है जिससे सतीधर्महीन जाति जगतमें चिरस्थायी नहीं हो सकती। नारीधर्मके अध्यायमें पहिले ही कहा गया है कि स्त्री-जाति प्रकृतिकी रूप होनेसे उसमें विद्या व अविद्या दोनों भावोंका सन्निवेश रहता है। विद्याभावके द्वारा स्त्री पातिव्रत्यकी पूर्णतासे जगदम्बा बन सकती है और अपनी स्त्री-योनिसे मुक्त हो सकती है। परन्तु तामसिक अविद्या भावकी वृद्धि होनेसे पातिव्रत्यधर्मका नाश हो कर स्त्री पिशाचिनी बन जाती है और अविद्याके कराल ग्रासमें पतित होकर अनेक पुरुषोंके संसर्गसे इन्द्रियवृत्तिकी चरितार्थता व वर्णसङ्कर प्रजाकी उत्पत्ति करती है। पहिले ही कहा गया है कि पुरुषसे स्त्रीकी विषयप्रवृत्ति अधिक बलवती होती है और उसमें भोगशक्ति भी असीम होती है। ऐसा होनेसे ही स्त्रीके लिये त्यागमूलक व तपोमूलक पातिव्रत्यधर्मका उपदेश किया गया है; जिससे स्त्री अपनी प्रवृत्तिको नियमित करके देवीभावको प्राप्त करे व सुसन्तानको उत्पन्न करके संसारको पवित्र करे। पातिव्रत्यधर्मके नष्ट होनेसे स्त्रीकी प्रवृत्ति नियमित न होकर अनर्गल व नवनवाभिलाषिणी हो जायगी। पुरुषकी अपेक्षा उसकी भोगपरायणता अनन्तगुण बढ़ जायगी; जिससे एक पति उसके लिये यथेष्ट नहीं होगा और वह अवश्य ही उपपतिके सङ्गसे वर्णसङ्कर प्रजा उत्पन्न करेगी। जिस जातिमें पातिव्रत्यधर्मका पूर्ण आदर्श है ही नहीं, वहाँ तो इस प्रकार वर्णसङ्करता फैलना स्वाभाविक ही है। वर्णसङ्करता फैलने पर—जैसा कि पहले कहा गया है—सृष्टिकी समधाराके बीचमें अनेक विशमधारायें उत्पन्न हो जायँगी, जिनका रहना प्राकृतिक नियमके सम्पूर्ण विपरीत होगा। अन्ततः इस प्रकार वर्णसङ्कर प्रजाकी सृष्टि प्राकृतिक नियमानुसार शीघ्र ही नाश हो जायगी या अन्य किसी जातिमें लय हो जायगी। अतः सिद्धान्त हुआ कि जिस जातिकी स्त्रियोंमें सतीधर्मका आदर्श विद्यमान नहीं है, जिस जातिकी स्त्रियाँ इस लोक और परलोक दोनोंमें ही पतिके अस्तित्वको स्वीकार करके आजीवन एक पतिव्रतको धारण करना नहीं जानती, जिस जातिकी विधवा स्त्रियाँ स्वभावसे ही संन्यासव्रतको धारण करके तपस्विनी बनना नहीं जानतीं और जिस जातिमें यथार्थ पातिव्रत्यधर्मका पालन नहीं होता वह जाति चिरस्थायी नहीं हो सकती। आर्यजाति पातिव्रत्यधर्मके पालन द्वारा ही अपने अस्तित्वको और आर्यभावको चिरस्थायी बना सकती है और यही अनार्यजातिसे इसकी एक प्रधान विशेषता है।

पूर्व्वोक्त सब विचार समूहोंका सारांश क्या है यदि यह सोचा जाय तो यही सिद्धान्त होगा कि जिस जातिमें ज्ञानकी पूर्णताका विकाश होकर आत्मतत्वज्ञानकी स्फूर्ति हुई है अर्थात् जो मनुष्यजाति अपनी अध्यात्मशुद्धि द्वारा जगत्‌में तत्वज्ञानके विचारसे जगद्गुरु है वही आर्य्यजाति है। जिस मनुष्य जातिमें उस जातिकी आधिभौतिक शुद्धि सृष्टिके आदिकालसे बनी हुई है; अर्थात् जिस मनुष्यजातिमें उसके रज और वीर्यकी शुद्धि सृष्टिके आदिकालसे ठीक ठीक बनी हुई है वही जाति हिन्दूशास्त्रके अनुसार आर्य्यजाति है। और जिस मनुष्य जातिमें दैवराज्यके ज्ञान और कर्म विज्ञानकी पूर्णता होनेसे उसकी अधिदैव शुद्धि चिरस्थायी रहती है वही जाति वेदानुसार आर्य्यजाति कहावेगी। आर्य्यजातिमें इसी कारण धर्म्मका पूर्ण विकाश हुआ है। धर्म्मका सार्व्वभौम और सर्व्वशक्तिमय पूर्ण स्वरूप इसी कारण इस आर्य्यजातिने देखा है। इसी कारण आर्य्यजाति आचारको प्रथम और प्रधान धर्म्म करके मानती है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म विज्ञानसे भरे हुए अद्वैत वादके धर्म्मसे लेकर स्थूलसे अतिस्थूल आचार धर्म्म तक यह जाति मानती है इसी कारण यह आर्य्यजाति कहाती है। छोटेसे छोटे विषयको भी पूर्ण रीतिसे देखनेसे ही दृष्टि-शक्तिकी पूर्णता होगी। शरीरकी स्थूलसे स्थूल चेष्टाके साथ धर्म्मका सम्बन्ध माननेको ही आचार कहते हैं। आचारधर्म्मको यह जाति मानती है, यही अनार्य्यजातिसे आर्य्यजातिकी एक प्रधान विशेषता है।

यह बात पहिले ही कही गई है कि कोई भी जाति केवल संख्यावृद्धिके द्वारा उन्नति नहीं कर सकती किन्तु अपनी जातीयताके विशेष विशेष भावोंको पुष्ट करनेसे ही उन्नति कर सकती है। जातिकी उन्नति जातीयतासे होती है केवल संख्या बढ़ानेसे नहीं। आर्यजातिमें ऊपर लिखित जिन विशेष बातोंके रहनेसे यह जाति संसारकी अन्यान्य जातियोंकी अपेक्षा अपना अस्तित्व अक्षुण्ण रखनेमें समर्थ हो रही है, उन विशेष बातोंके उड़ा देनेसे आर्यजाति उन्नति नहीं कर सकेगी, उन बातोंके स्थायी रखनेसे ही उन्नति कर सकेगी। विशेषता ही जातिके अस्तित्वकी रक्षक है। विशेषताके नष्ट होनेसे जातिका पृथक् अस्तित्व भी नष्ट हो जाता है और वह अन्यजातिमें लय हो जाती है। अतः अनार्यजातिके साथ आर्यजातिकी विशेषताके विषयमें जितने लक्षण ऊपर बताये गये हैं उन लक्षणोंके साथ आर्यजाति जबतक युक्त रहेगी, तभी तक संसारमें इसका अस्तित्व स्थायी रहेगा और यह जाति दिन बदिन उन्नतिके

उच्च शिखर पर आरोहण करेगी। चाहे किसी जाति पर कितनी ही आपत्ति आवे, यदि जातीयताके विशेष विशेष लक्षण अक्षुण्ण रहे तो वह जाति कदापि नष्ट नहीं हो सकती; अधिकन्तु समस्त वाधाओं तथा विपत्तियोंको झेलकर पुनः उन्नति कर सकती है। परन्तु यदि जातीयताके विशेष विशेष भाव ही नष्ट हो जायँ, तो किसी जातिकी व्यावहारिक उन्नति व संख्या-वृद्धि चाहे जितनी क्यों न हो, वह जाति विशेषतासे भ्रष्ट होनेके कारण अपने अस्तित्वको खोकर अन्य जाति बन जाती है और इस दशामें उसकी उन्नति किसी कामकी नहीं होती। जातीयता ही जातिका प्राणरूप है। उसी प्राणशक्तिके नष्ट होनेसे जाति निर्जीव तथा मृत हो जाती है और इस मृत अवस्थामें उसकी कोई भी उन्नति यथार्थ उन्नति कहलाने योग्य नहीं होती।

यह पहिले ही हम वेद और शास्त्रों द्वारा दिखा चुके हैं कि जिस मनुष्य जातिमें वर्ण व आश्रमधर्म विद्यमान हो, जिस जातिके प्रत्येक कार्य्य, भाव और चिन्तामें अध्यात्मलक्ष्य सर्वप्रधान स्थान प्राप्त करता हो, जिस जातिमें आचार-धर्मका पालन करना सर्व प्रधान कर्तव्य समझा गया हो और जिस जातिकी नारियोंमें सती धर्मका आदर्श विद्यमान हो वही आर्यजाति कहाती है। और जिस जातिमें ये सब धर्मलक्षण नही मिलते, वही अनार्यजाति कही जायगी। वस्तुतः केवल वहिरङ्गके—मुखनासिका आदिके—लक्षणोंको देखकर आर्य व अनार्य जातिका निश्चय करना सनातनधर्म-विज्ञान द्वारा अनुमोदित नहीं हो सकेता। जिस जातिमें रज और वीर्यकी शुद्धिको प्रधान मानकर जन्म, कर्म और ज्ञानके विचार द्वारा वर्णधर्मकी शृङ्खला जारी है वही आर्यजाति कहावेगी। जिस जातिमें यह शृङ्खला प्रचलित नहीं है, वह जाति सनातनधर्मके अनुसार अनार्य जाति कहावेगी। जिस जातिके विद्यार्थिगण ब्रह्मचर्य व्रतधारण पूर्वक आत्माकी उन्नतिको प्रधान लक्ष्य रखकर विद्याभ्यासमें प्रवृत्त रहेंगे और अपने विद्यादाता आचार्यको परम देवता समझकर अति भक्तिसे उनकी सेवामें तत्पर रहेंगे वही आर्यजाति कहावेगी। जिस जातिके विद्यार्थियोंमें इन लक्षणोंका एकवारही अभाव हो जायगा वह जाति सनातनधर्मके सिद्धान्तानुसार अनार्यजाति कहावेगी। जिस जातिमें मनुष्यगण स्त्रीसंसर्ग, धनसंग्रह आदि प्रवृत्तिदायक विषय, विषयभोग-वासना-निवृत्तिके लिये ही ग्रहण करेंगे, जिस जातिके दम्पति इन्द्रियदमनके लिये ही इन्द्रियभोग शास्त्रनियमानुकूल करेंगे, वही जाति आर्यजाति कहावेगी। और जिस जातिमें यह लक्षण नहीं पाये

जायँगे वही जाति सनातनधर्म-विज्ञानके अनुसार अनार्यजाति कहलावेगी। जिस जातिके मनुष्य अपने जीवनको केवल प्रवृत्ति-भोगके लियेही न समझकर निवृत्तिको ही जीवनका लक्ष्य समझते हुए अपने इस जीवनके नियत समयसे एकवार ही प्रवृत्ति सम्बन्धके त्याग करनेके लिये प्रस्तुत होंगे और अन्तमें पूर्णरूपसे निवृत्ति-धर्मके अधिकारका दावा रक्खेंगे वही आर्यजाति कहावेगी और जिस मनुष्यजातिमें ये सब लक्षण नहीं पाये जाते; सनातनधर्मके अनुसार वह अनार्यजाति कहावेगी। जिस मनुष्यजातिके उठने- बैठनेमें, चलनें फिरनेकी सब चेष्टाओंमें, भाव व चिन्ताओंमें, भोजन व आच्छादनमें, अपिच सब शारीरिक व मानसिक कर्म्मोंमें, केवल आत्मसाक्षात्कार-प्राप्तिकारी आध्यात्मिक लक्ष्य ही प्रधान समझा जाता है, वही जाति हिन्दुशास्त्रके अनुसार मनुष्यसमाजमें आर्यजाति कहावेगी। और जिस जातिमें ये लक्षण विद्यमान नहीं हैं वैदिक दर्शन सिद्धान्तके अनुसार वह जाति अनार्यजाति कहलावेगी। जिस मनुष्य जातिमें धर्मकी सूक्ष्मताका रहस्य इतना समझा गया हो कि सब प्रकारकी शारीरिक चेष्टाओंके साथ धर्मका सम्बन्ध है और आचार भी धर्म है, वही जाति वैदिक सिद्धान्तके अनुसार आर्यजाति कहावेगी। और जिस जातिमें आचारके साथ धार्मिक कर्त्तव्यका कोई भी सम्बन्ध न माना जाय, सनातनधर्मके सिद्धान्तानुसार वही जाति अनार्यजाति कहावेगी। जिस मनुष्य जातिमें सतीधर्मका आदर्श विद्यमान हो, जिस जातिकी नारियोंमें मनसे भी द्वितीय पुरुषके सङ्गको पाप करके माना गया हो और जिस जातिकी कुलाङ्गनाएँ इहलोक व परलोक दोनोंमें समानरूपसे पतिके अनुगमनको ही परमधर्म्म मानती हों, वही मनुष्यजाति आर्यजाति कही जायगी। और जिस मनुष्यजातिमें त्रिलोक-पवित्रकर इस प्रकारके सतीधर्मका-आदर्श विद्यमान न हो, सनातनधर्मके सिद्धान्तानुसार वह जाति अनार्यजाति कहावेगी। सब विज्ञानका सारांश यह है कि वैदिक दर्शन शास्त्रके अनुसार आर्यजाति और अनार्यजातिका भेद मनुष्यके बहिर्लक्षणोंसे नहीं निश्चय किया गया है। वैदिकशास्त्रोंमें आर्य व अनार्यजातिका विचार अन्तर्लक्षणोंको देखकर निर्णय किया है। इस विषयको सदा ध्यानमें रखना चाहिये।

आजकल भारत वर्षमें कई एक संस्थाएँ ऐसी चल पड़ी हैं, जिन्होंने आर्यजातिकी उपर्य्युक्त मौलिक विशेषताको न समझ कर उसके उड़ानेमें ही और अन्यजातियोंको अपनेमें मिला कर केवल संख्या वृद्धि करनेमें ही

आर्यजातिकी उन्नति समझ ली है और उसीके अनुसार कार्य करके दिन व दिन अनार्यजातिसे आर्यजातिकी उपर्युक्त विशेषताकी बातोंको उड़ानेकी वे चेष्टा कर रही हैं। इस प्रकार प्रयत्न सर्वथा भ्रान्तियुक्त व आर्यजातिको अनार्य बनानेकी सम्भावनासे युक्त है। आर्यजाति यदि आर्यभावको दृढ़ रख कर थोड़ी संख्यामें ही रह जाय तो कोई हानि नही, क्योंकि इससे आर्यजातिकी बीजरक्षा हो जायगी और अनुकूल कालको प्राप्त करके वही बीज वृद्धिको प्राप्त होकर पुनः इस जातिकी अपनी प्राचीन संख्याको प्राप्त कर सकेगा। परन्तु यदि नवीन अज्ञानमय सुधारके द्वारा आर्यजातिका बीज ही नष्ट हो जायगा, तो संख्यामें चाहे जितनी ही वृद्धि क्यों न हो, जातीयतासे भ्रष्ट होनेके कारण वह संख्यावृद्धि किसी कामकी नही होगी। आर्य अनार्य बनकर संख्या वृद्धि करें, हिन्दु अहिन्दु होकर संख्यामें वढ़ जायँ तो इस प्रकारकी संख्यावृद्धिसे फल क्या है? यही अर्वाचीन समाजसंस्कार व प्राचीन सनातन समाज-संस्कारकी विधिमें भेद है। सनातन समाज-संस्कार जातीयताकी बीज रक्षा पर स्थित है और अर्वाचीन समाज-संस्कार आर्यजातिके बीजको ही नष्ट करके केवल मनुष्योंकी गिनती वढ़ाने पर निर्भर है। विचार करने पर सिद्धान्त होगा कि सनातन समाज-संस्कारकी विधि ही यथार्थ व दूरदर्शितासे पूर्ण है और इसीके द्वारा यथार्थ आर्यजाति पृथ्वी पर विराजमान रहेगी। अर्वाचीन समाज-संस्कार प्रथासे आर्यजाति अपने गौरवान्वित पदसे गिर कर अन्य जाति वन जायगी। अतः प्रत्येक समाज संस्कारककी दृष्टि आर्यजातिकी विशेषता पर आकृष्ट होनी चाहिये और उसीको दृढ़ रख कर सकल प्रकारका संस्कार कार्य होना चाहिये।

एक असल ब्राह्मणका वीज भारतमें रह जाय तो पुनः आर्यजातिमें हजारों सच्चे ब्राह्मण उत्पन्न हो सकते हैं। परन्तु हजारों अब्राह्मणोंके रहनेसे आर्य-जाति उन्नत न होगी। एक असल क्षत्रिय रह जाय तो पुनः आर्यजातिमें प्राचीन क्षत्रिय तेज आ सकता है। परन्तु हजारों अयोग्य क्षत्रियभावहीन मनुष्योंसे कुछ नहीं हो सकता। एक यथार्थ आर्यभावसम्पन्न परिवार रह जाय तो उससे आर्यजाति पुनः अपने प्राचीन गौरवको प्राप्त हो सकती है। परन्तु हजारों अनार्य भावापन्न परिवारोंसे आर्यजाति ध्वंस ही हो जायगी। उन्नति नहीं करेगी। एक सावित्रीके रहनेसे हजारों सावित्रीमाता बन सकती हैं, परन्तु लाखों अविद्यामयी स्त्रियोंके रहनेसे आर्यजाति रसातलको

चली जायगी । उन्नति नहीं करेगी । एक सच्चे ब्रह्मचारी शुकदेवके सदृश रहनेसे हजारों शुकदेव बन सकेंगे परन्तु हजारों व्यभिचारियोंकी संख्यावृद्धिसे आर्यजाति उन्नति नहीं करेगी; किन्तु नाश को प्राप्त हो जायगी । एक भीष्म वा अर्ज्जुनके सदृश बीज रहनेसे हजारों भीष्म, अर्ज्जुन बन सकेंगे । परन्तु हजारों कायर गीदड़ोंके रहनेसे आर्यजाति उन्नति नही कर सकेगी । एक वशिष्ठ याज्ञवल्क्य व्यास सदृश ऋषि-बीज आर्य जातिमें रह जानेसे कालान्तरमें अनेक निवृत्तिसेवी जगद्गुरु विद्वान् ब्राह्मण और संन्यासी पुनः पैदा हो कर जगत्को ज्ञान ज्योतिसे आलोकित कर सकेंगे; नहीं तो वृथा नास्तिक और कदाचारी मनुष्योंकी संख्या बढ़ानेसे यह त्रिलोकपवित्रकर आर्यजाति नष्ट भ्रष्ट हो जायगी । इसी प्रकार जातीय बीजरक्षाकी विधिके ऊपर आर्यजातिका संस्कार होना चाहिये । अन्यान्य जातियोंसे आर्यजातिकी विशेषताके विषयोंको दृढ़ करके उसी पर जातीय जीवनकी प्रतिष्ठा करनी चाहिये । तभी आर्यजातिका यथार्थ कल्याण होगा ।

तृतीय समुल्लासका पंचम अध्याय समाप्त हुआ ।



समाज और नेता।



वहिःस्थूल राज्य अन्तःसूक्ष्म राज्यकी प्रतिकृति है। इस कारण जो पदार्थ और शक्तियाँ सूक्ष्मरूपसे अंतरराज्यमें है, वे ही पदार्थ और शक्तियाँ वहिरराज्यमें भी विद्यमान हैं। अपिच जिस प्रकारसे अन्तरराज्यकी सुरक्षा और सुव्यवस्था होती है, ठीक उसी रीतिपर यदि वहिरराज्यकी सुरक्षा और सुव्यवस्था की जाय तो उन्नतिके मार्गमें बाधा होनेकी कोई सम्भावना नहीं रहती।

त्रिगुणमय सर्वशक्तिमान् भगवानके अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंमेंसे प्रत्येक ब्रह्माण्डकी आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक सुरक्षा और सुव्यवस्थाके लिये जिस प्रकार श्रीभगवान्‌के साक्षात् विभूति रूपसे ऋषिगण, देवगण और पितृगण विद्यमान रहकर यथायोग्य कर्तव्यसाधनमें तत्पर हैं, ठीक उसी शैलीके अनुसार जब मनुष्यसमाजकी सुरक्षा और सुव्यवस्थाका प्रयत्न हो तब ही पूर्णरीत्या कल्याण हो सकता है। ऋषिगण सूक्ष्मराज्यमें अवस्थित रहकर ब्रह्माण्डके ज्ञान-सम्बन्धी अध्यात्मराज्यकी सुरक्षा और सुव्यवस्था करते हैं। देवदेवीगण सूक्ष्मराज्यमें अवस्थित रहकर ब्रह्माण्डके अधिदैव कर्मराज्यकी सुरक्षा और सुव्यवस्था किया करते हैं। पितृगण सूक्ष्मराज्यमें अवस्थित रहकर ब्रह्माण्डके आधिभौतिक स्थूल अङ्गकी सुरक्षा और सुव्यवस्था करते हैं। तीनों ही श्रीभगवान्‌की साक्षात् शक्तिको धारण करके अपने अपने कार्य विभागोंको यथावत् चलाते हुए स्थावर जंगमात्मक स्थूल और सूक्ष्मलोकमय इस जगत्‌को नियमाधीन रखकर उन्नतिके पथपर चलाया करते हैं। इसी उदाहरणपर समाज और नेताके स्वरूपका अनुसन्धान करने योग्य है।

चतुर्दश भुवनोंमें जितने प्रकारके जीवोंका वास है, उनमेंसे मनुष्य शरीरधारी जीवकी महिमा शास्त्रकारोंने सबसे अधिक वर्णन की है। यद्यपि मनुष्यसे निम्न श्रेणिके जीव अनेक हैं यथाः—उद्भिज योनिके जीव, स्वेदजयोनिके जीव, अण्डज योनिके जीव और जरायुज योनिके जीव; उसी प्रकार मनुष्य योनिसे उन्नतजीव भी अनेक हैं यथाः—किन्नर, गन्धर्व और

उन्नत देवलोकके अनेक जीव इत्यादि। परन्तु मनुष्य इन ऊर्द्ध अध दोनों प्रकारकी जीवश्रेणिके मध्यमें होनेपर भी कर्म करनेमें विशेष स्वतन्त्र रहनेके कारण मनुष्यकी महिमा सर्व शास्त्रोंसे सिद्ध है। इसी कारण मनुष्यसमाजकी सुरक्षा और मनुष्यसमाजकी सुव्यवस्था तथा उसकी विना रोकटोकके क्रमोन्नति होनेके लिये पूर्वकथित सिद्धान्तके अनुसार उपायका अवलम्बन करना ही सब प्रकारसे सुविधाजनक है। ऐसी ही पूज्यपाद ऋषि-मुनियोंने आज्ञा की है।

देश, काल और धर्मके भेदके अनुसार मनुष्यसमाज स्वतन्त्र रूपसे गठित हुआ करता है और इन्हीं तीनोंके महत्त्वके अनुसार मनुष्य समाजका महत्त्व भी प्रतिपादित होता है। जिस मनुष्यसमाजकी जन्मभूमि सब प्रकारकी प्राकृतिक योग्यतासे पूर्ण हो; जो मनुष्यसमाज अपेक्षाकृत बहु-काल स्थायी हो और जिस मनुष्यसमाजका धर्म अपेक्षाकृत बहुदर्शिता और धर्मके पूर्ण अङ्गोंसे युक्त हो, दूरदर्शी पण्डितोंके निकट वही मनुष्यसमाज अधिक आदर पाने योग्य होगा। और उसी मनुष्यसमाजकी सुरक्षा और स्थायी क्रमोन्नति होना स्वतःसिद्ध है कि जिस मनुष्यसमाजमें सब प्रकारके योग्य सामाजिक नेता विद्यमान रहते हैं।

जिस प्रकार मनुष्य उत्पत्ति स्थिति और नाशवान है परन्तु सदाचार और योगादि साधन द्वारा वह दीर्घायु हो सकता है, उसी प्रकार मनुष्यसमाज नाशवान होने पर भी दूरदर्शिता और अध्यात्मलक्ष्य आदिके द्वारा सुरक्षित होनेसे बहुकाल स्थायी रह सकता है। सदाचारपालनके द्वारा मनुष्य पूर्णायु प्राप्त कर सकता है और योगादि साधन द्वारा मनुष्य अति आयु प्राप्त कर सकता है। यह तो शास्त्र और लौकिक उदाहरणसे भी स्वतः सिद्ध है कि जो व्यक्ति आहार विहारका नियम ठीक ठीक रखते हैं, जो व्यक्ति शरीर और मन दोनोंको पवित्र रख सकते हैं, जो व्यक्ति इन्द्रियादि संयम और भगवदुपा-सना करते हुए धर्ममार्ग पर चलते रहते हैं, और जो व्यक्ति असत्संग, असत् व्यवसाय और असत् चिंतासे अपनेको बचाकर अपने जीवनको नियमबद्ध रखते हैं, ऐसे सदाचारी अवश्य दीर्घायु हुआ करते हैं। दूसरी ओर महर्षि-योंके योग विज्ञानने यह अच्छी तरहसे सिद्ध कर दिखाया है कि योगीके निकट संचित क्रियमाण और प्रारब्ध इन तीनोंमेंसे किसीका भी प्रभाव नहीं रहता। इससे योगदर्शनने दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्टजन्मवेदनीय दो प्रकारके ही

कर्म माने हैं। यदि योगी यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन आठों योगाङ्गोंको पूर्ण रीतिसे सिद्ध कर सके तो ऐसा योगिराज अपने पुराने कर्मोंमेंसे चाहे जितने कर्मोंको खेंचकर जितने दिन चाहे अपने शरीरको स्थायी रख सकता है। (योगका विस्तरित विवरण आगेके समुल्लासोंमें आवेगा) सुतरां पूर्वकथित वर्णनसे यह सिद्ध हुआ कि यदि मनुष्य सदाचारी हो तो वह अवश्य पूर्णायु होगा और यदि मनुष्य योगिराज बन सके तो वह अपनी आयुको बहुत कुछ बढ़ा सकता है। ठीक उसी रीतिके अनुसार मनुष्य-समाज भी दीर्घायु और बहुकाल-व्यापी आयुको प्राप्त कर सकता है। पूज्यपाद महर्षियोंके विचारमें मनुष्यसमाजकी पूर्ण आयु चार युगोंकी समझी गई है। यथाः—सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग। मनुष्यसमाजका चार युग पर्यंत जीवित रहना पूर्णायु समझा जा सकता है और अनेक युग युगान्तर तक जीवित रहना अति दीर्घायु समझा जा सकता है। आर्यजातिके सामाजिक दीर्घजीवन प्राप्तिके लिये पूज्यपाद महर्षियोंने दो प्रकारके अनुशासन बाँध दिये हैं। एक वर्णाश्रम धर्मकी व्यवस्था और दूसरा आर्यजातिके सामाजिक जीवनमें सामाजिक नेताओंका सुप्रबन्ध।

किसी मनुष्यसमाजके सब प्रकारके नेता यदि योग्य बने रहें तो वह मनुष्यसमाज अवश्य ही पूर्वकथित नियमानुसार दीर्घायु होगा। और यह तो पूर्व अध्यायमें भली भाँति सिद्धकर दिखाया गया है कि वर्णाश्रमधर्मोंसे युक्त आर्यजातिही सृष्टिके आदिसे अन्त तक जीवित रह सकती है। उद्भिजसे स्वेदज, स्वेदजसे अण्डज, अण्डजसे जरायुज, जरायुजसे मनुष्ययोनिमें जीवकी क्रमोन्नति नियमित रूपसे होने पर भी मनुष्ययोनिमें जीवके पहुँचने पर उसकी स्वाभाविक गति पुनः नीचेकी ओर हो जाती है। अन्यान्य योनियोंके जीव प्रकृति माताके नियमाधीन और पराधीन रहनेके कारण उनकी क्रमोन्नति प्रकृतिमाताकी कृपासे अवश्यसम्भावी हुआ करती है; परन्तु मनुष्ययोनिमें पहुँच कर जब जीव प्रकृतिके नियमोंका उल्लंघन करता हुआ स्वाधीन और स्वेच्छाचारी बन जाता है तो उस दशामें उसकी स्वाभाविक गति पुनः नीचेकी ओर हो जाती है। इस अवस्थामें प्रवृत्तिरोधक वर्णधर्म और निवृत्तिपोषक आश्रमधर्म किस प्रकारसे मनुष्यकी क्रमोन्नतिके मार्गको स्थिर करते हैं, सो पूर्व अध्यायोंमें भली भाँति दिखाया गया है। सुतरां वर्ण और आश्रमधर्मकी यथावत् सुव्यवस्था जिस मनुष्य जातिमें जब तक बनी रहेगी, तब तक उस जातिकी

बीज रक्षा होगी और वह जाति सृष्टिके अन्त पर्यन्त जीवित रहकर बहु आयुको प्राप्त कर सकेगी ।

आर्यजातिके सदाचारोंके अनुसार सामजिक नेता तीन तरहके माने गये हैं। यथाः—गृहपति, समाजपति और ब्राह्मण व संन्यासी। वेद और वेद-सम्मत शास्त्रोंके अनुसार हिन्दु परिवार एक छोटासा राज्य है और गृहपति उस छोटेसे राज्यका राजा होता है। अतः हिन्दु समाजकी सुरक्षा और सुव्य-वस्था प्रथम हिन्दुगृहसे हिन्दुगृहपतिके द्वारा प्राप्त होती है । हिन्दुगृहपति हिन्दुसमाजमें सबसे प्रथम आवश्यकीय नेता है। इस नेतृत्वमें गृहही राज्य और परिवारवर्ग प्रजा होनेके कारण बहिःशत्रुओंसे राज्यरक्षा करनेकी अपेक्षा भीतरकी शान्तिरक्षाका ही प्रयोजन अधिक रहता है । बाल बच्चोंमें कलह, परिवारके स्त्री पुरुषोंमें अनबन व कलह आदि इसमें अशान्ति उत्पन्न करता है। गृहपतिका कर्त्तव्य है कि जिससे ऐसी अशान्तिका कारण ही न हो-सके ऐसा प्रयत्न करें और यदि कदाचित् हो भी जाय तो जिससे वह अशांति शीघ्र ही नष्ट होजाय और परिणाममें अशुभ फल उत्पन्न न करे ऐसा प्रयत्न गृहपतिको अवश्य ही करना चाहिये । सामाजिक शान्तिरक्षाका जो मूल सूत्र है, पारिवारिक शान्तिरक्षाका भी वही मूलसूत्र है। वह मूलसूत्र अकृत्रिम पक्षपातशून्यता है। जिस परिवारके गृहपति निष्पक्ष होकर परिवारमे झगड़ा बन्द कर सकते है और दोषीका तिरस्कार तथा निर्दोषीका पुरस्कार कर सकते हैं, वे केवल अपनेको और परिवारको शान्तिसुख दे सकते हैं, इतना ही नहीं अधिकन्तु परिवारके भीतर धर्मबीज वपन करके अपने जीवनको भी सफल कर सकते हैं। दया, दाक्षिण्य, विनय, सौजन्य, कार्यतत्परता आदि समस्त सद्गुणोंके मूलमें ही न्यायपरायणता रहना आवश्यक है । परिवारमें इस न्यायपरताके अभाव होनेसे समाजमें भी इसका अभाव होगा जिससे सत्य-निष्ठा व श्रद्धाका ह्रास हो कर समाज भी हीनबल हो जायगा। अतः गृह-पतिका कर्त्तव्य है कि दया, क्षमा, दानशीलता आदि कोमल वृत्तियोंके साथ न्यायपरता, सत्याचार, वाङ्‌निष्ठा, दृढ़प्रतिज्ञता आदि स्वर्गीय पवित्र वृत्ति-योंको मिलाकर दोनोंका सामञ्जस्य करके अपने परिवारके साथ अपना वर्त्ताव रक्खें; तभी गृहपति अपने परिच्छिन्न राज्यमें अपरिच्छिन्न शान्तिका विस्तार कर सकेंगे। एक एक ग्राम अथवा एक एक खण्ड समाजके अधिपति हिन्दुसमाजकी दूसरी श्रेणिके नेता हैं। अब भी ऐसे सामाजिक नेता बहुतसे स्थानोंमें सरपञ्च-

के नामसे अभिहित होते हैं। अति प्राचीन कालसे हिन्दुजातिमें सामाजिक पञ्चायतकी रीति प्रचलित है। ग्राम पञ्चायत, कई ग्रामोंके समूहकी पञ्चायत और प्रादेशिक पञ्चायत ऐसी कई प्रकारकी पञ्चायतोंकी विधि हिन्दुसमाजमें अति प्राचीनकालसे प्रचलित है। इसका प्रमाण अर्थशास्त्र और अनेक इतिहासोंमें भली भाँति मिलता है। बौद्ध सम्राटोंके समय भारतवर्षमें इस प्रकारकी पञ्चायतें उपस्थित थीं और उन पञ्चायतोंके नेता चुनावकी सार्वजनिक प्रथाके अनुसार निर्वाचित होते थे इसका प्रमाण बौद्ध ग्रन्थोंके अनेक स्थानोंमें मिलता है। तदनन्तर मुसलमान साम्राज्यके समयमें भी यह पञ्चायत प्रथा बहुत ही दृढ़ताके साथ भारतवर्षमें प्रचलित थी, इसका प्रमाण उस समयके इतिहासके ग्रन्थोंमें पाया जाता है।

मुसलमान साम्राज्यके समय इस प्रकारकी ग्राम, नगर और प्रादेशिक पंचायती प्रथा इतनी सुदृढ़ थी कि मुसलमान राजपुरुषोंने अपनी स्वार्थपूर्ण राजकीय सफलताके विचारसे अनेक वार उक्त प्रथाके नष्ट कर देनेका बड़ा भारी यत्न किया था। और यह तो इतिहाससे भली भाँति सिद्ध है कि जिस समय प्रवल पराक्रमी अफ़गान और मुगलसम्राटोंने बलपूर्वक हिन्दु-समाज और हिन्दुधर्मके स्थान पर मुसलमान सामाजिक व्यवस्था और मुसलमान धर्म्मको सारे भारतवर्षमें स्थापन करनेका पूरा यत्न किया था, उस समय उनके सब प्रकारके प्रवल पुरुषार्थ विफल ही नहीं हुए थे किन्तु इसी सुदृढ़ सामाजिक सुव्यवस्थाके कारण ही विजयी मुसलमानगणको हिन्दु आचार व्यवहारके पक्षपाती बनना पड़ा था। पूज्यपाद महर्षियों द्वारा प्रदर्शित सनातनधर्मके सदाचारोंकी दृढ़ता और सामाजिक अनुशासनव्यवस्थाका ही कारण है कि अनेक शताब्दियोंसे यह आर्यजाति मर्द्दित होने पर भी इसके आन्तरिक स्वरूपमें कोई भी परिवर्तन कर नहीं सका है। मुसलमान साम्राज्यके समय हिन्दु पञ्चायत व्यवस्थाका प्रभाव विजयी मुसलमान राजपुरुषों पर इतना अधिक पड़ा था कि उन्होंने अनेक बार इस प्रथाके पक्षपाती बनकर सामाजिक नेताओं पर अपना राजनैतिक प्रभाव जमानेके अर्थ उनको राजमानसे अलंकृत किया था। मण्डलपति, सरपंच, चौधरी, सरदार, मलिक (बंगालेमें मल्लिक बन गया है) आदि मुसलमान सम्राटोंकी दी हुई उपाधियाँ अभीतक जो भारतवर्षके अनेक प्रदेशोंमें प्रचलित हैं, सो सब सामाजिक नेताओंकी उपाधियाँ हैं।

सनातन धर्मोक्त वर्णाश्रमके सदाचारोंके अनुसार जैसे गृहपति स्वाभाविक नेता हैं वैसेही वर्णके गुरु ब्राह्मण और आश्रमके गुरु संन्यासी हिन्दु-समाजके स्वाभाविक नेता हैं। भेद इतना ही है कि गृहपति और समाजपति हिन्दुसमाजके सदाचार रक्षक नेता हैं और ब्राह्मण और संन्यासी धर्म और आध्यात्मिक उन्नति कराने वाले नेता हैं। सनातनधर्ममें आध्यात्मिक लक्ष्यको सबसे बड़ा स्थान दिया गया है। इस कारण इन दोनों आध्यात्मिक नेताओंका अधिकार हिन्दुओंमें सबसे बड़ा माना गया है। हिन्दुसदाचारके अनुसार हिन्दु-समाजमें ब्राह्मण स्वभावतः सर्वमान्य हैं। चाहे अन्य किसी वर्णका मनुष्य हो, चाहे लोकपति राजा क्यों न हो, ब्राह्मणका सम्मान करना, ब्राह्मणको देखते ही प्रणाम करना, विद्वान् ब्राह्मणका परामर्श स्वीकार करना उसका धार्मिक कर्तव्य है। यद्यपि मूर्ख ब्राह्मण और ब्राह्मणवृत्तिहीन ब्राह्मणका परामर्श मानना-अथवा श्राद्ध आदिमें भोजन कराना शास्त्रमें निषिद्ध है, परन्तु विद्वान् वेदज्ञ और ज्ञानवान् ब्राह्मणोंको देववत् आदर करनेकी आज्ञा शास्त्रके सब स्थानोंमें पाई जाती है। सनातनधर्मके शास्त्रोंके अनेक स्थानोंमें ऐसी आज्ञा पाई जाती है कि विद्वान् ब्राह्मणमण्डली धर्मसम्बन्धमें जो व्यवस्था देवे वह व्यवस्था वेदके समान माननीय है। जिस प्रकार वर्णके गुरु ब्राह्मण हिन्दुसमाजमें स्वाभाविक रीत्या हिन्दु-समाजके नेतृत्वको प्राप्त किये हुए हैं, आध्यात्मिक कार्योंमें, आध्यात्मिक उपदेश ग्रहण करानेमें और आध्यात्मिक नेतृत्वके विचारसे सब आश्रमोंके गुरु संन्यासीगण भी अतिशय माननीय समझे गये हैं। यह एक सर्ववादिसम्मत सिद्धान्त है और आर्यजाति शीर्षक प्रवन्धके द्वारा पहले ही प्रतिपादन किया गया है कि पूर्ण प्रकृतिकी विकाशभूमि भारतवर्ष ही है और इसीलिये समाजिक पूर्णादर्शका विकाश भारतवर्षमें ही हो सकता है। भारतके प्राचीन इतिहासपर पर्यालोचन करनेसे स्पष्ट मालूम होता है कि वर्णगुरु ब्राह्मण व आश्रमगुरु सन्न्यासियोंने ही चिरकालसे इस समाजकी रक्षा की है। जबतक हिन्दुसमाजमें महर्षि वशिष्ठ जैसे ब्राह्मणनेता होते थे तब तक रामराज्यकी शान्ति व उन्नति भारतमें विद्यमान थी और जबतक भारतवर्षमें महर्षि याज्ञवल्क्य जैसे संन्यासीनेता हिन्दुसमाजरूपी तरणीके कर्णधार थे तबतक प्रबल विपत्तिरूपी आँधीके धक्केसे भी हिन्दुसमाज नहीं हिला। आर्य्यजातिकी अतिवृद्ध दशामें भी श्रीभगवान् शंकराचार्य्य जैसे सन्न्यासीने भारतवर्षव्यापी हिन्दू-समाजका पुनः संस्कार करके भारतवर्षके चार कोनोंमें चार धर्म्मराजरूपी चार-

धर्म्माचार्य्योंको बैठाकर हिन्दू समाजको पुनः सुदृढ किया था। रत्नप्रसविनी भारतमाता है। इसलिये भारतके इस दुर्दशाके दिनोंमें भी भारत बीजशून्य नहीं है और इसीके फलसे आजदिन सामाजिक जीवनमें बाहरसे इतना धक्का लगने-पर भी भारतका सामाजिक जीवन अभी तक नष्ट नहीं हुआ है।

समाज मनुष्योंके सम्मिलनसे उत्पन्न होता है। इसलिये अन्तःसम्मिलन जितना दृढ़ होगा समाज उतना ही बलवान् होगा और उसकी क्रियाशक्ति भी उतनी ही बढ़ेगी। सम्मिलन बढ़ता है सहानुभूति की वृद्धिसे, सम्मिलन बढ़ता है स्वार्थत्यागसे, फलतः सम्मिलन बढ़ता है धर्म्मकी वृद्धिसे। अतः जिस समाजमें धर्मकी जितनी वृद्धि होगी उसमें समाजकी सर्वाङ्गीण उन्नति भी उतनी ही होगी। समाजकी यथार्थ उन्नति केवल शिल्पादिकी उन्नतिसे नहीं होती, केवल व्यावहारिक जीवनकी भोग्य वस्तुओंको सुलभ बनाने पर भी नहीं होती, धनकी विशेष वृद्धि द्वारा भी नही होती, मौखिक साम्यभाव विस्तार करनेसे भी नही होती और आत्मश्लाघा करने पर भी नहीं होती है। जिस समाजमें मनुष्योचित आदर्श जितना उच्च है, उसके प्रति प्रीति, भक्ति व उसकी साधनचेष्टा जितनी अधिक है, वह समाज उतना ही धार्मिक व उन्नतिशील हुआ है इसमें सन्देह नहीं। महान् शोकका विषय है कि वर्त्तमान हिन्दु समाजमेंसे उल्लिखित मनुष्यचित्तादर्श दिन व दिन लुप्त होता जाता है। हिन्दु धर्मसमाज से त्याग, विषयवैराग्य व सदाचारका प्रवाह घट कर उसमें दिन प्रति दिन विषयतृष्णाका प्रबलवेग होता जाता है। वर्णाश्रमकी मर्यादा इतनी शिथिल हो गई है कि यथार्थ वर्णधर्म और आश्रमधर्मका आदर्शजीवन कदाचित् बहुत ही अन्वेषणसे दिखाई पड़ता है। साथ ही साथ नारीगणमें पतिसेवारूपी धर्मकी न्यूनता होकर विलास वृद्धि हो चली है। आर्यनारीगणमें पतिभक्तिका अभाव, आर्यपुरुषोंमें सत्यप्रियताका अभाव और आर्य बालक बालिकाओंमें पितृ-मातृ-भक्ति व गुरुजनोंमें भक्तिका अभाव दिन प्रतिदिन बढ़ता ही दिखाई देता है। अन्तःशुद्धि जो हिन्दुसमाजका प्रधान लक्ष्य था उसका लोप होकर बाह्याडम्बर-की ओर अधिक लक्ष्य पड़ने लगा है। परोपकार-प्रवृत्ति, स्वजाति-अनुराग, स्वदेशप्रेम, उत्साह, न्यायदृष्टि, सरलता, पवित्रता, एकता, आस्तिकता, शौर्य्य, पुरुषार्थशक्ति आदि मनुष्यजातिकी उन्नत गुणावलीका अभाव हिन्दु समाजमें दिन व दिन बढ़ता जाता है। गुणपरीक्षाकी शक्ति समाजमेंसे बिलकुल ही जाती रही है। समाजमें यहाँतक लघुता आगई है कि जो महापुरुष देश, जाति व

धर्मके लिये कदाचित् आत्मोत्सर्ग करते हैं उन्हींको लोग स्वार्थी, प्रवञ्चक व कपटी समझकर उनके साथ दुर्व्यवहार करनेमें प्रवृत्त होते हैं और वाह्याडम्बरयुक्त स्वार्थी और कपटाचारी लोग ही समाजमें धर्मसेवी माने जाते हैं। मुसलमानराज्यके समय अनेक प्रकारकी असुविधा होनेपर भी इस समाजमें जो आर्यजनोचित रीति, नीति, धर्म, कर्म, शिल्प, वाणिज्य, वेष, भाषा और सदाचार आदि की प्रतिष्ठा थी, आज उदार, शान्तिप्रद ब्रिटिश राज्यमें समाजोन्नतिके विषयमें सकल प्रकारकी सुविधा रहने पर भी वह आर्यजनोचित रीति, नीति, धर्म, कर्म, सदाचार आदि विलुप्तप्राय देखनेमें आरहे हैं। इतिहासज्ञ पुरुष मात्र ही अनुसन्धान द्वारा जान सकते हैं कि आर्यजाति ही पृथिवीकी अन्यान्य सकल जातियोंकी आदि व शिक्षागुरु है। धर्मकी उन्नति, वैज्ञानिक उन्नति, शिल्पकी उन्नति, संगीतविद्याकी उन्नति, युद्धविद्याकी उन्नति, चिकित्साविद्याकी उन्नति, ज्योतिषविद्याकी उन्नति, दार्शनिक उन्नति, समाजकी उन्नति और भाषागत उन्नति आदिके विषयमें हिन्दुसमाज ही सबसे प्रथम पूर्णाधिकारको प्राप्त हुआ था और तदनन्तर उसकी ही ज्ञानप्रभा शिष्यपरम्परा द्वारा पृथिवी भरमें प्रकाशित हुई है। इन विषयोंके अनेक प्रमाण व दृष्टान्त आर्यजाति शीर्षक प्रवन्धमें पहले ही दिये गये हैं। कराल कालकी विकराल-गतिका पार नहीं। प्रायः दो सहस्र वर्ष पहिले जो जाति पशुवत् थी अब वही जाति योग्यता प्राप्त करके अधःपतित आर्यजातिकी शिक्षागुरु होनेके लिये अग्रसर हो रही है और अति प्राचीन कालसे जो जाति जगद्गुरु नामसे प्रसिद्ध थी उसी आर्यजातिकी वर्त्तमान हीनावस्था देखकर पृथिवीकी अन्यान्य जातियाँ उपहास पूर्वक अंगुली उठाने लगी हैं। अनुकरण-शून्यता और एकताके न होनेसे जातीय भावकी उन्नति नहीं हो सकती और विना जातीय भावकी रक्षाके कोई जाति चिरकाल पर्यन्त जीवित नही रह सकती। स्वजातीय ऐक्यका अभाव और परजातीय अनुकरणकी वृद्धि द्वारा आज दिन हिन्दुसमाज बहुत ही हीनताको प्राप्त हो गया है। वेश और भाषाकी तो इतनी दुर्दशा हो गई है कि हिन्दुसमाज अपना जातीय वेष और अपनी मातृभाषाको छोड़कर विजातीय वेष और भाषाके ग्रहण करनेमें अपनेको सम्मानित समझने लगा है। विचार द्वारा यह अनुमान में आ सकता है कि नाना प्रकारसे लांछित और पीड़ित होने पर भी मुसलमान साम्राज्यके समय इस हिन्दु समाजके सात्विक तेजकी इतनी क्षति नहीं हुई थी जितनी इस समयमें प्रतीत होती है। बुद्धिमान् गुणग्राही ब्रिटिश गवर्णमेण्टके

धर्म व समाज सम्बन्धीय उन्नतिके विषयमें हिन्दुसमाजको सभी प्रकारकी स्वाधीनता देने पर भी अपनी प्रमाद-बुद्धिके कारण हिन्दूसमाज दिन ब दिन अधिकतर हीनदशाको प्राप्त होता जाता है। अब इस समाजकी न तो अपनी मातृभाषाकी ओर दृष्टि है और न इसमें स्वदेशीय शिल्पकी ही उन्नति देख पड़ती है। वैदिक धर्मका यथार्थ स्वरूप और आर्यसदाचारका तो इतना लोप हुआ है कि जिससे इस जातिमेंसे धर्म और सदाचारके वहिश्चिह्न तक लुप्त होने लगे हैं। अब हिन्दुसमाजकी यह अवस्था हुई है कि अपने समाज व जातिगत आचारोंको छोड़कर विरुद्ध आचारोंके ग्रहण करने पर भी तथा अपने सदाचारों का नाश करके अन्य जातिका उच्छिष्ट भोजन करने पर भी अपनी जातिमें प्रायः कोई निन्दनीय नही होते, जिसके कारण सकल वर्णोंमें स्वेच्छाचारका प्रवाह दिन प्रति दिन प्रबल होता चला जाता है। जाति व समाजगत उन्नतिके लक्षण गुणपक्षपात, पुरुषार्थ शक्ति और ज्ञान हैं। इस विज्ञानके अनुसार कहना होगा कि जातिगत अवनतिके लक्षण दोषदर्षनप्रवृत्ति, आलस्य और अज्ञान हैं। हिन्दु समाजमें यद्यपि प्राचीन कालमें ऊपर लिखित उन्नतिके लक्षण विद्यमान थे तथापि इस समय केवल अवनतिके लक्षण ही देखनेमें आते हैं। फलतः जाति व समाजगत बन्धनकी शिथिलताके कारण अब हिन्दुसमाजके मनुष्योंको न तो पिता माता व कुटुम्बके लोगोंकी लज्जाका विचार है और न समाजमें निन्द-नीय होनेका ही कुछ भय है। अब सर्वत्र भीषण निरङ्कुशता, आचारहीनता व असच्चरित्रता फैल गई है इस कारण हिन्दुसमाज दिन प्रतिदिन रसातलको जा रहा है। जिस आर्यजातिके लक्ष्य स्थिर करानेके अर्थ श्रीभगवान्ने स्वयं आज्ञा की है कि मैं "पौरुषं नृषु" अर्थात् पुरुषोंमें पुरुषार्थरूपी हूँ, जिस जातिमें प्राचीन कालके निवृत्ति पथगामी वानप्रस्थ व सन्न्यासीगण तक केवल संसारहितकर कार्योंमें प्रवृत्त रहकर एकमात्र पुरुषार्थके अवलम्बन द्वारा कर्मयोगी हो अपनी जीवनयात्राका निर्वाह किया करते थे, उसी आर्यजातिमें अब निवृत्तिसेवी सन्न्या-सियोंका तो कहना ही क्या है प्रवृत्तिमार्गके अधिकारी गृहस्थगण तक आलस्य-ग्रसित होकर उद्यमहीन होगये हैं। तुरीयाश्रमी सन्न्यासी अपने आश्रमधर्मको भूलकर कामिनी काञ्चनासक्त होरहे हैं। ब्राह्मणोंमें तप, संयम, जितेन्द्रियता व त्यागका नाश होकर धनलालसा, आलस्य, लोभ, विषयभोगप्रवृत्ति व इन्द्रि-यपरायणताकी वृद्धि हो रही है। क्षत्रियोंमें शौर्य्यका नाश होकर घोर कामासक्ति बढ़ रही है। वैश्यगण उद्यमहीन होकर निर्धन हो गये हैं और कृषि-गोरक्षा-

वाणिज्यविमुख होकर दुर्दशाग्रस्त होरहे हैं। शूद्रगण सेवा धर्म छोड़ कर अनधिकार चर्चामें प्रवृत्त दिखाई देते हैं। संस्कृत विद्याके पारदर्शी विद्वान्गण बहुधा आचारहीन और धर्मज्ञानविहीन हो रहे हैं और राजभापाके ज्ञाता पुरुपगण शास्त्रश्रद्धा-विहीन, स्वेच्छाचारी व अनार्यभावापन्न होते जाते हैं। कलियुगमें दानधर्म प्रधान होने पर भी धनाढ्य पुरुषगण केवल नामके लिये और राजसम्मानप्राप्तिके लिये ही प्रायः दान किया करते हैं। सब ओर ही इस प्रकार अनेक विपरीत लक्षण दिखाई दे रहे हैं। जातीयपापके फलसे देशव्यापी कठिन महामारी, प्लेग आदि भीपण रोग उत्पन्न हो कर प्रतिदिन हिन्दुप्रजाका क्षय व अधोगति करा रहे हैं। घोर मर्मभेदी दुर्भिक्षने सारे भारतवर्षको ग्रास कर लिया है। समष्टि प्रजाकी अधर्मप्रवृत्ति व दुर्गतिके कारण पञ्चतत्वोंमें विकार होकर ऋतुविपर्यय आदि दोप तथा अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूमिकम्प, उल्कापतन, धूमकेतूदय और स्थायी महामारी आदि राष्ट्रीयशान्तिनाशकारी अमङ्गल लक्षण प्रकाशित होरहे हैं। अतएव भारतवर्षकी इन सब आधिभौतिक विपत्तियों पर विचार करनेसे यही सिद्धान्त होगा कि हिन्दुसमाज अब कर्मभ्रष्ट, धर्मभ्रष्ट, आचारभ्रष्ट और शक्तिभ्रष्ट होकर अत्यन्त हीन दशाको प्राप्त हो गया है।

हिन्दुसमाजकी इस प्रकार हीनदशाका सुधार कैसे हो? सुधारके लिये सुधारक नेता चाहिये। यदि संसारचक्रके नेता सर्वशक्तिमान् परमात्मा न होते तो प्रकृतिकी यह मनोरम स्थिति कदापि नही रह सकती। यदि ज्ञानजगत्के नेता पूर्ण ज्ञानी नित्यऋषिगण न होते तो संसारमें ज्ञानकी नित्य व नियमित स्थिति कदापि न बनी रहती। यदि दैवजगत्के नेता शक्तिमान् देवतागण न होते तो कर्मानुसार जीवकी यथार्थगति कभी देखनेमें नहीं आती। यदि स्थूलजगत्के नेता नित्य पितृगण न होते तो धनधान्यपूर्ण सुजला सुफला वसुन्धरा कदापि जगज्जनोंके सम्मुख शोभायमान नहीं रहती। अतः किसी समष्टिकार्यकी उन्नतिके लिये योग्य व शक्तिमान् नेता अवश्य ही चाहिये। हिन्दुसमाजकी वर्त्तमान दीनदशाके सुधारके लिये भी हिन्दुजातिको योग्य नेताका अन्वेषण या उद्भावन अवश्य करना पड़ेगा। अब इस प्रकारके महात्मा नेताका आविर्भाव कैसे हो सकता है, इसके लिये कोई उपाय है कि नहीं यही हिन्दुसमाजकी वर्त्तमान चिन्ताका विषय है। चिन्ता करने पर सिद्धान्त होता है कि इस विषयमें हिन्दुसमाजके अवश्य कर्त्तव्य दो कार्य

हैं जिनके नियमित अनुष्ठानसे हिन्दुसमाजमें योग्य नेता प्राप्त हो सकेंगे। प्रथमः—जब किसी शुभकार्यके साधनके लिये तुम स्वयं इच्छा करते हो उस समय यदि किसी दूसरेको वही अथवा उस प्रकारके कार्यमें यत्नशील देखो तो अन्यान्य विषयमें मतभेद होने पर भी उसके साथ योगदान करो। जगन्नाथ देवके रथमें एकचित्त हो कर अनेक मनुष्य हाथ लगाते हैं तभी रथ चलता है। द्वितीयतः—प्रतिवेशी हो, परिचित हो अथवा प्रसिद्ध कोई भी स्वजातीय व्यक्ति हो जिसको तुम सम्मानके वास्तविक योग्य हृदयसे समझते हो उसका अवश्य ही सम्मान करो। हम जातिमें हिन्दु हैं, हम अपने हाथसे मिट्टी उठाकर, उसे छान कर, प्रतिमा बना कर उसकी पूजा करनेको और उससे वर प्रार्थना करनेको अच्छी तरहसे जानते हैं। अतः अपनी जातिके स्वभावके अनुसार प्रकृतिस्थ रहनेसे हम छोटेको बड़ा बना ले सकते हैं। बड़ा देखने और बड़ा बनानेकी चेष्टा करते करते हमारे भाग्यसे बड़े अवश्य ही उत्पन्न हो जायँगे क्योंकि संसार इच्छाशक्तिका ही परिणामरूप है। जिस देशमें असूया, द्वेष व दोषदर्शिताका आधिक्य है, उस देशमें यथार्थ महात्माका आविर्भाव नहीं हो सकता और यदि होता भी है तो ऐसे महात्मा अल्पायु होते हैं। क्योंकि जातीय गुणपूजाप्रवृत्तिकी समवेत शक्तिके द्वारा ही इस प्रकार विभूतियुक्त महात्माओंका जन्म होता है और उन्हें दीर्घायु प्राप्ति होती है। उसी प्रकारसे जातीय दोषदर्शनप्रवृत्तिके फलसे समाज व जातिमें पूर्व्वोक्त विभूतिका अभाव हो जाता है, ऐसे महात्मा उत्पन्न नही होते और कदाचित् होने पर भी अल्पायु हो जाते हैं। हिन्दुसमाजकी इस अधःपतित दशामें असूया, द्वेष व दोषदर्शितारूपी दुष्प्रवृत्तियोंकी विशेष वृद्धि हुई है। हिन्दुजाति स्वदेशीय व स्वजातीय किसीको महापुरुष रूपसे देखना और जानना नहीं चाहती है। उनके विचारमें अपनी जातिके सभी तीन कौड़ीके मनुष्य हैं। जैसा साधन, सिद्धि भी वैसी ही होती है। हम तीन कौड़ीके आदमी देखना चाहते हैं इस लिये हमारे भाग्यमें तीन कौड़ीके ही आदमी मिलते हैं। हिन्दुसमाजमेंसे यह भीषण दोष जब तक नहीं दूर होगा तब तक हिन्दुजातिके भीतर महापुरुषका आविर्भाव नहीं हो सकेगा। फलतः अनुवर्ती लोगोंके रहनेसे ही महात्मा पुरुष अग्रणी हो सकते हैं। स्वजातीय मनुष्योंकी निन्दा करना, स्वजातीय मनुष्योंका दोषानुसन्धान करना और स्वजातियोंका अनुवर्त्तन न करना यही हिन्दुजातिका मर्म्म व मज्जागत महापाप है; और हमारे समाजका वर्त्तमान अधःपतन व दुर्दशा इसी

महापापका अवश्यम्भावी फल व उसका प्रायश्चित्तरूप है। जब यह प्रायश्चित्त पूर्ण होगा तभी हम स्वदेशीय महात्माओंकी गुणगरिमाको देख सकेंगे और तभी अर्थलोलुप, लघुचित्त, विषयविलासी व अनुदारप्रकृति अनार्य्यवृत्ति-सम्पन्न जनोंको सर्वगुणाधार नहीं समझेंगे और उनकी मनस्तुष्टिके लिये स्वदेशीय पूर्वाचार्योंका अपमान, स्वदेशीय रीति नीतिके प्रति घृणा और स्वजातीय लोगोंकी कुत्सा व निन्दाप्रचार करके अपनी जिह्वा व जीवनको कलङ्कित नहीं करेंगे।

भारतभूमि वास्तवमें ही रत्नप्रसविनी है। यहाँ पर सदा ही यथार्थमें महान् बीजोंका अङ्कुर निर्गत होता रहता है। यदि ऐसा न होता तो इतने नवीन नवीन सम्प्रदायोंकी उत्पत्ति कैसे होती? चाहे छोटेसे छोटे ही हों, जिनमें एक एक सम्प्रदाय बनानेकी शक्ति है, उनमें कुछ न कुछ माहात्म्य अवश्य ही है ऐसा समझना चाहिये। परन्तु इससे यह सिद्धान्त नहीं होता कि जो कोई संस्कारक या सुधारक नामधारी हो उसीका अनुवर्त्तन करना होगा। दूसरी ओर विना सोचे अनुवर्तन करना भी अच्छा है तथापि किसीमें शक्ति या गुणका लेशमात्र देखते ही असूया या ईर्ष्या करना उचित नहीं है। परन्तु जो महात्मा पुरुष हिन्दुसमाजके यथार्थ नेता बनेंगे उनमे निम्नलिखित लक्षण अवश्य होने चाहिये ऐसा पहलेहीसे स्मरण रक्खा जाय।

(१) वे परम धार्मिक, आध्यात्मिक उन्नतिशील, त्यागी, परार्थपर व स्वजातीय जनोंके हिताकांक्षी हों।

(२) वे समस्त हिन्दूजातिमें परस्पर सम्मिलनके उपयोगी उपायोंका ही आविष्कार करेंगे। अतः अधिकारभेद-विज्ञानको अटूट रखते हुए भी समस्त साम्प्रदायोंके प्रति पक्षपातशून्य हों।

(३) वे पूर्ववर्ती स्वदेशीय शिक्षादाता व नेताओंका कुछ भी अगौरव नहीं करेंगे; अधिकन्तु अपने उदारतर मतवादके बीचमें पूर्वाचार्योंसे प्राप्त समस्त शिक्षासूत्रोंका सन्निवेश करेंगे।

(४) वे सनातनधर्मकी सर्वव्यापकता व पितृभावको भलीभांति प्रत्यक्ष करते हुए, आर्य और अनार्यके भेदको समझते हुए और स्वयं विद्वान होते हुए भी किसी उपधर्म, पन्थ अथवा मत और धर्म सम्प्रदायके निन्दक वा विरोधी नहीं होंगे।

(५) वे वेदार्थकी गभीरताके साथ पुराणादि शास्त्रोंतकमें उसी

गभीर ज्ञानके प्रतिविम्बको देखते हुए, वैदिक सप्तदर्शनोंका भूमिज्ञान और विभिन्न अधिकारियोंके अधिकारज्ञानमें अतिविज्ञ होनेपर भी धर्माधिकारमें अति छोटेसे छोटे अधिकारीका भी अनादर नहीं करेंगे।

(६) वे पारमार्थिक ज्ञानकेःसाथ व्यवहार-कुशलताकी योग्यता भी पूरी रक्खेंगे और इसकी सहायतासे आर्यमर्यादाके मौलिक आदर्श समूहका देश-कालानुसार सामञ्जस्य करनेमें समर्थ होंगे।

(७) उनके मतवादमें शास्त्र, दार्शनिक विज्ञान व युक्तिका समस्त सारतत्व सम्मिलित रहेगा।

(८) वे परोपकार और परमोपकार दोनोंके महत्वको समझकर सदा निष्काम व्रतको ही जीवनका प्रधान लक्ष्य समझेंगे।

(९) वे स्वयं वर्णाश्रम धर्मके दृढ़ पक्षपाती और अनुष्ठान करने वाले और प्रवृत्ति और निवृत्ति-धर्म्मके ज्ञाता होकर यथाधिकार शिक्षाके पक्षपाती होंगे।

(१०) सूर्यदेवकी तरह भारताकाशमें पूर्वोदित ग्रहनक्षत्रादिको अपनी ज्योतिमें लय कर लेंगे परन्तु किसीको निर्वापित नहीं करेंगे।

इन सब लक्षणोंके साथ उनमें तीक्ष्णबुद्धिमत्ता, अगाधपाण्डित्य, असाधारण वाक्शक्ति, अपूर्वलेखकुशलता, असीम उदारता और समस्त प्रखर ओजोगुणोंका भी सम्मेलन रहेगा। प्रकृतिके नियमानुसार वर्णोंके गुरु ब्राह्मण और आश्रमके गुरु संन्यासी हैं। इसलिये ब्राह्मण व संन्यासियोंमेंसे ही इस प्रकारके नेताका आविर्भाव होना प्रकृत्यनुकूल होगा। ऊपर लिखित इन सब लक्षणोंके देखते ही निम्नलिखित भगवद्वाक्यका स्मरण करना चाहिये—

यद् यद् विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्ज्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसम्भवम्॥

जिसमें प्रभा, श्री व तेज देखा जाय वही भगवान्‌के तेजसे सम्पन्न है ऐसा समझना चाहिये।

अतः जिस पुरुषमें ऊपरलिखित नेतृलक्षणोंका आभास मिले उसके गौरव बढ़ानेकी चेष्टा करनी चाहिये। देशके बुद्धिमान लोग यदि इस नियमका अनुसरण करें तो यदि देशमें ऐसे कोई महापुरुष उत्पन्न हो गये हों तो वे शीघ्र ही प्रकट हो जाएँगे। और यदि ऐसे कोई महात्मा अभी तक प्रकट न हुए

हों तो उनके भी आविर्भावका समय निकटवर्त्ती हो जायगा। सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान्‌की शक्ति व्यापक है। जिस प्रकार प्रकृतिमाताकी हार्दिक प्रार्थना व भक्तोंकी प्रार्थनाशक्तिके आकर्षणसे युगानुसार धर्मरक्षाके लिये श्रीभगवान्‌की व्यापक शक्ति केन्द्रविशेषके द्वारा असाधारणरूपसे प्रकटित होकर अवतार-का कार्य करती है; उसी प्रकार समस्त हिन्दूजातिकी हार्दिकी प्रार्थनाशक्ति व गुणपक्षपातशक्तिके आकर्षणसे भगवान्‌की शक्ति हिन्दूजातिके अभ्युदयके लिये उपर्युक्त लक्षणालङ्कृत योग्य नेता रूपसे प्रकट होकर भारतका भाग्योदय कर देगी इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। मन्दाकिनीकी दिव्य लोक-विहारिणी दिव्यशक्तिको भक्त भगीरथकी तपःशक्तिने ही मर्त्यलोकमें आकर्षण कर लिया था। श्रीभगवान्‌की सर्वव्यापिनी शक्तिको भक्त प्रह्लादकी प्रार्थना-शक्तिने मूर्त्तिमती वनाकर स्तम्भके भीतरसे प्रकट करा दिया था। अतः हिन्दुजातिकी इच्छाशक्तिके समवेत होनेसे भगवद्विभूतिरूप नेताका आविर्भूत होना असम्भव नहीं होगा। हिन्दूमात्रके हृदयमें इस प्रकार आशाका सञ्चार होनेसे हिन्दुसमाजके अधःपतननिवारण, उत्कर्ष साधन व कल्याण-प्राप्तिके लिये स्वजातीय नेताका आविर्भाव अवश्य ही होगा। इस प्रकारके आशाके साथ विश्वास भी सम्मिलित रहना चाहिये। क्योंकि श्रीभगवान्‌ने कहा है:—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

धर्मग्लानि व अधर्मके उदय होनेपर अवतार या विभूतिरूपसे श्रीभगवान् प्रकट होते हैं। अतः इस प्रकारका विश्वास हृदयमें वद्धमूल होनेसे हिन्दू-जातिका कार्यकलाप, व्यवहार प्रणाली व चित्तवृत्ति ऐसी ही विशेषताको प्राप्त हो जायगी।

महापुरुष नेताका आविर्भाव होगा यह सत्य है। परन्तु कहाँ होगा, कव होगा इसका अनुमान करना कठिन है। इस लिये ऐसी घटना अपने ही घरमें हो सकती है, प्रत्येक व्यक्तिके चित्तमें ऐसी धारणा होनी चाहिये। और तदनुसार अपने गृहको प्रकट होनेवाले देवताके पवित्र मन्दिरकी तरह वना रखना चाहिये। द्वेष, हिंसा, लोभ, मात्सर्य आदि नीच प्रवृत्तियोंसे अपने मनकी रक्षा करनी चाहिये। अपनी अपनी सन्तानोंके विषयमें ऐसी धारणा होनी चाहिये कि मानों अपना दुग्धपोष्य शिशु ही इस प्रकारका महात्मा होगा।

ऐसा होनेसे ही हिन्दूजाति सम्मिलन सूत्रमें बद्ध होगी, ऐसा होनेसे ही जन्म-भूमि यशकी मालासे सुशोभित हो जायगी, और ऐसा होनेसे ही भारतवर्षमें धर्मका अभ्युदय होगा; जिससे समग्र हिन्दुजाति विमुक्तपापाचरण व पुण्यवान् हो जायगी। एक शिशुकी भावी अवस्था व शक्ति क्या हो सकती है या क्या नहीं हो सकती, इसका निश्चय कौन कर सकता है? अपने अपने अन्तःकरणमें नेता महापुरुषके आविर्भावकी आशा इस प्रकार दृढ़ व उदाररूपसे सञ्चित रख कर अपने जीवनको पवित्र बनानेके निमित्त यत्नवान् होनेसे तथा शिशु व युवकोंकी सुशिक्षाके लिये निरन्तर चेष्टा करनेसे सभी मनुष्योंके चित्त दिन ब दिन उन्नत हो जायेंगे। अनेकानेक सुशील मनुष्योंके हृदयका इस प्रकार उन्नत, पवित्र व एकाग्र होना भी नेतृमहापुरुषके आविर्भावका दूसरा कारण स्वरूप हो जायगा। एकप्राणता व पुरुषार्थके साथ कतिपय मनुष्योंकी चित्तोन्नति न होनेसे किसी देशमें महापुरुषोंका आविर्भाव नहीं हो सकता। जिस प्रकार उच्च अधित्यकासे ही उच्चतम पर्वतशृङ्ग उत्थित होता है, उसी प्रकार हृदयवान् व्यक्तियोंके बीचमेंसे ही उच्चतम महात्माओंका आविर्भाव होता है। हिमालय पर्वतकी अधित्यकासे ही काञ्चनगिरिकी उत्पत्ति हुई है, किसी निम्नदेशसे नहीं हुई है। अतः देश व समाजके जनसाधारणके हृदयमें जिससे आशा, भगवत्कृपापर विश्वास, गुरुभक्ति, अध्यवसाय, एकाग्रता, सत्यनिष्ठा, सहानुभूति, जातीयता व धर्मभावकी वृद्धि हो ऐसा प्रयत्न करना वर्त्तमान हिन्दुसमाजके लिये अवश्य कर्त्तव्य है। शिक्षाकार्य व बुद्धिमत्ता, बहुज्ञता, स्वावलम्बन, वाग्मिता, उदारता व ओजस्वितावृद्धिकी चेष्टाके साथ साथ स्वजातिवात्सल्यके प्रति एकाग्र होकर परिचालित होना आवश्यक है।

इस प्रकार उल्लिखित नेतृलक्षणोंसे विभूषित नेताके प्रकट होनेपर हिन्दु सामाजिक जीवनकी उन्नतिके लिये उस नेताका क्या क्या कर्त्तव्य होगा सो नीचे क्रमशः बताया जाता है:—

(१) प्रथमतः नेताको विचार द्वारा यह निर्णय करना होगा कि जिस जाति व समाजकी उन्नतिके लिये वे श्रीभगवान्‌की ओर उत्तरदाता (जिम्मेवार) हैं उस जातिकी मौलिक सत्ता क्या है। क्योंकि, जैसा कि पहले ही कहा गया है, प्रत्येक जाति व समाजकी उन्नति मौलिक सत्ताकी उन्नतिसे—जिन विशेष बातोंकी उन्नतिके ऊपर जातीय जीवनका अस्तित्व व उन्नति निर्भर है उन विशेष बातोंकी उन्नतिसे—ही होती है।

यह बात भी पहले ही कही गई है कि उन्नति वीज-वृक्षन्यायसे होती है अर्थात् जिस प्रकार वृक्षकी उन्नति जिस वृक्षका जो वीज है उस वीजके पूर्ण प्रकट होनेसे ही होती है, उसी प्रकार प्रत्येक जाति व समाजकी उन्नति उस जाति व समाजके आदि बीजकी उन्नति व पूर्ण प्राकट्यके द्वारा ही होती है। अतः हिन्दुसमाजकी उन्नतिके लिये उपाय निर्द्धारणके पहले नेता महाशयको विचारपूर्वक निर्णय करना होगा कि आर्यजातिका जातीय मौलिक वीज क्या है। आर्यजाति तथा अनार्यसे उसकी विशेषता शीर्षक पूर्ववर्त्ती प्रवन्धमें वताया गया है कि आर्यजातिके जातिगत जीवनके मौलिक वीज कौन कौन हैं और आर्येतर जातियोंके साथ किन किन वातोंमें आर्यजातिकी विशेषता है। प्रत्येक जाति अपने जातिगत जीवनकी विशेषताको दृढ़ रख कर व उसीकी उन्नतिके द्वारा उन्नत होती है। कोई जाति अपने जातिगत जीवनकी विशेषताको नष्ट करके या अन्य जातिमें अपने आपको मिला करके उन्नत नहीं हो सकती है। अतः इस विषयमें नेता महात्माका ध्यान पहले ही आकृष्ट होना चाहिये। उसको हिन्दुजातिकी अन्य जातिसे विशेषताके ऊपर दृष्टि रखकर तव जातीय उन्नतिका उपाय निर्द्धारण करना चाहिये। आर्यजाति केवल व्यावहारिक जीवनकी उन्नतिसे ही पूर्णोन्नत नहीं हो सकती। आध्यात्मिक पूर्णता सम्पादन ही आर्यजातिके समस्त कर्त्तव्यका लक्ष्य है। भारतकी प्रकृति पूर्ण होनेसे इस प्रकारकी आध्यात्मिक पूर्णता भारतीय प्रकृतिके अनुकूल भी है। वर्णधर्म और आश्रमधर्मके तथा पातिव्रत्यधर्मके पूर्ण पालन द्वारा ही आर्य नरनारी आध्यात्मिक पूर्णताको प्राप्त कर सकते हैं। वर्णाश्रमधर्म व सतीधर्मके विना आर्यजाति कदापि चिरकाल तक जीवित रह नहीं सकती। आर्यजाति पर सहस्रों विजातीय अत्याचार होनेपर भी आज तक जो यह जाति अपनी सत्ताको दृढ़ रखनेमें समर्थ हो रही है इसका भी कारण वर्णाश्रम और नारियोंमें पातिव्रत्यधर्म ही है। सदाचारके साथ आर्यजातीय जीवनकी सकल प्रकारकी उन्नतिका क्या सम्वन्ध है इन सव विषयोंके पूर्ण रहस्य पूर्ववर्ती प्रवन्धमें वताये गये हैं। अतः पुनरुक्ति निष्प्रयोजनीय है। हिन्दुनेताको सदा ही सावधान रहना चाहिये कि विदेशीय शिक्षा या कालप्रभावसे हिन्दुजातिकी मौलिक सत्ताके प्रति हिन्दुसमाजकी उपेक्षा न हो जाय और आर्यजातिके प्रत्येक मनुष्यके हृदयक्षेत्रमें उसका वीज विद्यमान रहे।

(२) प्रत्येक देशके मनुष्योंमें व उनकी वाह्य प्रकृतिमें कुछ कुछ विशेष

लक्षण पाये जाते हैं। एक ही देशमें उत्पन्न तथा प्रतिपालित मनुष्योंकी बाह्य प्रकृति एक ही प्रकारकी होनेसे तथा उनके परस्पर संश्लिष्ट रहनेसे उनकी आन्तरिक वृत्तियाँ भी एकरूप हो जाती हैं। इस प्रकार एकरूपता ही स्वदेश व जातिके प्रति प्रेमभावका गूढ़ कारण है और यही कारण पुरुषपरम्परासे जातीय जीवनमें कार्यकारी होनेसे प्रत्येक जातिमें एक मौलिक जातीयभावकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकारसे उत्पन्न जातीय भाव एकजातीय जनोंकी अन्तःकरण-निर्माण-विशेषता तथा नाना बाह्य सादृश्योंके द्वारा प्रकट होता है। उनमेंसे आकार व रूपसादृश्य, भाव व चिन्तासादृश्य, धर्म व आचारसादृश्य, भाषा व उच्चारणसादृश्य और राज्यशासन व सामाजिकरीतिसादृश्य इतने सादृश्य मुख्य हैं। अतः इन सब जातिगत सदृश बहिर्विषयोंके साथ जातीयभाव रक्षाका घनिष्ट संबन्ध होगा इसमें कोई भी सन्देह नही हो सकता। जिस जातिमें कोई विशेष जातीयभाव नही है, उस जातिका जीवन ही व्यर्थ है। और भावहीन जातीय जीवन क्षणप्रभाकी तरह क्षणकालस्थायी भी है। अतः हिन्दुनेताको चाहिये कि हिन्दुसमाजकी उन्नतिके लिये हिन्दुभावोंकी सुरक्षा तथा उन्नति करें। आर्यजातीय भावोंमें विदेशीय या विजातीय भावान्तरोंका प्रवेश कदापि न होने देवें और धर्म, आचार, भाषा, सामाजिक रीति आदि भावजनित जातीय बहिःसादृश्योंके दृढ़ रखनेके विषयमें सदा ही चेष्टा करें। व्यष्टि व समष्टि जीवनके एक ही रूप होनेसे प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें निम्नतम स्तरसे लेकर उच्चतम स्तरपर्यन्त जितने भाव होते हैं, पृथिवीके समस्त समाजमें उन्नतिके स्तरभेदानुसार उतने ही भाव होते हैं। इसी सिद्धान्तके अनुसार विचार करनेसे समस्त जातीय व्यष्टि व समष्टि जीवनमें तारतम्यानुसार भावोंके दस स्तर देखनेमें आते हैं (क) केवल अपने ऊपर अनुराग। यह भाव बहुत ही निकृष्ट है। जहांपर ऐसा भाव मनुष्योंमें प्रबल होता है, वहाँ कोई जाति या समाज नहीं बन सकता और पहलेसे कुछ बना हुआ हो तो वह भी टूट जाता है। इस भावमें जातीय जीवन या सामाजिक जीवनका अङ्कुर तक नहीं जम सकता। (ख) अपने परिवारवर्गके प्रति अनुराग। इस भावके उदय होनेसे गृहपति अपने क्षुद्र गृहरूपी राज्यका अनुशासन भली प्रकारसे कर सकते हैं। हृदयकी उदारता अपनेमेंसे दूसरेके प्रति विस्तृत होनेका अभ्यास इस भावमें प्राप्त हो जानेसे सामाजिक जीवनका बीज इस भावमें उत्पन्न हो जाता है। (ग)

वन्धुवान्धव व स्वजनोंके प्रति अनुराग। इस भावमें सामाजिक जीवनका पूर्वोत्पन्न बीज अंकुरित होने लगता है। (घ) निजग्रामवासियोंके प्रति अनुराग। (ङ) निज प्रदेशवासियोंके प्रति अनुराग। इन दोनों भावोंके उदय होनेसे पूर्वोक्त सामाजिक जीवनके अङ्कुर पल्लवित होने लगते हैं। तदनन्तर छठा भाव (च) स्वजातिवात्सल्य या स्वदेशानुराग है। इस भावकी वृद्धिके साथ साथ जातीय जीवन रूपी कल्पतरु पूर्णोन्नत होकर शाखापल्लव तथा फलफूलोंसे सुशोभित होने लगता है। प्राचीन ग्रीक व रोमीयगण इस भावका विशेष गौरव करते थे और अपनी जातिके जिन जिन महात्माओंमें ऐसा महान् भाव देखते थे उनकी देवताके सदृश पूजा करते थे। नवीन यूरोपीयोंमें भी इस प्रकारका भाव देखनेमें आता है। वे भी स्वदेश व स्वजातिवात्सल्यका गौरव करते हैं। परन्तु प्राचीन ग्रीक व रोमीयगण जिस भावसे ऐसा करते थे इनमें वह भाव प्रायः नहीं देखा जाता है। किसी यूरोपीय पण्डितने कहा है:—"स्वदेशानुरागरूपी वृक्षका मूल अभिमान है, इसकी शाखाप्रशाखा व पत्रादि वाह्य आडम्वर है; इसका काण्ड अन्य जातिके प्रति विद्वेष है; इसके फलपुष्पादि अपने देशकी समृद्धि और परदेशका पीड़न भी है, वह एक गुणदोषमिश्रित उपधर्ममात्र है।" वर्त्तमान पाश्चात्य जातियोंमें उल्लिखित छठा भाव इसी प्रकारका मालूम होता है। (छ) स्वजातिसे किंचित् भिन्न अन्यजातीय लोगोंके प्रति अनुराग। इस भावके उदय होनेसे छठे भावकी परजातिविद्वेषरूप सङ्कीर्णता कम होने लगती है। यूरोपके प्रसिद्ध विद्वान् संस्कारक अगष्ट कोमटिके मतानुयायी पुरुषोंका अधिकार यहाँ तक है। (ज) मनुष्यमात्रके प्रति अनुराग। यह भाव वहुत ही उदार है। इसके उदय होनेसे परजातिविद्वेषरूपी अग्नि एकदम शान्त हो जाती है। सरलमना शिशुका यही भाव है और महात्मा ईसामसीहका भी यही भाव था। (झ) मनुष्यसे लेकर मनुष्येतर जीवमात्रके प्रति अनुराग। श्रीभगवान् बुद्धदेवका यही भाव था और वौद्धधर्मका भी यही अधिकार है। (ञ) सजीव, निर्जीव समस्त प्रकृतिके प्रति अनुराग और प्रकृतिके परपारमें विराजमान अवाङ्मनोगोचर परमात्मामें आत्मनिमज्जन। जगद्गुरु आर्यमहर्षियोंका यही भाव था और सनातन आर्यजातिका यही सर्वोत्तम आदर्श है। दशम भावके नीचेके किसी भावमें रहनेसे उसके ऊपरके भावोंका अधिकार किसीको नहीं प्राप्त हो सकता। इसलिये उस निम्नभावके पक्षपाती वनकर ऊपरके भावकी निन्दा भी उस प्रकारके निकृष्ट या मध्यम अधिकारी कर सकते

हैं। आर्यजातिके प्रति अन्य निम्नश्रेणीय जातियोंने जो कहीं कही कटाक्ष किया है उसके मूलमें भी यही कारण विद्यमान है। परन्तु दशम भावके अधिकारपर विराजमान जाति अन्य निम्नभावके अधिकारी जातिपर कभी कटाक्ष नहीं करेगी। क्योंकि ऊपरके भावोंके प्राप्त होनेसे नीचेके भाव नष्ट नहीं होजाते परन्तु ऊपरके भावोंमें ही लय हो जाते हैं। यही कारण है जिससे आर्यजाति अन्य जातीय भावोंपर कटाक्ष या उनकी निन्दा नही करती, किन्तु अपने अपने अधिकारके अनुसार सबके कल्याणकी ही चिन्ता करती है। इसी कारण आर्य्यगणके प्रधान धर्म्माचार्यकी आज्ञा हैः—

धर्म्मं यो बाधते धर्म्मो न स धर्म्मं कुधर्म्म तत्।
अविरोधी तु यो धर्म्मः स धर्म्मो मुनिपुंगव॥

तात्पर्य यह है कि जो धर्म्म अन्य धर्म्मको बाधा दे वह सद्धर्म्म नहीं है, कुधर्म्म है।

यह भी सिद्धान्त निश्चय है कि जिस मनुष्य या जातिमें ऊपरका कोई भाव है उसमें नीचेके भाव स्वतः ही होंगे; क्योंकि प्रकृति नीचेके भावोंसे पुष्ट होती हुई ऊपरके भावोंको प्राप्त करती है। इसलिये आर्यजातिमें सर्वोच्च दशम भावके साथ साथ और नौ भावोंके भी पूर्ण विकाश हैं। आर्यजातिमें प्रकृतिपारङ्गत ब्रह्मभावका उदय होनेसे उसके परिवारके प्रति अनुराग, ग्रामके प्रति अनुराग, देश व जातिके प्रति अनुराग आदि भाव नष्ट नही हुए हैं, अधिकन्तु पुष्ट व विशुद्ध ही हुए हैं और ऊपरके उन्नत भावोंके समावेश होनेके कारण वे निम्नभावसुलभ मलिनतासे मुक्त व परम विशुद्ध हो गये हैं। अन्य जातिकी पारिवारिक प्रीति काममोहादि मूलक है, परन्तु आर्यजातिकी आदर्श पारिवारिक प्रीति गौरी, वटुक, जगदम्बा आदि दिव्यभावके सबन्धसे हुआ करती है। यथा—श्रीमद्भागवतमेंः—

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः।
भ्राता मरुत्पतेर्मूर्तिर्माता साक्षात्क्षितेस्तनुः॥
दयाया भगिनी मूर्तिर्धर्मस्यात्माऽतिथिः स्वयम्।
अग्नेरभ्यागतो मूर्तिः सर्वभूतानि चात्मनः॥

आचार्य ब्रह्मकी मूर्ति, पिता प्रजापतिकी मूर्ति, भ्राता मरुत्पतिकी मूर्ति और माता साक्षात् वसुन्धराकी मूर्त्ति है। भगिनी दयाकी मूर्ति, अतिथि

स्वयं धर्मरूप, अभ्यागत अग्निकी मूर्त्ति और समस्त जीव आत्माके रूप हैं। यही आर्यजातीय प्रीति व पारिवारिक सम्बन्धके मूलमें दिव्य भावका समावेश है। आर्यजातिका स्वदेश व स्वजातिवात्सल्य पाश्चात्य जातियोंकी तरह उपधर्मरूपसे निन्दित नहीं हुआ है और इसमें अभिमान, वाह्य आडम्बर, परजातिके प्रति विद्वेष, परदेशपीड़न आदि कलङ्क नहीं लगे हुए हैं। आर्यजातिका स्वजाति व स्वदेशवात्सल्य परजातिविद्वेषमूलक नहीं है, किन्तु स्वजातिप्रेममूलक है। क्योंकि आर्यजाति जानती है कि सत्वगुणसे ही वस्तुकी स्थिति होती है और तमोगुणसे संसारका नाश होता है। इसलिये तमोगुणसे उत्पन्न विद्वेष द्वारा कोई जाति कभी चिरकालस्थायिनी उन्नति नहीं कर सकती; किन्तु सत्वगुणसे उत्पन्न स्वजातिप्रीति द्वारा ही स्वजाति व स्वदेशकी अनन्तकालस्थायिनी उन्नति हो सकती है। आर्यजाति स्वदेशको कर्मक्षेत्र, धर्मक्षेत्र, पुण्यक्षेत्र करके मानती है। दिगन्तव्यापिनी शिवशक्ति व महादेवी सतीके अवयव द्वारा स्वदेशका सर्वाङ्ग विनिर्मित है, ऐसा मानती है। इसी कारण पूज्यपाद महर्षियोंके मतमें भारतवर्ष महामाया सतीके अङ्गोंके १०८ विभागोंके अनुसार १०८ पीठोंमें विभक्त है। वे ही भारतवर्षके तीर्थस्थान हैं। और इसी कारण आर्यजाति रागद्वेषनिर्मुक्त विशुद्धप्रेमसुधासिक्तान्तःकरण हो स्वदेश व स्वजातिकी सेवा करती है। यही आर्यजातिका आदर्श स्वदेश व स्वजातिप्रेम है। आर्यजातिके अष्टम व नवम भावजनित जीवानुरागमें अन्य जातियोंकी तरह अज्ञानसुलभ हृदयदौर्बल्य अथवा आस्तिक्यविहीन मोहभाव नहीं है। आर्यजाति एकात्मवादके सिद्धान्तपर आरूढ़ होकर समस्त संसारको गोविन्दका रूप जानकर "जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमोनमः" इस महामन्त्रसे जगज्जीवोंकी पूजा करती है। आर्यजातिके दशम भावमें अन्य समस्त भावोंकी सिद्धि व परिसमाप्ति है। इस दशम भावकी उदारताके द्वारा अनुस्यूत अन्य समस्त भावोंको देशकालानुसार परिपालन करके अन्तमें अन्तिम परब्रह्म भावमें जीवात्माको विलीन कर देना ही आर्यजातिका मौलिक जातीयभाव है। अतः सामाजिक नेताको इस आदर्शभावके प्रति दृष्टि रखकर इसीकी उन्नतिके साथ साथ हिन्दुजातीय जीवनकी उन्नति करनी चाहिये। सनातन धर्मके निम्नलिखित अङ्गोंकी पुष्टिके विना आर्यजातिमें उपर्युक्त आदर्शभाव रहना कठिन होगा। अतः निम्नलिखित विषयोंकी बीजरक्षाके लिये आर्यनेताको सदा ही सन्नद्ध रहना चाहिये। जिससे आर्यप्रजामें ब्रह्मतेज व क्षात्रतेजकी बीजरक्षा हो, वर्णाश्रम

धर्म नष्ट न हो सके, सतीत्वका तीव्र संस्कार आर्यनारियोंमेंसे विलुप्त न होने पावे, आर्यप्रजामें ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति बनी रहे और साथ ही साथ जातिका लौकिक अभ्युदय भी होता जाय ऐसा उपाय करना परमकर्त्तव्य है। ब्रह्मचर्याश्रमके धर्मोंमें वीर्यरक्षा और यथार्थ विद्या प्राप्त करना मुख्य है; गृहस्थाश्रमके धर्मोंमें पञ्चमहायज्ञ साधन और यथाशक्ति सात्विक दानमें अधिकसे अधिक रुचि बढ़ाना ये मुख्य धर्म हैं; वानप्रस्थाश्रममें परोपकारव्रत, कामिनी काञ्चनका त्याग और निवृत्ति सम्बन्धीय नियम पालन करना अभ्युदयकारी धर्म है और संन्यासाश्रमके धर्मोंमें द्वन्द्वरहित होकर अन्तःकरणकी वृत्तियोंकी समता स्थापन करना और प्रजामात्रकी आध्यात्मिक उन्नतिके अर्थ आत्मोत्सर्ग करना ये निःश्रेयसकारी धर्म है। शूद्रोंमें सेवाबुद्धि और देशकी शिल्पोन्नति करना प्रशंसनीय धर्म है; वैश्योंका गोधनकी वृद्धि, कृषिकी उन्नति और वाणिज्यकी वृद्धिसे धनोपार्जन करना प्रधान धर्म हैं, क्षत्रियोंके लिये शारीरिक बल, शौर्य, स्वदेशानुराग और औदार्य ये उन्नतिकारी धर्म हैं। और ब्राह्मणवर्णके लिये विद्या, तप व त्याग ये निःश्रेयसकारी धर्म हैं। और मनुष्यमात्रके कर्त्तव्योंमें स्वजातीय आचारोंकी रक्षा, स्वदेशोन्नति, स्वजातीयोन्नति, भगवद्भक्ति और आध्यात्मिक ज्ञानवृद्धिमें यत्न करना प्रशंसनीय धर्म है। इन सब अधिकार भेदानुसार भिन्न भिन्न धर्माङ्गोंके पालनसे ही आर्यजातिका आदर्शभाव अक्षुण्ण रहेगा। अतः इनके पालनकी ओर सामाजिक नेताकी दृष्टि रहनी चाहिये।

(३) पितृमातृहीन शिशुको अनाथ कहते हैं। पिताके अभावसे शिशुके रक्षणमें बाधा होती है और माताके अभावसे शिशुके पोषणमें त्रुटि होती है। इसलिये इस प्रकारके अनाथ शिशुके जीनेकी आशा भी कम रहती है। मनुष्यशिशुके विषयमें पिता माताका जो प्रयोजन है, मनुष्य समाजके विषयमें धर्म व भाषाका भी वही प्रयोजन है। धर्म समाजका पिता है, क्योंकि धर्मसे ही समाजका जन्म व रक्षा होती है; और भाषा समाजकी माता है, क्योंकि भाषाके ही द्वारा समाजकी स्थिति व पुष्टि होती है। धन, वाणिज्य, राजनैतिक स्वाधीनता आदिको खोकर समाज जीता रह सकता है, परन्तु जिन लोगोंमेंसे धर्म व भाषा नष्ट हो गई है उनका कोई समाज या जातीय जीवन है ऐसा नहीं कह सकते। जगत्के इतिहासमें धर्म व भाषाके लोपसे जातीय अस्तित्व-लोपके अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। दक्षिण अमेरिकाके अनेक प्रदेशोंमें अभी तक उस देशके आदिमनिवासी अनेक इण्डियन लोग विद्यमान हैं। परन्तु

उनका धम खिष्टान व भाषा स्पेनीय आदि होनेसे उन लोगोंमेंसे सामाजिक जीवन या जातीय भाव सम्पूर्णरूपसे नष्ट हो गया है। फलतः अन्यजातिके द्वारा प्रतिष्ठित धर्म व भाषाके ग्रहण करनेसे सामाजिक उन्नति या स्वतन्त्रता का पथ बिलकुल ही बन्द हो जाता है। अतः सामाजिक नेताको हिन्दुसमाज में धर्म और भाषाकी रक्षा तथा पुष्टिसाधनके विषयमें यत्नवान् होना पड़ेगा। धर्मकी रक्षाके लिये क्या क्या करणीय है सो पहले ही कह चुके हैं। अब भाषा की रक्षाके विषयमें विचार किया जाता है। रोम-साम्राज्यकी प्रतिष्ठाके समय सिवाय ग्रीसके तत्साम्राज्यान्तर्गत किसी प्रदेशमें प्रादेशिक भाषा-शिक्षाका नियम नहीं था। प्रदेशीय सकल स्थानोंमें तथा अदालतोंमें भी रोमीय भाषा-लाटिनका ही प्रचार था। प्रादेशिक लोगोंकी सामाजिक रीतियाँ भी रोमीय अनुकरणसे रोमीयगणकी तरह हो गई थीं। उन्होंने अपनी भाषा व रीतियों-को त्याग दिया था। इसका फल यह हुआ कि जिस समय रोम जातिका बल घट गया और दूसरी जातिने रोम पर अधिकार जमाया उस समय रोमको सहायता देना तो दूर रहा, उन सब प्रदेशवासियोंसे आत्मरक्षा भी नहीं हो सकी। केवल ग्रीस, जिसमें भाषा व रीति अपनी ही थी, कुछ दिनों तक शत्रुओंके आक्रमणसे बचा रहा। यह सब भाषाके नाशका ही परिणाम है। पहले ही कहा गया है कि जातीय भावका विकाश जातीय भाषाके द्वारा ही हुआ करता है। इस लिये जिस जाति या समाजमें जातीय भाषाका आदर नहीं है वहाँ जातीय भाव भी क्षणभंगुर होता है। विजातीय भाषाके साथ साथ विजातीय भावका भी अधिकार मनोदुर्गपर धीरे धीरे जम जाता है। नीचे एक दृष्टान्त देकर समझाया जाता है। रोमजातीय वाग्मिप्रधान सिसिरो जिस समय सिलिसियाका शासन-कार्य समाप्त करके रोमनगरीमें लौट आये, उस समय उनके किसी विपक्षी पुरुषने सेनेट सभामें कहा कि सिसिरो-को एक पूरे प्रदेशका शासनभार मिलने पर भी उनसे कुछ नहीं करते बना, एक युद्ध भी उन्होंने नहीं जीता और एक शत्रु भी उन्होंने नहीं मारा। इस कटाक्षके उत्तरमें विचारवान्, दूरदर्शी सिसिरोने कहाः—"मैंने सिलिसियामें जो कुछ किया है उससे उस प्रदेशके लोग चिरकालके लिये रोमको गुरुवत् मानेंगे अर्थात् मैंने सिसिलियामें रोमीय भाषा लाटिनकी शिक्षाके लिये १४० विद्यालय स्थापन कर दिये हैं जिसका फल यह होगा कि उस विद्यालयसे निकले हुए शिक्षित पुरुष रोमीय मन्त्रमें ही दीक्षित होकर रोमको ही अपना

आदर्श करके मानेंगे।" सेनेट सभाने सिसिरोके उत्तरका सम्पूर्ण अनुमोदन किया था। अतः सिद्धान्त हुआ कि विजातीय भाषाशिक्षाके साथ साथ विजातीय भावका भी प्रभाव चित्त पर अवश्यही हो जाता है। परन्तु देश-कालके विचारसे अनेक समय विजातीय भाषा-शिक्षाके विना जीवन निर्वाह करना कठिन हो जाता है। इस दशामें दोनों ओरकी सुविधा व बचावके लिये कर्तव्य यह होगा कि बाल्यकालसे विजातीय भाषाशिक्षाके पहले कुछ स्वजातीय भाषाका भी गौरव उसकी शिक्षाके द्वारा हृदयमें बद्धमूल कराया जाय और आगे अन्यभाषा-शिक्षाके साथ साथ स्वदेशीय भाषाकी भी चर्चा रक्खी जाय। ऐसा होनेसे विजातीय भाषा-शिक्षाका उतना प्रभाव चित्तपर नही होगा। हिन्दुसामाजिक नेताका कर्त्तव्य है कि समाजके मनुष्योंमें स्वजातीय देववाणी संस्कृत तथा साधारण राष्ट्र भाषा हिन्दीकी शिक्षाका जिससे अधिक प्रचार हो सो करें। अङ्गरेजी भाषाके प्रसिद्ध ग्रन्थकर्त्ता सदे साहबने लिखा है:-
"हम लोगोंकी भाषा एक अति महत् व सुन्दर भाषा है। परन्तु जहाँ कहीं किसी अङ्गरेजी भाषाके शब्दसे काम निकल सकता हो वहां यदि कोई लाटिन अथवा फ्रेञ्च भाषाके शब्दको काममें लावे तो मातृभाषाके प्रति विद्रोहाचरण करनेके पापसे उसको फाँसी देकर अथवा उसका शरीर खण्ड विखण्ड करके उसको मृत्युका दण्ड देना उचित है।" सदे साहबकी तरह मातृभाषाप्रेम प्रत्येक हिन्दुके हृदयमें होना चाहिये तभी समाजमें आर्यभावकी रक्षा व वृद्धि होगी। विना मातृभाषाकी उन्नतिके किसी जातिकी पूर्णोन्नति नही हो सकती; विना मातृभाषाकी उन्नतिके स्वधर्मका पूर्ण विकाश नहीं हो सकता, मातृभाषाकी उन्नतिके विना कोई मनुष्यजाति शीघ्र सफलता लाभ नहीं कर सकती, विना मातृभाषाकी उन्नतिके देशमें ज्ञानका पूर्णरूपसे विस्तार होना असम्भव है; विना मातृभाषाकी उन्नतिके देशका गौरव कदापि वृद्धिको प्राप्त नहीं हो सकता; विना मातृभाषाकी उन्नतिके कोई जाति अपने स्वजातिभावकी रक्षा करनेमें समर्थ नही हो सकती और विना मातृभाषाकी रक्षामें सफलकाम हुए कोई मनुष्य कदापि पूर्ण मनुष्यत्वको प्राप्त नहीं कर सकता। इस समय भारत-वासियोंकी मातृभाषाके स्थानमें विशुद्ध हिन्दी भाषाको ही समझ सकते हैं। थोड़ासा यत्न करने पर ही यह भाषा सर्वसाधारण भारतवासियोंके लिये केन्द्ररूपसे स्थापित हो सकती है। फलतः अब दृढ़व्रत होकर विद्वान् नेताको ऐसा यत्न करना उचित है जिससे एक बृहत् शब्दकोषके संग्रहसे और व्याक-

रण, दर्शन, काव्य व नाना अवश्यकीय ग्रन्थोंके प्रणयनसे यह मातृभाषा अपने पूर्ण स्वरूपको प्राप्त हो सके। तदनन्तर परम पवित्र संस्कृत भाषाको पितृस्थानीय और हिन्दीभाषाको मातृस्थानीय करके ज्ञानराज्यमें लालित पालित होने पर भारतवासियोंका सब अभाव शनैः शनैः दूर हो सकेगा। इसलिये प्रथम तो हिन्दी भाषाकी पूर्णता सम्पादनके लिये पुरुषार्थकी आवश्यकता है और दूसरे उच्च कक्षाओंमें संस्कृत भाषाकी शिक्षा सुगम रीति पर देते हुए साथ ही साथ मातृभाषाके द्वारा देशकालज्ञानसम्बन्धी अन्यान्य शास्त्रोंका अध्ययन कराना युक्तियुक्त होगा। यदि ऐसा सुअवसर प्राप्त हो कि भारतवर्षके सब प्रान्तोंमें एकमात्र हिन्दीभाषा ही मातृभाषा होजाय तो बहुत ही लाभकी सम्भावना है। यदि ऐसा होनेमें अभी विलम्ब हो तो अभी ऐसा यत्न होना चाहिये कि बङ्गाल, मद्रास, बम्बई, पञ्जाब आदि प्रान्तोंमें और देशीय रजवाड़ोंमें, कि जहांकी विभिन्न मातृभाषाएं उनके स्वतन्त्र-अक्षरोंसे लिखी जाती हैं, वहां प्रवृत्ति दिलाकार एकमात्र देवनागरी अक्षरोंका प्रचार करवाया जाय। ऐसा होने पर सार्वजनिक क्रमोन्नति, विद्याका विस्तार और जातीय भावकी दृढ़तामें विशेष सहायता मिलेगी। अतः आर्यनेताकी दृष्टि इस ओर अवश्यही आकृष्ट होनी चाहिये।

(४) प्रत्येक जातिका मौलिक जातीय भाव जिस तरह जातीय भाषाके द्वारा प्रकट होता है, उसी प्रकार जातीय आचारोंके द्वारा भी प्रकट होता है। विना स्वजातीय आचारोंकी रक्षाके कोई भी जाति अपनी जातीयताको चिरकाल तक प्रतिष्ठित रखनेमें समर्थ नहीं होती। वहिःप्रकृति अन्तःप्रकृतिका केवल विकाश मात्र है। जीवगणकी अन्तः प्रकृति जिन जिन भावोंसे सम्मिलित रहती है, उसके वहिर्लक्ष्य भी ऐसे ही भावमय हुआ करते हैं। इसी वैज्ञानिक नियमके अनुसार सामुद्रिक शास्त्र द्वारा विद्वान् लोग मनुष्यके वहिर्लक्षणोंको देखकर उसकी प्रकृति व प्रवृत्तिका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अन्तःप्रकृतिसे वहिःप्रकृतिका इतना मिश्रसम्बन्ध है कि मनुष्यगणकी यावन्मात्र वहिश्चेष्टाओंके साथ उसका सम्बन्ध रहा करता है। प्रत्येक मनुष्यके खान, पान, उठने, बैठने, श्रवण, मनन, आचार, विचार आदि सब चेष्टाओंके देखनेसे ही उसके जातिगत विचारोंका निर्णय हो सकता है। इसी कारणसे तमोगुण पक्षपातिनी एशिया व अफ्रिकाकी विशेष विशेष जातियोंके, रजोगुण पक्षपातिनी वर्त्तमान यूरोप व अमेरिकाकी विशेष विशेष जातियोंके और सत्वगुणपक्षपातिनी आर्य

जातिके बहिराचारोंमें बहुत ही अन्तर देख पड़ता है। उदाहरणस्थल पर विचार कर सकते हैं कि इन तीनों मनुष्यजातियोंकी भाषा, परिच्छद, रीति, नीति, आहार, विहार आदि द्वारा स्पष्टरूपसे उनकी विभिन्नता जानी जा सकती है। आर्यजाति स्वभावसे ही जिस प्रकार आहार व विहार आदिकी पक्षपातिनी है, उस प्रकार यूरोपीयजातिका विचार देखनेमें नहीं आता। प्रत्येक जातिका अपने जातिधर्मके साथ अति घनिष्ठ सम्बन्ध हुआ करता है और उसका यह फल होता है कि आर्यजातिके सदाचारीगण अन्यजातिके आचारोंको देख कर उनको बालकके खेलकी तरह समझा करते हैं और उसी रीति पर अन्य यूरोप-वासीगण भारतवासियोंकी रीति नीति पर कटाक्ष कर हास्य किया करते हैं। बहिर्भावसे अन्तर्भावका और अन्तर्भावसे बहिर्भावका मिश्रसम्बन्ध रहनेके कारण जिस प्रकार अन्तर्भावका प्रभाव बहिश्चेष्टाओंमें पड़ता है उसी प्रकार बहिःक्रिया-ओंका भी प्रभाव अन्तर्भाव पर पड़ा करता है। इसी कारण प्रत्येक मनुष्यजातिके योग्य नेतागण अपनी जातिके आचारोंकी रक्षा करनेमें सदा तत्पर देख पड़ते हैं। पृथिवीकी मनुष्यजातियोंमेंसे किसीका आचार चाहे कैसा ही हो, चाहे किसी एक जातिका आचार उत्कृष्ट और दूसरीका निकृष्ट हो, अथवा चाहे किसीमें कुछ भी योग्यता रहे, परन्तु अपने जातीभावकी रक्षा तभी हो सकती है, अपना जातिगत जीवन तभी तक रह सकता है, जबतक वह जाति अपनी जातिगत रीति, नीति, खान, पान, भूषण, आच्छादन और सदाचारमें दृढ़ और तत्पर रहती है। एक जाति जब अपने सदाचारोंको छोड़ कर दूसरी जातिकी रीति, नीति, खानपान और आचारोंको ग्रहण करने लगती है, तब बहिर्लक्षणविचारसे उस जाति की जातिगत विभिन्नताका नाश हो जाता है और साथ ही साथ कालान्तरमें उस जातिकी अन्तःप्रकृतिका भी परिवर्तन होकर उसके पूर्व्वजातिभाव-का पूर्णरूपसे नाश हो जाता है और अन्तमें वह जाति एक नूतन जाति बन जाती है। फलतः इस प्रकारके अनुकरण द्वारा उस जातिका जीवन विनष्ट हो जाया करता है। एक जाति जब कभी दूसरी जातिसे जीती जाती है अर्थात् अन्यदेशवासीगण जब किसी दूसरे देशमें जाकर उस देशके निवासि-गणको बलपूर्वक अपने अधीन कर लिया करते हैं, तब प्रायः ऐसा देखनेमें आता है कि पराजित जाति क्रमशः विजेता जातिकी रीति, नीति, भाषा आचार और वेष आदिका अनुकरण करने लगती है। संसारमें दो शक्तियाँ देख पड़ती हैं, एक लघुशक्ति और दूसरी गुरुशक्ति। गुरुशक्ति द्वारा लघुशक्ति

अधिकृत हो जाती है इसी कारणसे गुरु सात्विक शक्ति द्वारा शिष्यको अधीन कर लेते हैं। धर्माचार्यगण अपने मतावलम्बिगणमें ईश्वरका अवतार कहलाने लगते हैं और इसी कारणसे जेतागण प्रथम तो अपनी राजसिक शक्ति द्वारा विजित जातिको वलपूर्वक अपने अधीन कर लेते हैं और फिर क्रमशः विजित जातिके आहार, विहार आदि सदाचारों पर भी अपना पूर्ण अधिकार स्वतः ही जमा सकते है। इसी अभ्रान्त प्राकृतिक नियमके अनुसार जगत्के इतिहासोंमें देखनेमें आया है कि सकल स्थानोंमें जेतागणकी गुरुशक्ति द्वारा पराजित जातिकी लघुशक्ति स्वतः ही दव गई है। और क्रमशः सूक्ष्मातिसूक्ष्म होती हुई गुरुशक्तिमें लयको प्राप्त हो गई है। इसी अपरिहार्य नियमके अनुसार जगत्विजयिनी प्राचीन यूनानी जाति रोमनशक्तिमें लयको प्राप्त होकर अव एक नूतन क्षुद्र जाति वन गई है। इसी नियमके अनुसार पुनः रोमन जातिका पूर्णरूपसे लोप होकर उसी भूमिमें एक नई इटालियन जातिका आविर्भाव हो गया है। भारतवर्षके अतिरिक्त और सव देशोंके इतिहास पाठ करनेसे यही प्रमाणित होता है कि जहाँ जहाँ जव कभी जेता जातिकी गुरुशक्तिने किसी पराजित जातिकी लघुशक्तिको अपने अधीन कर लिया है तो अंतमें उस विजित जातिका लोप ही होगया है। परंतु भारतवर्षके आर्यगण आज प्रायः दो सहस्र वर्षोंसे नाना जातियोंके द्वारा विजित होने पर भी अभी तक पूर्णरूपसे अपने स्वरूप व आचारको नहीं भूल गये हैं; आर्यजातिका यह एक अपूर्व महत्व है। हिंदू-समाजके नेताके हृदयमें इस महत्वकी प्रतिष्ठा होनी चाहिये और जिससे हिंदू जाति अपने शास्त्रीय सदाचारोंसे भ्रष्ट न हो जाय ऐसा यत्न नेता महापुरुषको सदा करना चाहिये।

(५) आचारके साथ साथ चरित्रकी उन्नति भी सामाजिक उन्नतिमें परम सहायक हुआ करती है। जिस जाति या समाजमें चरित्रका उच्च आदर्श नहीं है वह जाति या समाज कदापि उन्नत नहीं हो सकता। प्रत्येक उन्नति बीजवृक्षन्यायसे होनेके कारण जिस जातिके अतीत जीवनके गर्भमें जिस प्रकार आदर्श चरित्रका वीज रहता है उस जातिमें भविष्यत् जीवनका आदर्श भी उसी प्रकारका होता है। जिस जातिका अतीतजीवन गौरवमय संस्कारयुक्त नही है, उस जातिका भविष्यत् जीवन भी गौरवमय वन नही सकता। कारण, गौरवमय अतीतजीवन बीजके विना गौरवमय भविष्यत् जीवन वृक्ष

बन नहीं सकता। जिस देशके प्राचीन जीवनमें भीष्मपितामहका संस्कार विद्यमान् है उसी देशमें भविष्यत्में भी भीष्मपितामह उत्पन्न हो सकते हैं। जिस देशके अतीत जीवनमे ज्ञानी महर्षियोंके चरित्रका आदर्श विद्यमान रहता है; उसी देशमें ज्ञानी महर्षियोंका आविर्भाव हो सकता है। जिस जातिके अतीत-जीवनमें सतीधर्मका संस्कार विद्यमान नहीं है उस जातिके भविष्यत् जीवनमें सतीत्वका आदर्श उत्पन्न नही हो सकता। जिस आर्य्यजातिके अतीत-जीवनमें श्रीशङ्कराचार्य जैसे संन्यासीका आदर्श विद्यमान है, उसी आर्यजातिके भविष्यत् जीवनमें संन्यासका यथार्थ आदर्श उत्पन्न हो सकता है।

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'

यह भगवान्का वाक्य है। जो है नही सो आ नही सकता और जो है उसका अभाव भी नही हो सकता। अतः प्रत्येक जातिको अपने सामाजिक जीवनका आदर्श पूर्ववर्ती महात्माओंके आदर्शपर बनाना चाहिये। यह आदर्श जिस जातिमें जितना उच्च होगा उस जातिका जातीय चरित्र व उद्देश्य भी उतना ही उन्नत होता है। उस आदर्शके प्रति श्रद्धाभक्ति जितनी गम्भीर होती है, जातीय धर्मनिष्ठा भी उतनी ही गम्भीर होगी। उस आदर्शके अनुरूप होनेके लिये जितनी यत्नशीलता होती है, जातीय उन्नति भी उतनी ही होती है। इस प्रकार विचार करने पर जातीय आदर्श निम्नलिखित आठ श्रेणीमें विभक्त किया जा सकता है। यथाः—

(क) जिस जातीय मनुष्योंका चित्तादर्श सामान्य संस्कारयुक्त है, उस जातिकी सभ्यावस्था हीन है।

(ख) जिस जातीय मनुष्योंका चित्तादर्श आंशिक उत्कृष्ट है, उसकी सभ्यावस्था भी पूर्ण नही हो सकती अर्थात् उसकी सभ्यावस्था भी आंशिक होती है।

(ग) जिस जातीय मनुष्योंका चित्तादर्श सुसंस्कृत है, उसकी सभ्यावस्था भी उत्कृष्ट है।

(घ) जिस जातीय मनुष्योंका चित्तादर्श दूसरोंके सम्बन्धसे उत्कर्ष लाभ करता है, उसकी सभ्यावस्था उन्नतिशील है।

(ङ) जहांपर चित्तादर्श समभावापन्न रहनेपर भी उसके प्रति अनुराग व उसकी साधनचेष्टा है, वहाँकी सभ्यावस्था सजीव है।

(च) जहाँपर चित्तादर्श समभावापन्न किन्तु उसके प्रति अनुराग कम होता जाता है, वहाँकी सभ्यावस्था पतनप्रवण समझनी चाहिये।

(छ) जहाँपर चित्तादर्श पहले जैसा था उससे मलिन होने लगा है, वहाँपर सभ्यावस्था भी पतनशील समझनी चाहिये।

(ज) और जिस जातिका चित्तादर्श सुसंस्कृत व तत्प्रति अनुराग भी बलवान् है परन्तु उसकी साधनचेष्टा कम हो गई है, उस जातिकी सभ्यावस्था उत्तम परन्तु स्थगित गति समझनी चाहिये।

अब इन आठ प्रकारके चित्तादर्शोंका हिन्दुसमाज व जातिके प्रति प्रयोग करके विचार करना चाहिये। हिन्दुजातिके आदर्श नर-नारी श्रीरामचन्द्र व सीता हैं। हिन्दुजातिके शिरोभूत ब्राह्मणोंके आदर्श महर्षि वशिष्ठ और संन्यासीके आदर्श महर्षि याज्ञवल्क्य व शङ्कराचार्य हैं। हिन्दुजातिमें त्यागी व ब्रह्मचारीके आदर्श भीष्मदेव, गृहस्थके आदर्श राजर्षि जनक और पूर्णताके आदर्श भगवान् श्रीकृष्ण हैं। इन सब आदर्शोंसे उच्चतर आदर्श क्या कभी किसी देशमें प्रकाशित हुआ था? कहीं नहीं। अतः हिन्दुजातिकी सभ्यावस्था पूर्वोक्त तृतीय सूत्रानुसार सर्वोत्तम है यह निश्चय होगया। हिन्दुजातिके हृदयसे इन सब आदर्शोंके प्रति श्रद्धा भक्ति क्या कुछ कम हो गई है? कुछ भी नहीं। अतः पूर्वसिद्धान्तानुसार स्वभावतः हिन्दुजाति परम धार्मिक है ऐसा स्वीकार करना होगा। हिन्दुजाति अपने अपने कार्योंमें क्या उन सब आदर्शोंकी अनुकरणचेष्टा करती है? नहीं, आज कल बहुत थोड़े ही मनुष्य ऐसा प्रयत्न करते हैं। हिन्दुजातिकी चेष्टाशक्ति कम होनेसे हिन्दु उत्कृष्ट सभ्यावस्थायुक्त व परम धर्मशील होनेपर भी उनकी सभ्यावस्था वर्त्तमान समयमें स्थगितगति हो गई है। अतः सिद्धान्त हुआ कि हिन्दुजातिकी सभ्यावस्था अष्टम सूत्रके अन्तर्गत है अर्थात् यह उत्कृष्ट किन्तु स्थगितगति है। परन्तु कोई भी समाज स्थगितगति होकर बहुत दिनों तक रह नहीं सकता। या तो वह चतुर्थ अथवा पञ्चम सूत्रके अन्तर्गत होकर उत्कर्ष लाभ करता है या षष्ठ अथवा सप्तम सूत्रके अन्तर्गत हो हीन हो जाता है। हिन्दु सामाजिक नेताका कर्त्तव्य है कि जिससे अपने समाजके लोगोंमें प्राचीनत्वकेप्रति मर्यादा नष्ट न हो जाय और समाजके हृदयमें प्राचीन महापुरुषोंके आदर्शपर जीवन गठन करनेकी इच्छा व चेष्टा बनी रहे ऐसा उपाय व पुरुषार्थ वे करें। ऐसा उपाय करनेसे भारतके इस दुर्दिनमें भी हिन्दु-

गृहस्थ नरनारियोंमें रामसीताके आदर्शकी बीजरक्षा, ब्राह्मणोंमें महर्षि वशिष्ठके आदर्शकी बीजरक्षा, त्यागी व ब्रह्मचारियोंमें पितामह भीष्मदेवके आदर्शकी बीजरक्षा और संन्यासियोंमें भगवान् याज्ञवल्क्य व शङ्कराचार्यके आदर्शकी बीजरक्षा अवश्य होगी। परार्थपरता ही हिन्दुजीवन व हिन्दुसमाजका सार तत्व है। त्याग, संयम, धर्मभीरुता, क्षमा, दया, धैर्य्य, पवित्रता, सन्तोष, आदि देवदुर्लभ गुणावली ही हिन्दुसमाजका भूषण है। शान्ति ही आर्यजाति की चिरसहचरी है। दुःखका विषय है कि आधुनिक हिन्दुजीवनमें शिक्षा, सङ्ग व अनुकरणके दोषसे महर्षिसुलभ परार्थपरता दिन व दिन विलुप्त होकर ऐहलौकिक व पारलौकिक स्वार्थपरताकी वृद्धि हो रही है। जिस जातिके लिये श्रीभगवानने

"भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्"

केवल अपने लिये भोजन पकाना पापभोजन मात्र है ऐसा कह कर परार्थपरताकी पराकाष्ठाका उपदेश किया है, उस जातिके पवित्र जीवनमें आज विजातीय कुसङ्गके कारण स्वार्थपरताका कलङ्क लग रहा है। किसी नवशिक्षित पुरुषने कहा थाः–"महाशय! उस कार्यमें मेरा स्वार्थ है तब मैं उसे क्यों नहीं करूँगा?" "इसलिये उसे नहीं करना चाहिये कि उसके करनेसे परार्थ नष्ट होता है" *** परार्थ रक्षा करनेमें मेरा इष्ट क्या है?" *** "परार्थकी रक्षा ही तुम्हारा इष्ट है।" *** "परार्थ रक्षामें परका इष्ट है मेरा इष्ट नहीं है।" विचार समाप्त हो गया। मालूम हुआ कि इतने दिनों तक पवित्र शास्त्रशिक्षाके प्रभावसे हिन्दु हृदयमें परार्थताका जो भाव प्रविष्ट हुआ था, विजातीय शिक्षा व सङ्गके प्रभावसे एकदम नष्ट हो गया। हिन्दुजातीय पवित्र चरित्रमें इन्हीं सब कुभावोंका प्रभाव आज कल पड़ रहा है। अतः हिन्दुनेताकी दृष्टि इस ओर आकृष्ट होनी चाहिये और विचारके साथ उल्लिखित जातीय चरित्रकी आदर्शरक्षाके प्रति उनको पूर्ण पुरुषार्थशील होना चाहिये।

यह बात यहाँ पर कह देना अवश्य ही युक्तियुक्त होगा कि इस प्रकार हिन्दुजातीय चरित्रकी आदर्शरक्षाके लिये वर्णोंके नेता ब्राह्मण और वर्णोंके गुरु तथा आश्रमोंके नेता संन्यासियोंके वर्त्तमान आचार विचारोंका संस्कार अवश्य ही होना उचित है। वे दोनों ही वर्णाश्रमधर्मके-शीर्षस्थानीय हैं। अतः उनकी पुनरुन्नति हुए विना आर्यजाति या समाजकी स्थायी उन्नति नहीं होगी। ब्राह्मण चारों वर्णोंमें प्रधान हैं, ब्राह्मण ही आर्य प्रजाके सदा चालक होते आये

हैं। अतः ब्राह्मणगण जितनी योग्यता प्राप्त करेंगे, समाजमें उनका जितना आदर बढ़ेगा, चातुर्व्वर्ण्यका उतना ही कल्याण हो सकेगा। अस्तु, ब्राह्मण जातिकी उन्नति पर ही प्रधानतः आर्यजातिकी उन्नति निर्भर हो रही है। शरीरमें मस्तक सर्वश्रेष्ठ अङ्ग होनेसे मस्तकके विगड़नेसे सारा शरीर विगड़ता है और उसके ठीक रहनेसे ही सारा शरीर ठीक रहता है। हिन्दुसमाज रूपी विराट शरीरका मस्तक ब्राह्मण व संन्यासी हैं अतः इनकी स्वरूपस्थितिके ऊपर ही हिन्दुसमाजकी सर्वाङ्गीण उन्नति पूर्णरूपसे निर्भर है।

तमोगुणकी अधिकताके कारण तथा ब्राह्मणजातिमें विद्याका वहुत ही अभाव होनेके कारण ब्राह्मणोंकी वहुधा दृष्टि अव धनकी ओर पड़ी है और तपसाधन करना ब्राह्मणगण भूल रहे हैं। अतः विद्याप्रचारके साथही साथ ब्राह्मणगण जितना समझेंगे कि उनका धन सुवर्ण आदि नहीं है किन्तु उनका परम धन विद्या है, ब्राह्मणगण जितना समझेंगे कि उनका भूषण ऐश्वर्य नहीं है किन्तु उनका भूषण केवल त्याग और तप है, उतनी ही उस जातिकी पुनरुन्नति होगी। समाजमें यह प्रथा प्रचलित होना उचित है कि धनके द्वारा ब्राह्मणोंकी मर्यादा न वाँधी जाय, किन्तु केवल तपशक्ति, त्यागप्रवृत्ति और विद्याको देखकर ब्राह्मणोंकी मर्यादा वाँधी जाय। जिससे उत्तर भारत और दक्षिण भारतके ब्राह्मण भ्रातृसम्वन्धसे परस्पर मिल सके, ऐसा यत्न करना होगा; महाराष्ट्रब्राह्मण, वङ्गालीब्राह्मण आदि देशविभागोंसे जो ब्राह्मण जातिका विभाग वँध गया है, उन सव ब्राह्मणसमाजोंमें परस्पर सौहार्दस्थापन होकर एक दूसरेमें जो अनाचार हैं, उनको दूर करते हुए उनमें जहाँ जहाँ सदाचार हैं उनको परस्परमें ग्रहण करनेकी प्रवृत्ति की जाय; तभी ब्राह्मणजातिकी उन्नति हो सकती है। पंचगौड़ और पंचद्राविड़ ब्राह्मणोंमें इतना वैमनस्य हो गया है कि गृहस्थाश्रमहीकी दशामें वे एक दूसरेसे अलग रहते हैं। यही नहीं किन्तु संन्यासाश्रम ग्रहण करने पर भी उनका वैमनस्य दूर नही होता; उस दशामें भी उनका पृथक खानपान, उनकी पृथक प्रवृत्ति वनी रहती है। अस्तु, सम्राजानुशासनकी प्रवृत्ति करते हुए, आचारका संशोधन कराकर, इस प्रकारके अशास्त्रीय वैमनस्यको दूर करके ब्राह्मणजातिके पारस्परिक प्रेमकी सहायता परस्परको लेना उचित है। ब्राह्मणोंमें अविद्याके विस्तारके साथही साथ पुरुषार्थप्रवृत्ति एकवार ही नष्ट हो गई है। अतः इस श्रेष्ठ जातिमें जवतक निष्काम पुरुषार्थकी पुनः प्रवृत्ति न होगी, जवतक वर्णगुरु ब्राह्मण और आश्रम

गुरु संन्यासियोंमें श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्के गर्मयोगविज्ञानकी पुनः प्रवृत्ति नहीं होगी, तबतक इस अधः पतित आर्यजातिकी पुनरुन्नति व हिन्दुसमाजका पुनरभ्युदय होना बहुत ही कठिन है।

आजकलके सांसारिक लोग प्रायः ऐसा विचार करने लगते हैं कि ज्ञानवान होनेपर ही, संन्यास आश्रमधारी होनेपर ही जड़वत् निश्चेष्ट हो जाना उचित है। ब्राह्मणगणमें जहाँ कुछ तत्त्वज्ञानकी प्रवृत्तिकी उत्पत्ति हुई उसी समय वे समझने लगते हैं कि बस अब हाथ पाँव हिलाना अनुचित है। गृहस्थगण ऐसा विचारकर यह निश्चय करने लगते हैं कि साधुओंको और कुछ भी करणीय नहीं रहता, उनको केवल इतना ही उचित है कि या तो वे लोकालय और मनुष्यसमाजको त्यागकर निर्जन वनमें जाकर एकान्तसेवी हो जायँ अथवा मूक, निष्क्रिय, पुरुषार्थहीन होकर जड़वत् हो रहें! दूसरी ओर आजकलके नानारूपधारी संन्यासाश्रममें प्रवृत्त हुए साधु-गणमें वैसा ही प्रकार दृष्टिगोचर होता है। आजकलके भिक्षुआश्रमधारी साधकोंमें आलस्य, पुरुषार्थहीनता, पारलौकिक स्वार्थपरता, परोपकारवृत्ति का त्याग, श्रवण, मनन, निदिध्यासनरूप साधनका अभाव आदि वृत्तिसमूह देखनेमें आता है। इस ग्रन्थके प्रथम खण्डके आश्रमधर्म नामक अध्यायमें पूर्ण-रूपसे विचार व शास्त्रप्रमाणद्वारा सिद्ध किया गया है कि विना निष्कामकर्मा-नुष्ठानके साधकको कभी पूर्णता-प्राप्ति होही नही सकती, क्योंकि त्रिविध शुद्धियां जो कि पूर्णताकी साधक हैं, उनमेंसे आधिभौतिकशुद्धि विना निष्कामकर्म साधनके हो ही नहीं सकती और निष्काम कर्मानुष्ठान द्वारा अपनी सत्सत्ता परमात्माकी सत्सत्तासे मिलाये विना जीवत्वका परिच्छिन्न भाव कदापि नष्ट नही हो सकता। अतः संन्यासियोंको कर्मत्याग करना पूर्णतया शास्त्र-विरुद्ध है। इसके सिवाय तमःप्रधान कलियुगमें निष्कामकर्म्मयोगके विना तमो-मूलक आलस्य प्रमादादि दोष दूर करनेका और कोई भी उपाय नहीं है। हिन्दु समाजके मुकुटमणिरूप संन्यासिगण आज जो घृणाकी दृष्टिसे देखे जा रहे हैं, उनको भिक्षा देना तो दूर रहा, उनका नाम सुनते ही गृहस्थलोग घबड़ाने लगते हैं, सहस्रों प्रकारके अनाचार, दुराचार, स्वार्थपरता, लोभ, द्रविणलालसा, इन्द्रियभोगप्रवृत्ति, आश्रम व जीवनभ्रष्टकारी दुर्गुण आजकल साधु संन्या-सिगणमें प्रायः देखनेमें आते हैं, यह सब संन्यासजीवनमें पुरुषार्थशीलताके अभावका ही फलरूप है। यदि केवल भारतके साधु व संन्यासी ही संयमी,

जितेन्द्रिय, ईषणा-त्रयहीन व निष्कामव्रतपरायण हो जायँ तो वे हिन्दुसमाजकी वर्त्तमान हीन अवस्था एक दिनमें ही सुधार सकते हैं। क्योंकि जहाँ समाज-शीर्षस्थ ब्राह्मण व संन्यासी सुधरे, वहाँ ब्राह्मणसे अतिरिक्त सब जातिका कल्याण व अभ्युत्थान अवश्यम्भावी है। इसमें अणुमात्र सन्देह नही है। अतः ब्राह्मण व संन्यासियोंके सुधारपर सामाजिक नेताकी दृष्टि आकृष्ट होनी चाहिये।

(६) विना शिक्षाके कोई भी जाति या समाज उन्नति नहीं कर सकता, क्यौंकि शिक्षाही मनुष्यके यथार्थ मनुष्यत्व-विकाशका कारण है। हिन्दु-नेताको चाहिये कि हिन्दु नर नारियोंमें स्वजातीय शिक्षाका प्रचार करें; क्योंकि स्वजातीय शिक्षाके द्वारा ही स्वजातीय भाव व यथार्थ मनुष्यत्वका विकाश हो सकता है। हिन्दु रमणियोंको सतीधर्म रक्षाके अनुकूल सत्‌शिक्षा देनेसे और पुरुषोंको प्रथमावस्थामें ब्रह्मचर्यव्रतका पालन कराकर धर्मानुकूल सत्‌शिक्षा देनेसे इस समयके सामाजिक प्रबल रोगमें सुपथ्यप्रयोग हो सकता है। यदि स्त्रियों और पुरुषोंके लिये उपयोगी स्वतन्त्र सत्‌शिक्षाका प्रचार नहीं किया जायगा तो विरुद्ध फल अवश्यम्भावी है। यूरोप व अमेरिकामें धर्मा-नुकुल सत्‌शिक्षाके अभावका ही कारण है कि वहाँकी स्त्रियाँ दिन प्रतिदिन पुरुषभावापन्ना और विपथगामिनी होती जाती हैं। आर्यसन्तानोंमें जिस प्रकारकी आजकल शिक्षा हुआ करती है उससे दिन प्रतिदिन आर्यजनोंमें स्वार्थ-परताकी वृद्धि होती जाती है अर्थात् आर्यसंतानोंकी दृष्टि शरीर संबंधी व्यापारों पर ही बढ़ती जाती है और उनमेंसे धर्मभाव व निष्कामकर्त्तव्यका नाश होता जाता है। जबतक सदाचार एवं धर्मशिक्षाकी शैलीका प्रचार उनमें न होगा, तबतक कदापि आर्यजातिकी उन्नति होनी सम्भव नहीं है। बालकोंको जिस प्रकारसे आज कल पढ़ाया जाता है उस प्रकारके अभ्यास द्वारा वे कदापि सदाचार व धर्मशिक्षामें अपने आपसे उन्नत नहीं हो सकेंगे। आजकल केवल मुखसे जो 'धर्म' 'धर्म' कहनेकी रीति प्रचलित होती जाती है वैसे वाचनिक धर्मसे हिन्दुसमाज व जातिका कल्याण होना असम्भव है। जबतक धर्मके साधनपर भारतवासियोंकी हार्दिकी रुचि नहीं बढ़ेगी, तबतक वे कदापि उन्नतिको नहीं प्राप्त करेंगे। जिस शिक्षाके द्वारा इच्छाशक्तिका वेग और उसकी स्फूर्त्ति धर्मानुकूल होकर अपने स्वाधीन व सफलकाम होती है, जिस शिक्षाप्रणाली द्वारा मनुष्योंमेंसे स्वार्थपरताका नाश होकर स्वजाति प्रेम और जगत्‌के कल्याणकी बुद्धिका अधिकार प्राप्त होता है, उसी शिक्षाको यथार्थ शिक्षा

कहते हैं। परन्तु दुःखका विषय है कि आजकल संस्कृत पाठशाला व चतुष्पाठी आदिमें शिक्षाप्रणालीकी असम्पूर्णताके कारण उल्लिखित शिक्षालक्षणों का अभाव और साथ ही साथ लौकिक ज्ञानका भी अभाव देखनेमें आता है। और स्कूल कालेजोंकी शिक्षामें लौकिक ज्ञान प्राप्तिका उपाय रहने पर भी धर्म मूलक अन्यान्य शिक्षाका पूर्ण अभाव देखनेमें आरहा है। अतः हिन्दुनेताका प्रधान कर्त्तव्य है कि वे हिन्दुजीवनमें यथार्थ शिक्षाका अंकुर उत्पन्न करें। यथार्थ विद्याकी प्राप्तिके लिये प्राचीन ऋषिकालके आदर्श पर नवीन पठन शैलीका आविष्कार किया जाय और साथ ही साथ धार्मिक शिक्षा देनेका प्रधान लक्ष्य रक्खा जाय। विद्यार्थिगण किस प्रकारसे यथार्थ विद्याको प्राप्त कर सकते हैं, कैसे वे ब्रह्मचर्य व्रतके अधिकारी हो सकते हैं, कैसे वे देशकालज्ञ व स्वदेशहितैषी वन सकते हैं, कैसे वे अपने स्वार्थको कम करते हुए वर्णाश्रम धर्मकी उन्नति करनेमें समर्थ हो सकते हैं और कैसे वे अपने अभावोंको संकोच करते हुए ज्ञानवान् होकर मनुष्यत्वको प्राप्त कर सकते हैं, इसकी खोज सदा की जाय और जो जो सुगम उपाय निश्चित होते जायँ उन्हींके अनुसार स्कूल, कालेज तथा संस्कृत विद्यालयोंमें शिक्षा प्रणाली प्रचलित कराई जाय।

पूज्यपाद महर्षियोंने अज्ञान नाशकारिणी और ज्ञानजननीको विद्या कहा है। इस समय विद्याके नामसे जो शिक्षा दी जाती है वह यथार्थ विद्याकी शिक्षा नहीं है। वह आर्यसिद्धान्तके अनुसार विद्याशिक्षारूपसे अभिहित नहीं हो सकती। उससे केवल अर्थोपार्जनकी योग्यता और देशकालका ज्ञान हुआ करता है, उससे न आत्माका अज्ञान नाश होता है और न उससे अध्यात्म विद्याकी प्राप्ति होती है। आर्य्यजातिके लिये ऐसी शिक्षाप्रणालीका जारी होना उचित है कि जिसमें उपर्युक्त दोनों लक्षण पाये जायँ। अर्थात् जिस शिक्षाप्रणालीमें लौकिक अभ्युदयके सव सामान रहनेपर भी जिसका अन्तिम लक्ष्य ज्ञानजननी विद्याके चरणोंमें ही रहे वही आर्य्यजातिके लिये सत्शिक्षा है।

लौकिक शिक्षाके प्रचार करनेमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रका विचार कदापि करना उचित नहीं है। धर्मके क्रियासिद्धांशकी शिक्षा देनेमें और वेद तथा वैदिक विज्ञानकी शिक्षा देनेमें अवश्य ही वर्णाश्रमके अधिकारका विचार रखना कर्त्तव्य है। परन्तु आर्यजातिके पुनरभ्युदयके अर्थ जव तक सार्वजनिक शिक्षाका विस्तार न किया जायगा तवतक सफलताकी सम्भावना नहीं है। भारत विजयके समय मुसलमान जेता कितना सेनावल लाये

थे? भारतको अपने अधीन करते समय अङ्गरेज जातिके साथ कितनी सेना थी? सात सौ वर्षोंके मुसलमान साम्राज्यमें छः कोटि मुसलमान और सौ वर्षोंके ईसाई साम्राज्यमें एक करोड़ ईसाई हो जानेका कारण क्या है? अर्थलोलुप विदेशीय वणिकोंके थोड़े ही यत्न द्वारा भारतवर्षके अमूल्य शिल्पराशिका नाश क्यों हो गया है? परमोदार, समदृष्टिसम्पन्न सनातन धर्ममें घोर अमङ्गलकर साम्प्रदायिक विरोधका कारण क्या है? जिन महर्षियोंके उपदेश समूहमें कहीं भी अन्यधर्म-विद्वेषकी छाया मात्र भी नहीं पाई जाती, उनके ही वंशधरोंमें स्वधर्मविद्वेषका घोर अनल प्रज्वलित होनेका प्रधान कारण क्या है? जिस आर्यजातिके आदिनेता और आदिशिक्षक पूज्यपाद महर्षिगण अपने स्वार्थको सम्पूर्णरूपसे त्याग करते हुए केवलमात्र जगत् कल्याणकामनाके वशीभूत हो परोपकारव्रतपरायण होकर जीवन निर्वाह करते थे, आज उनके ही वंशसम्भूत -क्या गृहस्थ और क्या संन्यासी-घोर आलस्यपरायण, स्वार्थपर और प्रमादग्रस्त होकर प्राचीन परिचय देते हुए लज्जित क्यों नहीं होते हैं? विचार करने पर यही सिद्धान्त होगा कि भारतवर्षकी सकलश्रेणीकी हिन्दुप्रजामें अज्ञानका घोर प्रभाव ही इसका प्रधान कारण है। सार्वजनिक शिक्षासे ही यह अभाव दूर हो सकेगा। अतः इस प्रकार जातीय उन्नतिकर शिक्षाके प्रति हिन्दुनेताका ध्यान अवश्य ही रहना चाहिये।

(७) केवल अनुकरणके द्वारा कोई भी समाज या जाति उन्नति नहीं कर सकती; क्योंकि दूसरे किसीका अनुकरण अपनेपनको नष्ट करता है। विजातीय अनुकरण स्वजातीय भावको तिरस्कृत करता है, जिससे स्वजातीय उन्नतिका पथ कण्टकाकीर्ण हो जाता है। पृथ्वीके इतिहासमें अनेक चित्र इस प्रकार देखे गये हैं कि एक जाति अन्य जातिका अनुकरण करती हुई अन्तमें अपनी जातीयता व पृथक अस्तित्वको खो बैठी है और क्रमशः दूसरी जातिमें लय हो गई है। इसलिये विजातीय अनुकरण सर्वथा परित्याज्य है। स्वजातीय उद्भावन ही उन्नतिका सेतु है, विजातीय अनुकरण अवनतिका द्वार स्वरूप है। उद्भावनमें हृदय, मस्तिष्क, प्रतिभा, बुद्धि आदिकी स्फुर्त्ति होती है, अनुकरणमें ये सभी स्फूर्त्तियाँ नष्ट होकर स्वाधीन सन्धान-प्रवृत्ति समूल उन्मूलित होकर क्रमशः चित्तमें परतन्त्रताका भाव उत्पन्न होता है और अन्तमें विजातीय भाव समस्त हृदयको ग्रास कर लेता है। इस प्रकार अनुकरण-परायण हतभाग्य जाति या समाजकी दृष्टिमें कुछ दिनोंके बाद स्वजातीय

या असामाजिक कोई भी भाव या आदर्श उत्तम प्रतीत नहीं होता। यहाँ तक कि स्वकीय पूर्वजों व पिता-माताओंका भी आदर्श उनकी दृष्टिमें निकृष्ट मालूम होने लगता है, वे सब विषयोंमें दूसरोंके शिष्य हो जानेमें ही अपना गौरव समझते हैं। पूर्वजोंके दोष दर्शनमें ही अपनी विद्वत्ता व प्रत्नतत्त्व ज्ञानका परिचय समझते हैं और पिता-माता तथा देशाचार व वंशमर्यादाकी निन्दा करनेमें सदा ही तत्पर दिखाई पड़ते हैं। और इस महापापका फल यह होता है कि कुछ दिनोंके बाद ऐसी जाति या समाज चिरकालके लिये कालसमुद्रमें डूब जाता है। अतः सामाजिक नेताको चाहिये कि वे अपने समाजको सदा ही इस प्रकार विजातीय अनुकरण-प्रवृत्तिसे बचा रक्खें. समाजके हृदयमें उद्भावनके गौरवको परिस्फुट करें जिससे नवीन जातीय-भावमूलक उद्भावनके द्वारा सामाजिक उन्नतिका द्वार उन्मुक्त हो जाय।

कोई जाति जब अन्य किसी जाति पर राजसिक अधिकार स्थापन करती है तो विजित जातिके अन्तःकरणमें जेता जातिके सकल प्रकारकी चेष्टाओंका अनुकरण करना स्वाभाविक हो जाता है, जिससे उपरोक्त परिणाम विजित जाति पर होना भी अवश्यम्भावी हो जाता है। केवल इतना ही नहीं अधिकन्तु इस प्रकारके अनुकरणमें दोषका अनुकरण ही अधिक होजाता है, क्योंकि गुणकी अपेक्षा दोषका अनुकरण सहज है। इसका फल यह होता है कि इस प्रकारकी जातीय सद्भावभ्रष्ट, विजातीय कुभावकदर्य, परतन्त्र जाति कुछ दिनोंमें ही एक "किम्भूतकिमाकार" घृणित रूपको धारण कर लेती है। वसुन्धराके विराट् शरीरमें पूयपूर्ण व्रणकी तरह इस प्रकारकी जातिका अस्तित्व ही पृथिवीमाताके लिये कष्टकर होजाता है। इस दशामें उल्लिखित दुर्दशासे जाति की रक्षाके लिये केवल दो उपाय हो सकते है (क) वस्तुका अनुकरण न करके भावका अनुकरण करना। (ख) विजातिके अन्तर्गत अनुकरणीय विषयोंको इस तरहसे हृदयङ्गम करना कि उससे स्वजातीय मर्म नष्ट न होकर उज्ज्वलतर होजाय। दृष्टान्त द्वारा समझाया जाता है। किसी जेता जातिकी स्वदेशीय शिल्पोन्नतिके प्रति विशेष दृष्टि है; जिससे विदेशीय शिल्पके प्रति उपेक्षा करके भी वह स्वदेशीय शिल्पकीही उन्नतिका प्रयत्न करती है। अब इस विषयमें विजित जातिका अनुकरणीय विषय यह होना चाहिये कि जेताजातिके इस स्वजाति शिल्पप्रियतारूपभावका अनुकरण करें, अर्थात् अपने जातिगत शिल्पकी उन्नतिके लिये न्यायसङ्गत और उचित उपायका अवलम्बन करें, यही भावका

अनुकरण होगा। द्वितीय उपायका दृष्टान्त यह है:—किसी जेता जातिमें पदार्थविद्या या सायन्सकी विशेष उन्नति हुई जिससे विजित जातिमें उसके अनुकरणके प्रति विशेष आसक्ति उत्पन्न हुई, इस दशामें दो भाव हो सकते हैं, यथाः—विदेशी पदार्थ-विद्याका प्रत्यक्ष फल देखकर स्वदेशी सूक्ष्म विज्ञानका गौरव भूला जाय और उसकी निन्दा की जाय; या विदेशी पदार्थ-विद्याका ज्ञान प्राप्त करके स्वदेशी पूर्वजोंके द्वारा प्रदर्शित आचार व अन्यान्य सामाजिक व आध्यात्मिक विषयोंके मूलमें भी सूक्ष्म सायन्सकी गम्भीर भित्ति का अन्वेषण किया जाय और संसारको वताया जाय कि अन्यान्य देशके साय-न्सवालोंने जो कुछ वर्षों से वताया है हमारे पूर्वजोंने वे सव विषय लाखों वर्ष पहले ही वताये हैं। पूर्व भाव अनुकरणका दोष और द्वितीय भाव यथार्थ अनु-करण है। क्योंकि ऐसा होनेसे ही अनुकरणीय विषयोंके द्वारा स्वजातीय मर्या-दाका नाश न होकर उसकी और भी पुष्टि व उज्ज्वलता होगी। विजित जाति यदि उल्लिखित दोनों उपायोंके साथ जेताजातिका अनुकरण करे तो कोरे अनु-करणके कुफलसे बचकर समाज व जातिका कल्याण, पूर्वजोंकी गौरव रक्षा तथा आत्मोन्नति कर सकेगी। अतः सामाजिक नेताको अपने समाजमें इन उपायोंका प्रचार करना चाहिये।

(८) यह वात पहले ही कही गई है कि जिस जातिमें स्वजातीय मनु-ष्योंमें दोषाघ्राण-प्रवृत्ति है उस जातिमें गुणी पुरुष उत्पन्न नहीं हो सकते; क्योंकि गुणदर्शन-प्रवृत्तिकी समवेत शक्तिके द्वारा ही देशमें गुणवान् व विभूति-युक्त नेताओंका आविर्भाव हो सकता है। जिस जातिके प्रत्येक मनुष्यमें परछि-द्रान्वेषण-प्रवृत्ति है, उस जातिके सकल मनुष्योंके ही हृदय दोषदर्शन-प्रवृत्तिके द्वारा कलुषित होजाते हैं और एतादृश कलुषित समाज या जातिमें शुद्ध उदार-हृदय महापुरुष उत्पन्न नही हो सकते। यही कारण है कि पराधीन व हीन जातिमें दोषदर्शन-प्रवृत्ति और स्वाधीन व उन्नतिशील जातिमें गुणदर्शन-प्रवृत्तिके लक्षण देखनेमें आते हैं। भारतकी वर्त्तमान सामाजिक दीन दशामें दोषदर्शन-प्रवृत्तिकी वहुत ही वृद्धि हो रही है। हिन्दुसमाजमेंसे गुणपक्षपातका भाव दिन दिन नष्ट होता है और स्वधर्म व स्वजातिके विद्वेषका वह्नि अत्यन्त प्रवल भावको धारण कर रही है। हम अपने जातिभाई या एकधर्मी भाईकी उन्नति देखकर जल मरते हैं और अत्यन्त ईर्षान्वित होकर यत्न करते हैं कि जातिभाई किसी तरहसे समाजकी दृष्टिमें पतित होजायँ और उनकी उन्नति नष्ट हो जाय। किसी

मनुष्यको या मनुष्यसंघको किसी अच्छे कार्यको करते हुए देखनेसे ही हमारा चित्त ईर्ष्यासे जल जाता है और हम उस महत्कार्यमें बाधा डालनेकी चेष्टा करते हैं, भीतर भीतर विरोध बढ़ानेका प्रयत्न करते हैं और गुप्त या प्रकाश्य-रूपसे उस कार्यकी या उन मनुष्योंकी निन्दा करते रहते हैं। इन सब जातीय महापापोंके कारणसे ही हिन्दुसमाजकी दुर्दशा हो रही है और इसमें न कोई महान् पुरुष उत्पन्न होते हैं और न किसी महत्कार्यमें सिद्धि ही लाभ हुआ करती है। अतः हिन्दुसमाजकी उन्नतिके लिये सामाजिक समस्त मनुष्योंको दोष-दर्शन-प्रवृत्ति छोड़कर गुणके पक्षपाती बनना चाहिये। स्वधर्म-विद्वेष व स्वजाति-विद्वेषके भावको एकदम त्याग कर देना चाहिये और जहाँ पर कुछ भी गुण हो उसीका आदर व उसको उत्साह प्रदान करना चाहिये। संसार त्रिगुणमयी मायाका लीलाक्षेत्र है। इसमें सत्व गुण, रजोगुण व तमोगुण सर्वत्र ही रहते हैं। श्रीभगवान्ने कहा है:—

"सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः"

प्रत्येक कार्य ही धूमावृत अग्निकी तरह दोषावृत होता है। शुद्ध सात्विक, सर्व सद्गुणाधार, दोषलेशवर्जित मनुष्य या कार्य संसारमें नहीं मिल सकता, क्योंकि परिणामशील संसारमें पूर्णता कहीं भी नहीं पाई जाती। जहाँ मायाका कुछ भी सम्पर्क है वहाँ कुछ न कुछ असम्पूर्णता है। अतः हम चाहें कि किसी मनुष्यमें सब गुण ही गुण हों, एक भी दोष न हो। सो कदापि सम्भव नहीं हो सकता। अतः विचारवान् पुरुषको चाहिये कि हंसकी तरह दोषके प्रति उपेक्षा करके जिस मनुष्यमें या जिस कार्यमें जितना गुण हो वह उसीका ग्रहण व योग्य सत्कार करे, कदापि दोषदर्शी न बने। ऐसा करनेसे ही अपनी व जातिकी उन्नति अवश्य होगी। गुणपक्षपातके साथ साथ तिरस्कार व पुरस्कारकी पद्धति भी अवश्य ही समाजमें प्रचलित होनी चाहिये, अर्थात् गुणी पुरुषका यथायोग्य पुरस्कार और गुणहीनका तिरस्कार होना चाहिये। आजकल हिन्दू-समाजमें तिरस्कार तथा पुरस्कारकी प्रथा बहुत ही विगड़ गई है। यहाँपर सदाशय, सर-लचेता, गुणी व्यक्ति प्रायः उपेक्षित होते हैं और कपटाचारी दुर्गुणी ठगोंकी पूजा व आदर हुआ करता है। इसका यही विषमय परिणाम हो रहा है कि गुणी पुरुष समाजमेंसे दिन प्रति दिन घटते जाते हैं और विषकुम्भ पयोमुख कपटाचारी गुणहीन पुरुषोंकी ही संख्या दिन प्रति दिन बढ़ती जाती है और

अन्धे समाजकी दृष्टिमें ऐसे ही मनुष्य नेता व पूज्य गिने जाते हैं। जहाँपर नेतृत्वका भार ऐसे कपटाचारी दुर्गुणी पुरुषोंके हाथमें हो उस समाजमें मनुष्योंकी क्या दुर्गति होगी सो सभी लोग अनुमान कर सकते हैं। किसी महान् पुरुषमें विशेष योग्यता व गुण होनेपर भी समाजकी ओरसे उत्साह, सहायता व सत्कार न मिलनेसे वह गुण या योग्यता प्रकट होने नहीं पाती, अरण्यमें प्रस्फुटित पुष्पकी तरह अरण्यमें ही उसका नाश हो जाता है। अतः हिन्दू-जातिमें प्राचीन गुणगरिमाकी पुनः प्रतिष्ठाके लिये गुणपक्षपातके साथ ही साथ जिससे तिरस्कार पुरस्कारकी भी शुद्ध रीतिका प्रचलन हो, ऐसा उपाय सामाजिक नेताओंको अवश्य करना होगा। जिससे तीर्थोंमें व धर्मस्थानोंमें विद्वान् ब्राह्मणोंका सत्कार बढ़े तथा मूर्ख ब्राह्मणोंकी अप्रतिष्ठा हो, जिससे समाजमें तथा सामाजिक नेताओंके द्वारा विद्वान, शक्तिशाली व सच्चरित्र पुरुषोंकी अधिक सेवा हो सके, जिससे देशी रजवाड़ों, राजा, महाराजा, ज़मीदारों और सेठ साहूकारोंके द्वारा विद्वान् ब्राह्मणोंकी जीविकाकी वृद्धि हो, इसका प्रयत्न सदा ही करना उचित है। गृहस्थाश्रम सव आश्रमोंका मूलरूप है। अतः सदाचारी गृहस्थगण जिससे समाजमें अधिक रूपसे सम्मानित हो सकें, इसका उपाय करना कर्तव्य है। गृहस्थोंके पुरोहित आदि पद जिससे योग्य व्यक्तियोंके हाथमें दिये जायँ, जिससे तपस्वी, भक्तिमान् व सदाचारी ब्राह्मण कर्म्मकाण्डके अधिष्ठाता वनें ऐसा लक्ष्य रखना होगा। जिससे कुलगुरु मूर्ख होनेपर भी उससे दीक्षा ग्रहणकी अन्धपरम्परा-की शैली उठकर ज्ञानवान् त्रितापहारी व्यक्तिसे गुरुदीक्षा लेनेकी शैली समाज-में प्रचलित हो, जिससे ढोंगी, मूर्ख और कपटवेशधारी साधु संन्यासियोंका आदर घटकर तपःस्वाध्याय निरत त्यागशील तत्त्वज्ञानी और निष्काम-कर्म्मयोगी साधु संन्यासियोंका आदर समाजमें वढ़े और जिससे कपटाचारी स्वार्थी व्यक्ति समाजके नेतृत्वपदको प्राप्त न कर सकें इसका प्रयत्न होना चाहिये। ब्रह्मचर्य आश्रमका पुनःप्रवर्त्तन कराते समय यही लक्ष्य रक्खा जाय कि विद्यार्थिगण सदाचारी, संयमी, चरित्रवान्, स्वदेशहितैषी, निःस्वार्थव्रतधारी, कर्त्तव्यपरायण और सद्गृहस्थके उपयोगी वन सकें। जहाँ कुछ भी गुणका लक्षण देखा जाय, सहस्रसहस्र दोषोंको भूलकर वहाँ उसी समय उसको उत्साहित किया जाय। पदार्थविद्या, अध्यात्मविद्या, शिल्पकला आदि किसी विद्यामें किसी प्रतिभासम्पन्न पुरुषके द्वारा कोई भी नवाविष्कार होनेसे तन मन धनके

द्वारा उसमें सहायता की जाय जिससे उसके आविष्कर्त्ताका उत्साह शतगुण वर्द्धित होकर उसे अपने कार्यमें विशेष निष्ठा वा तत्परता प्राप्त हो। इस प्रकारसे मधुकरकी नाईं समाजके प्रत्येक मनुष्यमें गुणग्राहिता-वृत्तिके उदय होनेसे हिन्दु-समाज रूपी कल्पतरु शीघ्र ही अपूर्व उन्नति-फलको उत्पन्न करेगा इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। अतः सामाजिक नेताको उल्लिखित उन्नतिके उपायोंके प्रति अवश्य ही ध्यान रखना चाहिये।

(६) हिन्दू-शास्त्रमें सकल अवस्थामें ही शारीरिक, मानसिक व आत्मिक अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक व आधिभौतिक प्रकृतिके अनुकूल चलनेको ही धर्म व उन्नतिका कारण माना गया है। साधक अपनी त्रिविध प्रकृतिके अनुसार ही साधन करके उन्नतिको लाभ कर सकता है। कर्मयोगी देश कालकी प्रकृतिके अनुसार ही सत्पुरुषार्थके अनुष्ठान द्वारा कर्मयोगमें सिद्धि लाभ कर सकता है। नदीवक्षमें भासमान तरणी प्रवाह व वायुकी प्रकृतिके अनुकूल ही चलकर गन्तव्य स्थानमें पहुँच सकती है। इसी सिद्धान्तके अनुसार प्रत्येक समाजकी उन्नति भी देश काल तथा युगकी प्रकृतिके अनुसार हो सक्ती है। प्रत्येक युगमें जीवोंकी उत्पत्ति युगधर्मानुसार ही हुआ करती है, अतः उन्नतिके लिये युगधर्मका विचार करना प्रशस्त है। भगवान् वेदव्यासजीने इसी युगधर्मका विचार करके ही चार युगोंमें उन्नतिके चार उपाय बताये हैं। यथाः—

त्रेतायां मन्त्रशक्तिश्च ज्ञानशक्तिः कृते युगे।
द्वापरे युद्धशक्तिश्च संघशक्तिः कलौ युगे॥

सत्ययुगमें ज्ञानकी शक्तिके द्वारा, त्रेतामें मन्त्रकी शक्तिके द्वारा, द्वापरमें युद्धकी शक्तिके द्वारा और कलियुगमें एकताकी शक्तिके द्वारा जातिकी उन्नति होती है। अतः श्रीभगवान् वेदव्यासजीके उपदेशानुसार इस युगमें समाज व जातिकी उन्नतिके लिये एकता ही सर्वश्रेष्ठ अवलम्बन है ऐसा निश्चय हुआ। पृथ्वीके इतिहासकी पर्यालोचना करनेसे इस सिद्धान्तकी सत्यता अक्षरशः अनुभव होती है। वर्त्तमान समयमें पृथ्वीभरकी जो जो जातियाँ व्यावहारिक अथवा पारमार्थिक समस्त उन्नतिके सर्वोच्च सोपानपर आरूढ़ हैं उनकी उन्नतिके मूलमें एकताकी शक्ति ही कारणरूपसे निहित है। आज जो हिन्दूसमाज व हिन्दूजाति अवनतिके अन्ध कूपमें डूब रही है इसका भी कारण एकताका ही अभाव है। भारतमाता रत्नप्रसविनी होनेपर

भी हिन्दूसन्तान जो आज दरिद्र हैं; ज्ञानका अनन्त भाण्डार भारतमें भरा रहने पर भी हिन्दूजाति जो आज "वेवकूफोंकी जाति" कहलाती है; अनन्त शिल्पोंका आकर भारतवर्षमें होनेपर भी जीवनयात्रा व लज्जानिवारणके वास्ते आज जो हिन्दूजातिको परमुखापेक्षी होना पड़ता है; अनन्त शक्तिका वीज ऋषिसन्तान आर्यजातिके हृदयमें प्रच्छन्न रहनेपर भी आत्मरक्षाके लिये आज जो आर्य-जातिको परनिर्भरताका आश्रय लेना पड़ता है; वेदान्तका एकात्मवाद सर्वत्र प्रचारित होनेपर भी हिन्दू समाजके प्रतिगृहमें ईर्ष्या, द्वेष या कलहका दावानल धकधका कर जल रहा है, यह सब हिन्दूजाति व समाजमें एकताके अभावका ही विषमय फल-स्वरूप है। अतः हिन्दू सामाजिक नेताको समाजके मनुष्योंमें परस्पर ऐक्यस्थापन करनेके लिये सदा ही उद्युक्त होकर उदार व दूरदर्शितापूर्ण उपायोंका अवलम्बन करना चाहिये। मतभिन्नता, रुचि-वैचित्र्य व व्यक्तिगत स्वार्थ ही सामाजिक एकताकी सिद्धिमें प्रधान अन्तराय हैं। हिन्दूजातिमें जातीय जीवन आजकल नष्टप्राय होनेसे व्यष्टिगत मतभिन्नता व रुचिवैचित्र्यके द्वारा समाजकी वहुत हानि हो रही है। सभी नेतृत्व पदाभिलाषी व्यक्ति चाहते हैं कि मेरी ही सम्मति मानी जाय, मेरी रुचिके अनुसार ही कार्य हो और यदि मेरी सम्मति व रुचि उपेक्षित हो तो समाजकी उन्नति नहीं होनी चाहिये और ऐसा समाज टूट जाना चाहिये और हम सारा पुरुषार्थ इसके तोड़नेके वास्ते ही लगावेंगे। इस प्रकारका भाव प्रायः सभीके हृदयमें विद्यमान है और इसीलिये सामाजिक उन्नतिकर प्रत्येक कार्यमें हजारों लड़ाई झगड़े व विपत्तियाँ झेलनी पड़ती हैं जिससे उन्नतिका पथ अति दुर्गम हो जाता है। समाज किसीकी व्यक्तिगत रुचि या रायका परि-णाम नहीं है। परन्तु समष्टिगत रुचि व रायका ही फलरूप है। इसलिये हमारी राय मानी जाय तव समाज रहे अन्यथा टूटे और हम ऐसे समाजको तोड़ देंगे यह प्रकार सर्वथा न्याय व विचारसे विरुद्ध है। सामाजिक समस्त कार्यों में ही अपनी रुचि व सम्मतिको सबकी रुचि व सम्मतिके साथ मिला देना होगा। अपनी रुचि व सम्मतिमें कुछ व्यक्तिगत पक्षपात रहे तो उसे भी समष्टिभावमें विलीन कर देना होगा और सबकी कल्याणकामनासे पाक्षिक भावको छोड़ देना होगा तभी उन्नतिकर समस्त सामाजिक कार्यमें एकता प्राप्त हो सकेगी। अन्यथा विरोध व चित्तका पारस्परिक विकार बढ़ कर समाजको नष्ट कर देगा। सामाजिक समस्त पुरुषोंको ही व्यष्टिजीवन व समष्टिजीवनका पार्थ-

क्य हृदयङ्गम करना चाहिये और समष्टिजीवन यज्ञमें व्यष्टिजीवनकी आहुति प्रदानके अर्थ सदैव सन्नद्ध रहना चाहिये। सामाजिक एकताका तीसरा अन्तराय व्यक्तिगत स्वार्थ है। इस प्रकार स्वार्थके द्वारा दो तरहसे समाजकी हानि होती है। एक—समाजके द्वारा व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि करना और दूसरा—व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धिके लिये सार्वजनिक स्वार्थमें उदासीन रहना या उसकी हानि करना। आजकल समाजके द्वारा व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धिपरायण मनुष्योंकी कमी हिन्दूसमाजमे नही है। इस प्रकार नीचाशय मनुष्य किसी न किसी स्वार्थसे समाजमें सम्मिलित होते हैं या हो सके तो समाजके नेता वनते हैं और समाजका गला घोटकर अपनी स्वार्थसिद्धि करनेके लिये भीतर भीतर सदा ही प्रयास करते रहते हैं। ऐसे मनुष्यके हृदयमें समाजकी कल्याण-चिन्ता न रहकर केवल अपनी स्वार्थ सिद्धिकी चिन्ता ही रहनेसे वे सभी सामाजिक कार्य्योंको व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धिकी ओर खीचनेका प्रयत्न करते हैं और सामाजिक उन्नतिके लिये अत्यावश्यकीय होनेपर भी ऐसा कोई भी कार्य समाजमें नहीं होने देते जिससे उनकी स्वार्थ सिद्धि न हो या उसमें वाधा हो। जिसका यह फल होता है कि समाजके लोगोंमे कुछ दिनोंके वाद ही भीषण मनोमालिन्य व मतभेद उत्पन्न होकर समाज एकदम रसातलको पहुँच जाता है। अतः इस प्रकार एकता-भ्रष्टकारी नीच मनुष्योंसे समाजको सदा ही वचना चाहिये। दूसरा—व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धिके लिये सार्वजनिक कल्याणकर कार्यमें उदासीन रहना या उसकी हानि करना है। समाज जव सार्वजनिक स्वार्थका ही साधक है तो विना व्यक्तिगत स्वार्थका सङ्कोच किये कोई भी समाज कार्यकारी नही हो सकता। सवके कल्याणके लिये अपने स्वार्थका अवश्य ही सङ्कोच करना पड़ता है, क्योंकि व्यक्तिगत स्वार्थके साथ एक व्यक्ति या एक परिवारका और सामाजिक स्वार्थके साथ अनेक व्यक्ति या अनेक परिवारोंका मिश्रसम्वन्ध होनेसे अनेक समय व्यक्तिगत स्वार्थ व सामाजिक स्वार्थका सामञ्जस्य नहीं रहता। उस दशामें बृहत् सार्वजनिक स्वार्थकी सिद्धिके लिये व्यक्तिगत स्वार्थके त्याग देनेसे ही समाजमें एकता व उन्नति हो-सकती है। अन्यथा जो मनुष्य उस समय व्यक्तिगत स्वार्थके लिये सामाजिक स्वार्थको तुच्छ करते हैं या उदासीनता अवलम्वन करते हैं उनके द्वारा न कोई सामाजिक कार्य हो सकता है और न समाजमें एकताकी प्राप्ति हो सकती है। आजकल हिन्दूसमाजमें इस प्रकार स्वार्थी मनुष्योंका अभाव

नहीं है और यही कारण है कि इतना प्रयत्न होनेपर भी हिन्दूसमाजकी उन्नति यथोचित नहीं देखनेमें आती। अतः सामाजिक नेताओंका कर्त्तव्य है कि समाजमेंसे एकताके अन्तरायस्वरूप इन सब कण्टकोंका उद्धार करें।

(१०) सफलताका बीजमंत्र नियम है। उन्नतिशील नियम ही धर्म है और धर्मके द्वारा सफलताका लाभ हुआ करता है। स्वाभाविक अनियमित उद्दाम प्रवृत्तिको जो शक्ति नियमित करे उसीका नाम धर्म है। इसलिये नियम-हीन अनर्गल कार्य अधर्म कार्य कहलाता है। अनुशासनके द्वारा ही नियमकी रक्षा हुआ करती है। यह प्राकृतिक अनुशासनका ही कारण है कि सूर्यदेवके उदयास्तसे नियमितरूपसे दिन और रातका समागम होता है। यह दैवानु-शासनका ही कारण है कि जीवोंकी आवश्यकताके अनुसार पवनदेव वायुका संचार करते हैं, वरुणदेव नियमित समयपर जल वरसाते हैं और षड्ऋतु अपने अपने समयपर प्रकट होकर जीवोंकी पुष्टि तथा आनन्दवर्द्धन करते हैं। यह प्रकृतिमाताके अनुशासनका ही कारण है कि वृक्ष, लता, गुल्म, औषधि आदि नियमित समयपर मनोमुग्धकर पुष्पोंसे सुसज्जित होते हुए नियमित समयपर ही जीवोंको फल दान किया करते हैं। यह राजानुशासनका ही फल है कि प्रजा शान्तिसुखका उपभोग करती हुई संसारयात्रामें अग्रसर होती है। यह वेदानुशासन और योगानुशासनका ही फल है कि धार्म्मिकगण साधनमार्ग द्वारा क्रमशः उन्नति करते हुए अन्तमें दुर्लभ मुक्तिपदको प्राप्त कर लेते हैं। और यह एकमात्र अनुशासनका ही फल है कि प्रजा राजाके और राजा प्रजाके हितचिन्तनद्वारा मनुष्य-समाजका कल्याण साधन किया करते हैं। अतः मनुष्योंकी क्रमोन्नतिके अर्थ, अनुशासन (organisation) की अत्यन्त आवश्यकता है। समाज जब एक जातीय व समोद्देश्यपूर्ण मनुष्यसंघका ही विशेष नाम है तो समाजोन्नतिके मूलमें भी सामाजिक अनुशासनकी अत्यावश्यकता है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं हो सकता। हिन्दू सामाजिक नेताका परम कर्तव्य है कि वे अपने समाजको उन्नतिके लिये सामाजिक अनुशासन (Social organisation) की सुकौशलपूर्ण तथा देशकालानुकूल व्यवस्था अवश्य करें। इस समय भारतवर्षके सम्राट् अन्य धर्मावलम्वी होनेके कारण, सामाजिक विषयोंमें राज-दण्डकी पूरी सहायता हिन्दूजातिको नहीं मिल सकती, परन्तु समाजदण्डका पुनः प्रवर्तन करना हिन्दूसमाजके ही हाथमें है, जो इस समय सामाजिक अनुशासनके द्वारा लब्ध हो सकता है। सामाजिक अनुशासनकी पुनः प्रतिष्ठाद्वारा राज-

दण्ड व समाजदण्ड दोनोंका काम निकल सकता है और साथ साथ वेदानुशासन और अचार्यानुशासनके प्रचारमें भी सहायता पहुँच सकती है। समाजानुशासनकी उन्नतिके विना आर्यजातिकी वर्तमान घोर दुःखदायिनी पीड़ाका नाश कदापि नहीं हो सकता। परन्तु प्राचीन कालमें जिस प्रकार सामाजिक अनुशासनकी रीति थी उस रीतिमें अब कुछ परिवर्तन करना पड़ेगा। देश, काल और पात्रके परिवर्तनसे रुचि और अधिकारका परिवर्तन हुआ करता है। अतः प्राचीन कालमें ग्राम और नगरोंमें समाजपतिको जो अधिकार देनेकी रीति थी, उस समय स्वतन्त्र स्वतन्त्र जातिके लिये जो स्वतन्त्र स्वतन्त्र पंचायत स्थापन करनेकी विधि थी, उस समय वंशपरम्परासे जो कुछ अधिकार दिया जाता था, तथा एक ग्राम अथवा नगरके साथ दूसरे ग्राम अथवा नगरका इस विषयमें कोई विशेष सम्वन्ध नही रक्खा जाता था, एक देश वा नगरकी पञ्चायतसे दूसरे देश अथवा नगरकी पञ्चायतके साथ कोई सम्वन्ध स्थापन करनेकी रीति नही थी, उन सब रीतियोंमे इस समयके उपयोगी कुछ कुछ परिवर्त्तन करनेकी आवश्यकता होगी। इस समयके देशकालपात्रानुरूप नियम वनाकर सामाजिक अनुशासन स्थापित करना पड़ेगा। पञ्चायती शक्ति अर्थात् संघशक्तिकी जो प्रथा वहुत कालसे इस देशमें प्रचलित थी, इस समय उसको संस्कृत करके उन्नत करना होगा। इस समय सामाजिक अनुशासनकी वहुत कुछ प्रशंसनीय रीति यूरोप और अमेरिकाके मनुष्य समाजमें देखनेमें आती है। वहाँ अन्य उपधर्म तथा अनार्य रीतियोंके प्रचलित होनेके कारण वहाँके मनुष्य समाजमे वहुत प्रकारकी सामाजिक शिथिलता है, परन्तु सामाजिक शक्ति उत्पन्न करनेकी जो कुछ रीतियाँ यूरोप और अमेरिकामे प्रकट हुई हैं वे सब वहुत ही दृढ़ नियमयुक्त और प्रशंसनीय है। वहांके मनुष्योंमें वहुधा सामाजिक अनुशासन इतना दृढ़ और शक्तिशाली है कि वे उसके द्वारा राजाके विना भी अपने देशका सम्पूर्ण राजलिक प्रवन्ध चालित करनेकी प्रथा किसी विशेष देशमें चला रहे हैं। फ्रान्स और यूनाईटेड् स्टेट्सका प्रजातन्त्र राजनियम (Republican form of Governmant) उसी सामाजिक अनुशासन शक्तिका असाधारण फल है। इसमें सन्देह नहीं कि आर्यप्रजाके सनातनधर्म सम्वन्धी पवित्र विचारोंके अनुसार राजाको न रख करके प्रजातन्त्र राज्य स्थापन करना सर्वथा निन्दनीय और विज्ञान विरुद्ध समझा जायगा। इस प्रकारके प्रजातन्त्रानुशासनका क्या विषमय परिणाम होना स्वभावसिद्ध व अवश्यम्भावी है सो

स्वतन्त्र अध्यायमें वर्णित किया जा चुका है। अतः उक्त सिद्धान्तानुसार यूरोप व अमेरिकाके उक्त राजनैतिक सिद्धान्तोंमें यद्यपि अनेक असम्पूर्णताएँ हैं तथापि उनके राजनैतिक कौशलपर विचार करनेसे अवश्य सिद्धान्त होगा कि वहाँके मनुष्योंमें सामाजिक शक्ति उत्पन्न करनेकी प्रशंसनीय रीतियाँ प्रचलित हैं। वहाँकी सामाजिक, राजनैतिक तथा नाना विद्या-सम्बन्धी सभाओंकी गठनप्रणालीपर विचार करके इस समयके आर्यगण अपनी जातिमें सामाजिक शक्ति उत्पन्न करनेमें निःसन्देह बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं। उन देशोंमें सामाजिक शक्ति उत्पन्न करके वहाँके मनुष्यगण चाहे राजनैतिक और व्यापार सम्बन्धी और ही प्रकारका लाभ उठाते हों, परन्तु इस विषयमें उन्होंने इतनी उन्नति की है कि आजकलकी आर्यप्रजा उनकी प्रवन्धशैलीकी सहायतासे, अपनी धर्मोन्नतिके अर्थ, सामाजिक अनुशासनकी विधिमें लाभ उठा सकती है। उदाहरण स्थलपर समझ सकते हैं कि ब्रिटिश द्वीपके अधिवासियोंने सब राज्यभरमें व्यापार और धनकी वृद्धिके लिये "कोआपरेटिव यूनियन" (Co-operative union) नामसे जो सामाजिक शक्ति उत्पन्न की है उसकी सफलतापर विचार करनेसे हिन्दुमात्र ही चकित होंगे। इस महासभाके द्वारा ब्रिटिशजातिने थोड़े ही कालमें इतनी बड़ी लौकिक शक्ति प्राप्त की है कि जिसके सुप्रबन्धसे उस राज्यभरमे सहस्रों शाखासभाएँ स्थापित हो गई हैं और ऐसा ग्राम अथवा नगर नहीं है कि जहाँ धन और व्यापारकी वृद्धिके लिये उनका स्वतन्त्र केन्द्र स्थापित न हो गया हो। समाजके प्रधान प्रधान नेतागण इस महासभाके सभ्य हैं और जातिके धन समागम और व्यापारकी नियमबद्ध उन्नतिके अर्थ जैसा चाहे वैसा ही कार्य यह महासभा कर रही है। व्यापार सम्बन्धमें राजगणको भी इस महासभाका परामर्श स्वीकार करना पड़ता है, तथा व्यापारसम्बन्धी शिक्षा लोकसमाजमें प्रचलित करनेके लिये यह महासभा प्रधान सहायक है। इसी प्रकारसे ब्रिटिश जातिकी राजनैतिक महासभाके सभ्यगणके चुनावकी शैली, उस राज्यकी वैज्ञानिक महासभा और उसकी शाखाओंकी गठनप्रणाली तथा वहाँके विश्वविद्यालय आदि विद्याप्रचारसम्बन्धी सभाओंकी प्रशंसनीय प्रवन्धप्रणालीपर जितना लक्ष्य डाला जाता है उतनी ही उस जातिकी सामाजिकशक्ति उत्पन्न करनेकी असाधारण योग्यता जानी जाती है। हिन्दूजाति तथा हिन्दू सामाजिक नेताको इस समय अपने समाजमें सामाजिकशक्ति उत्पन्न करके धर्मके अभ्युदय,

समाजकी उन्नति और विद्याके प्रचारके अर्थ अवश्य ही पश्चिमीय जातियोंकी सामाजिकशक्ति उत्पन्न करनेकी प्रशंसनीय रीतियोंमेंसे बहुतसे उपयोगी नियमोंकी सहायता लेना कर्त्तव्य है। प्रजा राजाका अनुकरण स्वभावतः ही करती है। इसलिये वर्त्तमान समयमें हिन्दूजातिके ऊपर पश्चिमीय अधिकारके जितने कारण हैं उनमेंसे उपरोक्त सामाजिक अनुशासनशैलीका शिक्षाप्रदान भी एक दैवी कारण है ऐसा स्वीकार किया जा सकता है। अर्थात् हिन्दूप्रजामें सामाजिक एकता व अनुशासनशक्तिका अभाव हो जानेसे अनुकरण द्वारा उसीकी शिक्षाप्रदानके अर्थ ही भगवदिच्छासे हिन्दू जातिपर पश्चिमीय प्रभुता स्थापित हुई है ऐसा विचार करना अयौक्तिक नहीं होगा। अतः हिन्दूसामाजिक नेताको इस दैवीकारणपर विचार रखकर अपने समाजमें अनुशासन प्रथाका देशकालपात्रानुसार प्रचलन करना चाहिये। हाँ, इसमें सन्देह नही कि जो कुछ सहायता पश्चिमीय जातियोंसे अनुशासनके विषयमें ली जाय सो अपने धर्म तथा आचारके विरुद्ध फल उत्पन्न न कर सके, किन्तु केवल सामाजिक अनुशासनके बाँधनेमें ही सहायक हो, ऐसी रीतियोंको ही ग्रहण करना सर्वथा कर्त्तव्य होगा।

हिन्दुजातिमें सामाजिक अनुशासनकी धर्मयुक्त प्रणाली प्रचलित करनेके अर्थ तथा उसके द्वारा भारतवर्षव्यापिनी एक सामाजिकशक्ति उत्पन्न करनेके लिये विशेष विचार, धैर्य व दूरदर्शिताके साथ सामाजिक नेताको ऐसी एक विराट् सभा स्थापित करनी होगी जिसके द्वारा धर्मोन्नति, समाज संस्कार तथा विद्या प्रचारके सम्बन्धमें सभी प्रकारके पुरुषार्थ हो सके। भारतवर्षके सकल प्रान्तोंमें इस विराट् सभाके प्रान्तीय केन्द्रसमूह तथा तदन्तर्गत शाखा सभासमूहके स्थापन द्वारा नियमबद्ध प्रबन्धप्रणालीका विस्तार करना चाहिये और जिससे स्थानीय तथा प्रान्तीय धर्माचार्य, नरपतिगण व गण्य मान्य व्यक्ति इन सब केन्द्रोंके पृष्ठपोषक व सहायक हों ऐसा पुरुषार्थ करना चाहिये। इस प्रकारसे सारे भारतवर्षमें विराट् सभाके अधीन होकर एक सूत्रमें बद्ध दश या द्वादश प्रान्तीय केन्द्र तथा उनके अधीन सहस्रों धर्मसभाएँ यदि एकमत होकर धर्मपुरुषार्थमें प्रवृत्त हों तो थोड़े ही कालमें हिन्दू जातिमें सामाजिक धर्मशक्तिका आविर्भाव होना निश्चित है। विराट् सभा तथा प्रान्तीय केन्द्रसमूह लोकसंग्रह व धनसंग्रह द्वारा अपनी शक्तिकी वृद्धि करके शाखा सभाओंको सम्हाल रक्खें और शाखासभाएँ साक्षात्रूपसे वर्ण व आश्रमधर्मकी उन्नति

करती हुई ज्ञानविस्तारकी सहायतासे अपनी सभाओंके अधिकारोंको दृढ़ करके जाति एवं देशकी उन्नतिमें यत्नवान् हों, योग्य पुरुषोंको पुरस्कृत और धर्म-विरुद्ध निरङ्कुश व्यक्तियोंको तिरस्कृत करके समाजकी दृढ़ता सम्पादन करें तथा साथही साथ धर्मके रहस्योंका प्रकाश करके प्रजाको धार्मिक बनावें। अयोग्य पुरुषोंके तिरस्कार और शासन करनेकी रीति प्रचलित करनेमें अपेक्षाकृत कुछ कठिनता पड़ेगी; परन्तु इस जातीय विराट् धर्मसभाकी गठनप्रणालीकी उत्तमता होनेपर वह कार्य भी सुगमतापूर्वक चल सकेगा। असम्मानका विचार, लोकसमाजका भय और जीवनके सुखोंमें असुविधा आदि ही दण्डमें हुआ करता है। यदि विराट् सभाकी प्रबन्धशैली दृढ़ हो तो अयोग्य पुरुषोंको अपनी रीतिपर शाखासभाएँ सामाजिकरूपसे दण्डित अवश्य ही कर सकती हैं। यदि नगर अथवा ग्राममें इस महासभाके उद्देश्य और आर्यजातिके इस समयके कर्त्तव्य सम्बन्धी सब बातें आर्यप्रजाको समझा दी जाँय तो उस नगर वा ग्रामकी पञ्चायतीशक्ति पूर्वकालके अनुसार दृढ़ होकर अयोग्य पुरुषोंका तिरस्कार स्वयं ही कर सकती हैं। प्राचीन पञ्चायत मण्डलीका कार्य आधुनिक शाखासभाएँ अपने ऊपर ले लेवें और वहाँके सामाजिक नेताओंकी सहायतासे अपनी शक्तिको काममें लावें। इस प्रकारसे अनुशासन कार्यको सम्हालनेका भार लेकर शाखासभाएँ इस विषयमें धर्मानुरूप कार्य करती हैं या नहीं, इसकी देख भाल और सुधारका भार प्रान्तीय केन्द्रोंके धर्माचार्य तथा नरपतियोंपर निर्भर रहना उचित होगा। इस प्रकारसे सुकौशलपूर्ण यत्न द्वारा इस विराट् धर्मसभाकी सहायतासे हिन्दूप्रजाकी सकल प्रकारकी उन्नति हो सकेगी। अतः सामाजिक नेताको बहुत ही पुरुषार्थ व दूरदर्शिताके साथ इस प्रकार विराट् सभाकी प्रतिष्ठा करनी चाहिये और जैसा जैसा देश काल व पात्र अग्रसर हो वैसा ही इस महासभाके नियमोंको भी अग्रसर करना युक्तियुक्त होगा।

जबतक शूद्र और वैश्यगण दीर्घसूत्रता और आलस्य-त्यागपूर्वक यथा-सम्भव कर्मयोगका साधन करते हुए देशके शिल्प और वाणिज्यकी उन्नतिमें तत्पर नहीं होंगे तबतक आर्यजातिकी आधिभौतिक उन्नति होना असम्भव है। जबतक क्षत्रिय और ब्राह्मणगण लोभ और प्रमादको छोड़कर श्रीगीताजीमें कथित निष्कामव्रतका अभ्यास करनेमें तत्पर नहीं होंगे तबतक इस जातिकी आध्यात्मिक उन्नति होनेकी कोई भी सम्भावना नहीं है। ब्रह्मचर्य आश्रमकी पुनः प्रतिष्ठा करके निष्कामव्रतपरायण मनुष्य उत्पन्न करने पड़ेंगे, प्रत्येक गृह-

स्थको यथासम्भव निष्काम कर्मकी प्रतिज्ञा करके गृहस्थाश्रममें प्रवृत्त होना पड़ेगा, कर्मयोगी वानप्रस्थ आश्रमधारी पुरुषगण जब दिन और रात लोकहितमें प्रवृत्त होंगे और संन्यास आश्रमका एकमात्र-अवलम्बन जब श्रीगीतोपनिषद् का विज्ञान हो जायगा उसी समय इस सामाजिक घोर रोगकी शान्ति होगी। सामाजिक अनुशासनाभावरूपी क्षयरोगके साथ स्वार्थपरतारूपी वीर्यभङ्गरोगकी उत्पत्तिसे आर्यजातिकी दशा अब बहुत ही कठिन और शोचनीय हो गई है। फलतः प्रबल पुरुषार्थके अवलम्बनसे जैसा जैसा सामाजिकशक्ति—सञ्चाररूपी औषधिका प्रयोग और निष्कामव्रत—अभ्यासरूपी अनुष्ठानका साधन होता जायगा वैसे ही उक्त घोर रोगकी शान्ति हो सकेगी। आर्यजातिरूपी शरीरमें सामाजिक अनुशासनकी प्रतिष्ठा द्वारा लुप्तप्राय क्षात्रतेजकी क्रमोन्नति होगी और श्रीगीताजीमें कथित कर्मयोगके साधन द्वारा आध्यात्मिक उन्नतिकारी ब्रह्मतेजका आविर्भाव होगा। अपने ज्येष्ठ सन्तानोंकी पुनरुन्नति देखकर ऋषि, देवता और पितृगण प्रसन्नचित्त होकर आशीर्वाद करेंगे और आर्यजाति तब ही जगत् कल्याणकारिणी होकर परम शान्ति व उन्नतिकी अधिकारिणी होगी।

उपसंहारमें वक्तव्य यह है कि इस प्रकारके योग्य नेताके प्रति श्रद्धा व भक्ति करना प्रत्येक सामाजिक मनुष्यका परम कर्त्तव्य है। जिस प्रकार सेनापतिके प्रति भक्ति व उनकी आज्ञापालनके विना न युद्धमें जयलाभ होसकता है और न शत्रुओंसे राज्यकी रक्षा ही हो सकती है ठीक उसी प्रकार सामाजिक नेताके प्रति श्रद्धा, भक्ति व उनकी आज्ञा पालनके विना न समाजकी उन्नति हो सकती है और न विरुद्धशक्तियोंके आक्रमणसे सामाजकी रक्षा हो सकती है। अतः समाज व नेतामें कर्त्तव्यसूत्रके द्वारा परस्पर श्रद्धा भक्ति व प्रीतिका सम्बन्ध स्थापित होना चाहिये। जब नेता अपने नेतृत्वके कर्त्तव्य व जिम्मेवरीको हृदयङ्गम करेंगे और जब समाजान्तर्गत मनुष्यगण नेताके प्रति योग्यतानुसार सम्मान व श्रद्धाप्रदर्शन करना तथा वशम्वद होना सीखेंगे तभी हिन्दुसमाजका उपर्युक्त यथार्थ कल्याण साधन होगा इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।



राजा और प्रजा ।

यह संसार शक्तिका ही विकाशरूप है। सच्चिदानन्दमय ब्रह्म और ब्रह्म-शक्तिरूपिणी महामाया दोनोंमें अभेद होने पर भी ब्रह्म तो केवल इस प्रपञ्चात्मक संसारके साक्षीरूप हैं; और स्थूल एवम् सूक्ष्म दृश्यरूपी यह जगत् शक्तिका ही विकाश है। जिस प्रकार एक अतिक्षुद्र वटबीजमें महान् वटवृक्ष शक्तिरूपसे निहित रहता है, पुनः पृथिवीकी कालान्तरमे सहायतासे उसी छोटेसे वट-बीजसे अतिवृहत् वटवृक्ष प्रकट हो जाता है; ठीक उसी तौर पर सृष्टिके पूर्ववर्त्ती समष्टिसंस्कार रूपी सृष्टिबीजसे कालान्तरमें जड़चेतनात्मक मनुष्य आदि मृत्युलोक और देवपितर आदि देवलोकात्मक यह स्थूल सूक्ष्म संसार प्रकट हुआ करता है। अन्ततः यह संसार शक्तिका ही विकाश मात्र है।

स्थूलदृष्टिसे जगत्प्रसविनी अचिन्तनीय महाशक्तिकी तीन दशाएँ अनुभव करनेमें आती हैं। एक आकर्षण और विकर्षण शक्तिकी समताकी दशा, दूसरी केवल आकर्षणकी ही दशा और तीसरी केवल विकर्षणकी दशा। इन तीनों दशाओंको उदाहरणकी सहायतासे समझानेका यत्न किया जाता है। अनन्त ग्रह उपग्रहसे पूर्ण इस सौरजगत्के सूर्य्य, ग्रह और उपग्रह सबमें ही स्वतन्त्र स्वतन्त्ररूपसे आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्ति विद्यमान् है। आकर्षण शक्ति दूसरे ग्रह उपग्रहको अपनी ओर खैंचती है और विकर्षण शक्ति दूसरोंको अपनी ओरसे दूसरी ओर फेंकनेके लिये धक्का देती है। अपने अपने अधिकारके अनुसार सूर्य्य, ग्रह और उपग्रह तीनोंमें ही ये दोनों शक्तियाँ नियमित रूपसे कार्य्य कर रही हैं। जबतक आकर्षण शक्ति और विकर्षण शक्ति समानरूपसे कार्य करती रहेगी तबतक सूर्य्यदेव, ग्रहगण और उपग्रहगण अपने अपने आवर्त्तमार्गमें यथानियम घूमते रहेगे, न एक दूसरेसे टकरावेंगे और न अपने अपने आवर्त्तमार्गसे बाहर जा सकेंगे। इसी दशामें उन्ही दोनों आकर्षण और विकर्षण शक्तियोंकी समतासे सौर जगत्की स्थिति बनी रहेगी और प्रलय नहीं होने पावेगा। दूसरी दशा केवल आकर्षणकी है और तीसरी दशा केवल विकर्षणकी है। जब ये शक्तिकी पिछली दोनों दशाएँ प्रकट होने लगती हैं, तो केवल आकर्षणकी दशाके अन्तमें उपग्रह ग्रहके साथ और सब ग्रह सूर्य्यके साथ टकराकर नष्ट होकर सौरजगत्का प्रलय कर डालते हैं। इसी तरह केवल विकर्षणकी दशामें ग्रह और उपग्रहगण अपने अपने आवर्त्तपथको

छोड़कर बाहर निकल जाते है और क्रमशः अनियमके कारण या तो आपसमे टकराकर और नहीं तो दूसरे सौरजगत्के अधिकारमें घुसकर प्रलयका कारण बनते है। सौरजगत्के दृष्टान्त पर मनुष्य समाजमे इन दोनों शक्तियोंका विकाश और इन दोनों शक्तियोंका कार्य्यक्रम उदाहरण द्वारा अब समझने योग्य है।

गुरु, माता, पिता आदि गुरुजनोंमे श्रद्धाके द्वारा, स्त्री, पति, मित्र आदिमें प्रेमके द्वारा, पुत्र, कन्या, शिष्य आदिमें स्नेह और कृपाके द्वारा आकर्षण शक्तिका विकाश स्पष्ट ही प्रकट होता है। और शत्रु आदिमें विकर्षण शक्तिका विकाश मनोवृत्ति द्वारा स्पष्ट रूपसे प्रतीयमान होता है। परन्तु मनुष्य समाजकी समता, मनुष्य समाजमें शान्ति और मनुष्य समाजकी धर्म्मोन्नति तभी हो सकती है जब इन-दोनों विरुद्ध शक्तियोंकी समता मनुष्य समाजमें बनी रहे। यदि आकर्षण और विकर्षण शक्तियोंकी समता बनी न रहती तो मनुष्य समाजमें माता, स्त्री और कन्याका भेद कभी नहीं बना रह सकता था। यदि आकर्षण और विकर्षण इन दोनों शक्तियोंकी यथार्थ समता मनुष्य समाजमें विद्यमान नहीं रहती तो शिष्यमें गुरुभक्ति और गुरु-सुश्रूषाके लक्षण, गुरुमें शिष्यपर कृपा करनेकी प्रवृत्ति, पुत्रमें मातापितापर श्रद्धाके सदाचार, मातापितामें पुत्र कन्याओंपर निःस्वार्थ स्नेहका व्यवहार, अपराधीपर राजाके न्यायका वर्त्ताव और शत्रुके साथ नीतिका व्यवहार कदापि इस संसारमें दिखाई नहीं देता। अतः पूर्व कथित विचारसे यह सिद्ध हुआ कि आकर्षण शक्ति और विकर्षण शक्ति दोनोंकी अलग अलग क्रिया इस संसारके स्थूलसे स्थूल राज्यसे लेकर सूक्ष्मसे सूक्ष्म राज्य तक समानरूपसे विद्यमान है और जहां इन दोनोंकी समता है वहीं जगत्रक्षाका कारण विद्यमान है। और जब कभी इन दोनों शक्तियोंकी समता नष्ट हो जाती है और इन दोनों शक्तियोंमेंसे कोई एक शक्ति अधिक प्रबल हो जाती है तब ही प्रलय होने लगता है। यदि दोनों शक्तियोंकी समता नष्ट होकर सौर जगत्में कोई एक शक्ति अपनी प्रधानताको लेकर कार्य्य करने लगती है तो उस सौर जगत्का क्रमशः प्रलय हो जाता है। यदि दोनों शक्तियोंकी समता नष्ट होकर किसी गृहस्थके स्त्री पुरुषोंमें कोई एक शक्ति प्रबल होकर कार्य्य करने लगती है तो उस गृहस्थके स्त्री पुरुषोंमेंसे धर्म्माधर्म-विचार नष्ट हो जाता है और उस गृहस्थके स्त्री-पुरुष उच्छृङ्खल होकर कदा-चारी और अनार्य हो जाते हैं। और यदि दोनों शक्तियोंकी समता नष्ट होकर किसी मनुष्य समाज अथवा किसी राजाके राज्यमें कोई एक शक्ति प्रबल हो

कर कार्य्य करने लगती है तो वह मनुष्य समाज अथवा वह राज्य नष्ट भ्रष्ट हो जाता है। राजधर्म्म और प्रजाधर्म्म दोनोंमें ही इन दोनों शक्तियोंकी समता समानरूपसे विद्यमान रहनी चाहिये नहीं तो राजा और प्रजा दोनों ही धर्महीन होकर नष्ट हो जायँगे।

सनातन धर्म्मका सर्वजीव हितकर सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् स्वरूप जो पूज्यपाद महर्षियोंने प्रकट किया है उस पर विचार करनेसे यही सिद्धान्त निश्चय होगा कि उक्त आकर्षण शक्ति और विकर्षण शक्ति दोनोंकी समता रखना ही धर्म्म है। विषमता होते ही अधर्म्म वन जाता है। धर्म्मके लक्षण वर्णनकारी दो महर्षियोंके दो मत नीचे लिखे जाते हैं। यथाः—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्म्मः ।

इति महर्षिकणादः ।

धारणाद्धर्म्मः । अभ्युदयकरः सत्त्वप्राधान्यात् ।
कर्म्मावसाने निःश्रेयसकरः शक्तिमत्वात् ।

इति महर्षिभरद्वाजः ।

इन वचनोंका तात्पर्य्य यह है कि धर्म्मसे ही मनुष्योंकी क्रमोन्नति और उनको मुक्तिकी प्राप्ति होती है। धर्म्मने ही सब ब्रह्माण्डको धारण कर रक्खा है। धर्म्म सत्वगुण वर्द्धक है इसलिये उसके द्वारा मनुष्यकी क्रमोन्नति होती है और धर्ममें भगवान्‌की पूर्णशक्ति विद्यमान् है इस कारण धर्मके द्वारा मनुष्यकी मुक्ति हुआ करती है। मनुष्य अपने पिण्डरूपी शरीरका राजा है। वह चाहे जिस तरहसे अपने शरीरपर आधिपत्य करे, कर सकता है। उदाहरणसे समझने योग्य है कि वह चाहे तो जिह्वास्वाद ग्रहणकी उच्छृङ्खलता करके जो चाहे सो खा सकता है और चाहे उसका संयम करके धर्म्म और स्वास्थ्य प्राप्त कर सकता है। मनुष्य अखाद्य भोजन द्वारा अधर्म्म और अस्वास्थ्यकर पदार्थके भोजन द्वारा पीड़ाको जब चाहे तब प्राप्त कर सकता है। दूसरा उदाहरण भी सोच सकते हैं कि मनुष्य उपस्थ इन्द्रियकी यथेच्छ सेवा द्वारा गम्यागम्य-विचार रहित-होकर घोर नारकी बन सकता है अथवा शास्त्र-विहित स्त्रीसङ्ग द्वारा धर्म्मोपार्जन कर सकता है। जब उसमें इन्द्रियोंकी ओर पूर्णरीत्या आकर्षण शक्ति विद्यमान है तो उस आकर्षण शक्तिकी यथेच्छ वृद्धिसे पाप संग्रह होना असम्भव नहीं हो सकता। परन्तु धर्म्मकी रक्षा तभी

हो सकती है जब मनुष्य इन्द्रियसेवनजनित आकर्षण शक्तिका अनियमित यथेच्छ व्यवहार न करे तथा इन्द्रियोंकी धर्म्मानुकूल सुरक्षा करके विकर्षण शक्तिका भी अपव्यवहार न करे। जिस प्रकार ग्रह उपग्रह आदिमें आकर्षण शक्ति और विकर्षण शक्तिकी समतासे ग्रह और उपग्रहगण अपनी कक्षासे च्युत न होते हुए सृष्टिधर्म्मका पालन करके सौर जगत्की सुरक्षा करते हैं; ठीक उसी रीतिपर धार्मिक गृहस्थ अपनी इन्द्रियोंके नियमित धर्म्मानुकूल सेवन द्वारा आकर्षण शक्ति और विकर्षण शक्तिकी समता अपने आचारमें सुरक्षित करते हुए धर्म्म सम्पादन किया करते हैं। इस विज्ञान द्वारा यह सिद्ध हुआ कि शारीरिक, वाचनिक और मानसिक तीनों प्रकारकी क्रियाओंमें उन्हीं जगत्प्रसविनी महामायाकी आकर्षण और विकर्षण शक्तियोंकी समता-स्थापनाको ही धर्म्म कहते है। जिस प्रकार आकर्षण और विकर्षण शक्तिकी समतासे स्थूल समष्टि ब्रह्माण्डमें ब्रह्माण्डधारक धर्म्मकी सुरक्षा होती है, ठीक उसी प्रकार आकर्षण शक्ति और विकर्षण शक्तिकी समताको नियमित रखनेसे पिण्डरूपी मनुष्यशरीरमें मनुष्यके अभ्युदय और निःश्रेयसकारी धर्म्मकी सुरक्षा होती है। राजधर्म्म और प्रजाधर्म्म इन दोनोंमें भी इसी प्रकारसे इन्हीं दोनों शक्तियोंकी समताकी सुरक्षा होनेसे धर्म्मकी सुरक्षा होगी। अन्यथा अधर्म होनेसे राजा और प्रजा उभयका अकल्याण होगा।

राजधर्म और प्रजाधर्मको सुरक्षित करनेके अर्थ आजतक जितने प्रकारकी राज्यशासनप्रणाली व राजनीति संसारमें प्रचलित हुई हैं उनके विभाग निम्नलिखित रूपसे कर सकते है। यथाः—(क) प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणाली (Republican foim of Goveinment), (ख) वर्त्तमान यूरोपीय राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली (Limited monaichy), (ग) स्वेच्छाचारी राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली (Despotic Goveinment) और (घ) हिन्दुओंकी प्राचीन राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली। इन चारोंके लक्षण ये हैं। प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणालीके अनुसार प्रजा ही राजा और प्रजा दोनोंका कार्य्य करती है; उसमें राजाका नाम मात्र नहीं रहता। उसके नियमानुसार प्रजा ही अपनी प्रतिनिधिसभा नियत करती है, प्रतिनिधि सभाके चुनाव करनेमें उच्च नीच सब प्रजा समान अधिकार रखती है। वही प्रतिनिधि सभा एक नियमित समयके लिये प्रधान सभापति रूपसे प्रेसिडेण्ट चुन लिया करती है; वही प्रेसिडेण्ट उसी नियमित समयके लिये राजाके कुछ अधिकार प्राप्त कर लेता है।

प्रजा ही प्रतिनिधि सभाके द्वारा अपने राज्यके राजकीय नियम (राजानुशासन की नियमावली) अर्थात् कानून निर्माण करती है । इस राज्य-शासन प्रणालीके अनुसार यदि राजनैतिक योग्यता हो तो प्रजाका एक अति निकृष्ट मनुष्य भी उन्नति करता हुआ कालान्तरमें उस प्रजातन्त्र राज्यका प्रेसिडेण्ट बन सकता है । यद्यपि इस प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणालीके अनुसार कोई भी स्थायी राज्यपद नही प्राप्त कर सकता, स्थायी राजा बननेकी कोई इच्छा भी करे तो वह राजद्रोही समझा जाता है, परन्तु प्रजाकी शक्तिको नियोजित और नियमवद्ध करनेके लिये कई उपाय रक्खे गये हैं । प्रथम तो प्रेसिडेण्ट-को ही कुछ वर्षोंके लिये सर्वप्रधानशक्ति राजशक्तिरूपसे प्रदान की गई है, दूसरे मन्त्रीसमाज गठन, निम्न प्रतिनिधिसभा और उच्च प्रतिनिधिसभा गठन-प्रणाली—इन तीनोंके अधिकार भी ऐसे रक्खे गये हैं जिससे प्रजा उच्छृङ्खल न हो सके । प्रकारान्तरसे इस प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणालीमें राजाके अधि-कारोंको भी रक्खा गया है और प्रजाको भी उच्छृङ्खल होनेसे वचाया गया है, इस प्रकारसे प्रजाको सब प्रकारका अधिकार देने पर भी राजा और प्रजा दोनोंके पदकी असीम शक्तिको सीमावद्ध करके आकर्षण और विकर्षणश-क्तिकी यथासम्भव समता स्थापन करते हुए राज्यरक्षाकी एक नई प्रणाली निकाली गई है । दूसरी वर्त्तमान यूरोपीय राजतन्त्र राज्यशासन प्रणालीमें राजाका सम्मान रक्खा गया है इस राज्यशासन प्रणालीके अनुसार प्राचीन राज्यकुलका ही एक व्यक्ति अपने कुलपरम्परागत नियमके अनुसार राजा होता है और जीवनपर्य्यन्त राजा रहता है । परन्तु उसके अधिकार और क्षमता प्रायः उतनी ही होती है जितनी कि प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणालीके प्रेसिडेण्टकी हुआ करती है और मन्त्रीसमाज गठन, निम्न प्रतिनि-धिसभा और उच्च प्रतिनिधिसभा गठन-प्रणाली, ये सब भी प्रायः वैसे ही होते हैं कि जैसे प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणालीमें होते हैं । केवल राजभक्तिका अंश इस राज्यशासन प्रणालीमें राजाज्ञा द्वारा स्थायी रक्खा जाता है । इस राज्यशासन प्रणालीमें राजा सम्मानके विचारसे सर्वश्रेष्ठ माना जाता है और शक्तिके विचारसे प्रजाके हाथमें ही सब कुछ होता है और दोनोंके अधिकार विभक्त रहते हैं । उदाहरण स्थल पर समझ सकते हैं कि कानून बनानेका अधिकार प्रजाकी प्रतिनिधिसभाके हाथमें रहने पर भी उस कानूनको स्वीकार करनेका अधिकार राजाको रहता है । उसी प्रकार युद्धाज्ञाप्रचारकी

क्षमता और सेनाको युद्धमें नियोजित करनेका अधिकार राजाके हाथमें रहने पर भी धन व्यय करनेका अधिकार प्रजाके हाथमें रहता है। इस प्रकारसे राजा और प्रजा दोनोंकी उच्छृङ्खलताको नियमबद्ध प्रणालीसे रोकनेका प्रबन्ध रखकर आकर्षण और विकर्षणशक्तिकी समता स्थापना की गई है। तीसरी स्वेच्छाचारी राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली। जो कि बौद्ध राजाओंके समयसे प्रचलित हुई है और जिसका नमूना अभीतक तुर्क देश और चीनदेशमें उपस्थित था और जो रीति अभी तक भारतके देशी राज्योंमें भी कहीं कहीं प्रचलित है। परन्तु उसका पूरा नमूना हिन्दुस्तानके पठान और मुगलसम्राटोंके राज्यमें प्रकट हुआ था। इस स्वेच्छाचारी राजतन्त्र राज्यशासनप्रणालीके अनुसार राजा ही सब कुछ समझा जाताहै, राजाकी निरङ्कुशता दमन करनेके लिये प्रजाके निकट कोई वल नहीं है, राजाकी राजाज्ञाही कानून है और राजाकी राजाज्ञा ही धर्म है। इस राज्यशासन प्रणालीमें राजधर्म और प्रजाधर्ममें आकर्षण और विकर्षण शक्तिकी समता स्थापन करने या न करनेका अधिकार एकमात्र राजाकी इच्छापर निर्भर करता है। चौथी हिन्दुओंकी प्राचीन राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली है। वह इन पूर्वकथित तीनोंसे कुछ विलक्षण ही है। हिन्दुओंकी इस प्राचीन राजतन्त्र राज्यशासन प्रणालीमें एकमात्र धर्म ही अनुशासनरूपसे राजधर्म और प्रजाधर्म दोनोंके अधिकारोंको विभक्त करके आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता स्थापन करता है।

पूर्व्वकथित चार प्रकारकी राज्यशासन प्रणालियोंमें राजा और प्रजाका जिस प्रकार सम्बन्ध बाँधा गया है उन सब नियमोंको भली भाँति अन्वय व्यतिरेकके साथ विचार करनेसे यह सिद्धान्त होगा कि स्वेच्छाचारी राज्यतन्त्र राज्यशासन प्रणाली—जिसका उदाहरण प्राचीन तुर्क और चीन साम्राज्य था, उक्त राज्यशासन प्रणालीमें एकमात्र राजाको ही पूर्णशक्तिमान् बनाया गया है। उसी प्रकार सावधानताके साथ विचार करनेसे यही सिद्धान्त होगा कि प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणाली कि जिसका उदाहरण यूरोपीय फ्रांस राज्य और अमेरिकाके राज्य हैं, उक्त राज्यशासन प्रणालीमें एकमात्र प्रजाको ही सर्व्वशक्तिमान् बनाया गयाहै। इन दानों राज्यशासन प्रणालियोंमेंसे प्रथममें तो राजाकी ओर और दूसरीमें प्रजाकी ओर आकर्षणशक्ति झुकी हुई है, यद्यपि इन दोनोंमेंसे प्रथममें एकमात्र राजा चाहे तो आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता अपने सद्विचारके द्वारा स्थापित रख सकता है, उसी प्रकार दूसरी प्रणालीमें

यदि प्रजा चाहे तो आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता अपने सद्विचारके द्वारा स्थापित रख सकती है; परन्तु दोनोंही अपने अपने अधिकारके अनुसार पूर्णशक्तिवान् होनेके कारण यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि वे दोनों सदाके लिये सद्विचारवान् व निरपेक्ष रहेंगे; अतः इन दोनों राज्यशासन प्रणालियोंमें प्रमाद बढ़कर राज्यविप्लव, और आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता नष्ट होकर राज्यके नष्टभ्रष्ट होनेकी पूर्ण सम्भावना रहती है । पृथिवीके नाना देशोंके इतिहासोंसे पाठकोंको स्पष्ट ही प्रतीत होगा कि जिन जिन देशोंमें जब जब स्वेच्छाचारी राज्यतन्त्र राज्यशासन प्रणाली प्रचलित रही, उस समयमें जबतक उक्त राज्यकुलमें धर्मभीरु प्रजापालक संयमी और न्यायवान् राजा उत्पन्न होते रहे तभी तक उक्त राज्योंमें आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता स्थापित रहकर विद्या बल धन और धर्म सब कुछ बना रहा, परन्तु राजवंशमेंसे पूर्वकथित गुणोंका नाश होतेही वह राज्य नष्टभ्रष्ट होगया । यदि हिन्दुस्तानके इतिहासपाठक पठान-साम्राज्यकी प्रथम स्थिति, मध्यम स्थिति और अन्तिम स्थिति पर विचार करेंगे तो वे इस वैज्ञानिक सिद्धांतकी सत्यताको भलीभाँति समझ सकेंगे । उसी प्रकारसे पृथिवीके नाना देशों और विशेषतः यूरोपीय देशोंके इतिहास पाठकोंको स्पष्टही प्रतीत होगा कि जब तक किसी प्रजातन्त्र राज्यमें प्रजा धार्म्मिक, न्यायवान्, विद्वान् और नीतिज्ञ बनी रहती है तभी तक उक्त प्रजातन्त्र राज्यमें आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता स्थापित रहकर उस देशमें विद्या, बल, धन और धर्मकी स्थिति बनी रहती है । प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणाली बहुत प्राचीन नहीं है । यही कहा जा सकता है कि यह प्रणाली यूरोपीय रोमन-साम्राज्यसे ही निकली हुई है । अभीतक जिस प्रकार स्वेच्छाचारी-राजतन्त्र राज्यशासन प्रणालीके दोष पृथिवीके इतिहासने बार बार प्रमाणित करके दिखाये हैं उस प्रकारसे पृथिवीके इतिहासको अभी तक इस प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणालीके दोषोंको सिद्ध करके दिखलानेका अवसर नहीं मिला, क्योंकि यह प्रणाली नवीन है । परन्तु इतिहासमें इस पूर्वकथित वैज्ञानिक सिद्धान्तकी पुष्टिमें कोई प्रमाण ही नहीं मिल सकता ऐसा नहीं; यूरोपीय रोमन-साम्राज्यके इतिहासको जिन्होंने भलीभाँति पाठ किया है वे स्पष्ट ही जान सकेंगे कि इस प्रकारसे प्रथम रोम राज्यमें प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणालीकी सृष्टि हुई, और जब रोम प्रजा घोर विलासी, निरङ्कुश, नीतित्यागी और अधार्म्मिक बन गई तो अपने आपही रोमन प्रजातंत्र महाशक्ति-

शाली राज्य ही नष्टभ्रष्ट नहीं हुआ, किंतु उस रोमन जाति तकका नाश होगया। आज दिन यूरोपके उस इटाली देशमें कि जहाँ रोमनसाम्राज्यका केंद्र था, जो अब नई इटालियन जाति बनी है उस जातिसे प्राचीन रोमन जातिका कोई भी साक्षात् सम्बंध नहीं है, वर्तमान यूरोपके राजनीति तरङ्गके घात प्रतिघातसे इटाली देशमें वर्त्तमान इटालीयन जातिने थोड़ी ही शताब्दियोंसे जन्म लिया है। अतः स्वेच्छाचारी राजतंत्र राज्यशासन प्रणाली और प्रजातंत्र राज्यशासन प्रणाली दोनोंहीमें स्वभावतः आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्ति दोनोंकी समता स्थापित रहनेके लिये चिरस्थायी अवसर न रहनेके कारण दोनों राज्यशासन प्रणालियाँ भयरहित नहीं हैं इसमें संदेह ही नहीं।

मीमांसा शास्त्रने यह भलीभाँति सिद्ध करके दिखा दिया है कि जीव चौरासी लक्ष योनियोंमें भ्रमण करता हुआ अपनी असम्पूर्णताको क्रमशः पूर्ण करके जब मनुष्य-देहमें जीवत्वकी पूर्णताको प्राप्त करता है तो स्वतः ही अपने पिण्ड रूपी देहका राजा बन जाता है। अन्यान्य स्वेदज अण्डज जरायुज योनियोंमें जीव सम्पूर्ण रूपसे जगत्प्रसविनी प्रकृतिमाताके अधीन रहता है, परंतु मनुष्य-देहमें वह स्वेच्छाचारी और स्वाधीन बन जाता है। अन्यान्य योनियोंके जीवदेहमें पञ्चकोषोंका पूर्ण विकास नहीं होता, उद्भिज्ज योनियोंमें केवल अन्नमय कोषका ही पूर्ण विकास होता है, स्वेदजमें अन्नमय और प्राणमय कोषोंका पूर्ण विकास, अण्डजमें अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोषोंका पूर्ण विकास, जरायुजमे अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोषोंका पूर्ण विकास और क्रमशः मनुष्ययोनिमें पहुँचकर अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय इन पांचों कोषोंका पूर्ण विकास हो जाता है। इसी कारण अन्यान्य निम्नयोनियोंमें पञ्चकोषोंकी असम्पूर्णताके हेतु जीव पराधीन रहता है; परंतु मनुष्ययोनिमें पञ्चकोषोंकी पूर्णताके हेतु स्वाधीन बन जाता है। स्वाधीन होनेसे ही मनुष्य अपने पिण्डका राजा बन जाता है और इसी कारण मनुष्य अपनी इन्द्रियोंको यथेच्छ कार्य्योंमें ला सकता है। पञ्चकोषोंकी पूर्णताका अपने पिण्डरूपी देहपर आधिपत्य करना, इन्द्रियोंके चालनमें स्वेच्छाचार, विषयोंके भोगनेमें निरङ्कुशता इत्यादि कारणोंसे जीव मनुष्यशरीरमें इन्द्रियपरायण होकर अधोगामी हो जाता है। वस्तुतः मनुष्य सब जीवोंमें श्रेष्ठ और उन्नत होनेपर भी पूर्ण शक्तिमान् और स्वेच्छाचारी होनेके कारण

इसकी दृष्टि सदा इन्द्रियभोगकी तरफ रहना स्वतःसिद्ध है। वह इन्द्रियभोगका अभिलाषी। और इच्छाके पूर्ण करनेमें स्वतन्त्र होनेके कारण उसके अधःपतन होनेकी सम्भावना सदा रहती है। यही कारण है कि यदि मनुष्यके सब कार्य्योंमें, मनुष्य-समाजकी गठनप्रणालीमें और राजधर्म और प्रजाधर्मके नियमित करनेमें आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता स्थापित नहीं रक्खी जायगी तो वह मनुष्य, वह मनुष्य-समाज और वह राज्य क्रमशः अधार्मिक, वहिर्दृष्टिसे सम्पन्न और स्वेच्छाचारी होकर नष्टभ्रष्ट हो जायगा। इसी कारण प्रजातन्त्र राजशासन प्रणालीमें जबतक प्रजा उन्नत, विद्वान्, संयमी और धार्मिक बनी रहती है, तबतक प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणालीसे क्षति नही होती, परन्तु पूर्व्वकथित सृष्टिनियमप्रणालीके अनुसार तथा आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समताके अभावसे प्रजा जब विलासी और निरङ्कुश होकर बहिर्दृष्टिसम्पन्न और अधार्मिक बन जाती है तो उसके साथ ही साथ वह राज्य भी क्रमशः बलहीन होकर नष्टभ्रष्ट हो जाता है। किसी मनुष्य-समाज अथवा राज्यकी स्वास्थ्यरक्षाके लिये विद्या, बल, धन और धर्म्माचारोंकी समान रूपसे आवश्यकता है। इन चारों गुणोंमेंसे जितने गुणोंकी न्यूनता होगी, उतनीही मनुष्यसमाज और राज्यकी जीवनशक्ति दुर्बल समझी जायगी। और यह भी निश्चय है कि इन गुणावलियोंमेंसे एक एकके अपव्यवहारसे मनुष्य-समाज या राज्य नष्टभ्रष्ट हो सकता है। उदाहरणके तौर पर समझ सकते हैं कि केवल विद्याको इन्द्रियसुख और लोकनाश आदि अहितकर कार्य्योंमें लगानेसे, बलके अपव्यवहारसे, धनको इन्द्रियसुख और अधर्म्ममें लगानेसे और सब कार्य्योंमें धर्मका लक्ष्य छोड़ देनेसे अथवा इनमेंसे किसी एकके अपव्यवहारसे ही मनुष्यजाति या राज्य अपनी जीवन-शक्तिका नाश कर डालता है इसमें सन्देह ही नहीं। इसी प्रकारसे प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणालीकी प्रजा अपनी स्वाभाविक शक्तियोंके अपलापसे क्रमशः अपने राजानुशासनमें आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता रखनेमें असमर्थ हो जाती है। ठीक इसी तरह स्वेच्छाचारी राज्यतन्त्र प्रणालीमें स्वेच्छाचारी राजा पूर्वकथित मानवीय दुर्व्वलताके कारण स्वयं विलासी, स्वेच्छाचारी, आलसी, असंयमी और अधार्म्मिक होकर अपनी राज्यशासन प्रणालीमें आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता नष्ट कर डालता है। ये सब बातें केवल कल्पना ही नहीं हैं किन्तु विज्ञानसिद्ध, मनुष्य प्रकृतिके अनुकूल और प्राचीन इतिहाससे सप्रमाणित हैं। इस कारण

वहुदर्शी अन्तर्दृष्टिसम्पन्न योगीगण इन दोनों राज्यशासन प्रणालियोंको अन्तमें दुःखदायी, असम्पूर्ण, अल्पदिनस्थायी और क्रमशः मनुष्य-समाजको अधार्म्मिक और वहिर्दृष्टिसम्पन्न वनाने वाली समझते हैं।

सूक्ष्म विचारके अनुसार अनुसन्धान करनेसे यही समझा जायगा कि अवशिष्ट दोनों राज्यशासनप्रणाली अर्थात् वर्त्तमान युरोपीय राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली (Limited monarchy) और हिन्दुओंकी प्राचीन राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली, दोनों एक ही जातिकी राज्यशासन प्रणाली है। वर्त्तमान युरोपीय राजतन्त्र राज्यशासनप्रणालीमें प्रत्येक प्रजाको अपने राजाकी भक्ति होनेपर भी राजाके अनुशासन कार्य्यको नियमबद्ध करनेके अर्थ अपने देशकी प्रतिनिधि सभा संगठन करनेमें पूर्ण अधिकार प्राप्त रहता है। प्रत्येक प्रजा स्वतन्त्र स्वतन्त्र सम्मति देती है, सव प्रजाकी समवेत सम्मतिमें मताधिक्यताके विचारसे उस राज्यकी प्रतिनिधि सभाका निर्वाचन होता है। यूरोपीय राज्य समूहोंमें और विशेषतः हमारे ब्रिटिश सम्राटकी राज्यशासन प्रणालीमेंसे एक प्रतिनिधि सभामें केवल ऐसे प्रतिष्ठित व्यक्तियोंका चुनाव होता है कि जो वंशानुगत रीतिपर राजसन्मानके अधिकारी हैं, इस शैलीसे जन्मगत और कुलानुगत मर्य्यादाकी भी प्रतिष्ठा रक्खी गई है। येही प्रजाकी दोनों प्रतितिधि सभाएं राजानुशासन की व्यवस्था करती हैं, इन्हीमेंसे मन्त्री-सभाका संगठन होकर राज्य कार्य्य चलाया जाता है। अतः इस राजानुशासनशैलीमें राजभक्ति, वंशानुगत मर्य्यादा आदिके साथही साथ प्रजाकी यथेष्ट शक्ति विद्यमान है और राजशक्ति और प्रजाशक्ति दोनोंमें आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता चिरस्थायी रखनेके लिये वहुत कुछ यत्न किया गया है। धर्म्मके सहारेसे ये सव वातें हिन्दुओंकी प्राचीन राज्य तन्त्र राज्यशासनप्रणालीमें स्वाभाविक तौरसे उपस्थित थी। शास्त्रोंके पाठ करनेसे सवको भलीभांति प्रतीत हो सकेगा कि हिन्दुओंकी ग्राम्यपञ्चायत प्रणाली, नगर प्रान्त जनपद आदिकी पञ्चायती व्यवस्था और सम्राट्के मन्त्री समाजगठनकी व्यवस्थामें आकर्षण और विकर्षण शक्तिकी समताकी व्यवस्था पूर्णरीत्या रक्खी गई है। राजाको साक्षात् भगवान्का अवतार माननेकी रीति जिस प्रकार हिन्दुशास्त्रमें है वैसी पृथिवीके और किसी देशके किसी शास्त्रमें नहीं पाई जाती। राजाको भी प्रजाके लिये स्वार्थत्याग करनेकी और प्रजाको अपने पुत्रवत् प्रतिपालनकरनेकी जिस प्रकारकी आज्ञा हिन्दूधर्म्मशास्त्रमें पाई

जाती है वैसी प्रवल आज्ञा और कहीं नहीं पाई जाती । एक ओर प्रजामें राजभक्तिकी पूर्णता और दूसरी ओर राजामें प्रजावात्सल्यकी पूर्णता हिन्दूशास्त्रमें अतुलनीय है । पारिवारिक सदाचाररूपी धर्म्ममें एक गृहस्वामीही हिन्दूशास्त्रके अनुसार एक छोटासा राजा समझा गया है । प्रथम तो पारिवारिक सुप्रवन्ध ही व्यष्टिरूपसे राज्यको सुरक्षित करता है । इस प्रकार धर्म्मरज्जुसे बँधा हुआ पारिवारिक अनुशासन पृथिवीकी किसी जातिमें विद्यमान नहीं है । द्वितीयतः हिन्दूसमाजके सामाजिक नेताके माननेके सदाचार हिन्दू समाजमें शास्त्र द्वारा संरक्षित हैं । इन दोनोंके द्वारा राजानुशासन प्रणालीमें स्वतः ही वड़ी भारी सहायता मिलती है । प्रवृत्तिरोधक वर्णधर्म्म और निवृत्तिपोषक आश्रमधर्म्म इन दोनोंका हिन्दूजातिके साथ जो ओतप्रोत घनिष्ठ सम्वन्ध है उसके द्वारा एक वर्ण अन्य वर्णका, एक आश्रम अन्य आश्रमका पोषण करता हुआ समाज और राज्यको पूर्ण रूपसे आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता स्थापन करनेमें सहायता करता है । वर्णधर्म्म और आश्रमधर्म्मकी शैली ऐसी अपूर्व्व और दैवी विज्ञानसे जकड़ी हुई है कि इसके द्वारा स्वतः ही न प्रजा अपनी मर्य्यादाको छोड़ सकती है और न राजा अपनी मर्य्यादाको छोड़ सकता है । वर्णगुरु ब्राह्मण जिस प्रकार वर्णोंको नियमवद्ध रखते हैं उसी प्रकार आश्रमगुरु संन्यासी अपने आध्यात्मिक उपदेश द्वारा वर्ण और आश्रम दोनोंमें किसी प्रकारका विप्लव होने नहीं देते । और ये दोनों वर्ण और आश्रमकी विभूतियाँ राजाको अपने राजधर्म्मसे कदापि निरङ्कुश नहीं होने देतीं । और साथ ही साथ ये दोनों प्रजाको अपने धर्म्मपालन करानेके लिये स्वतः ही भारप्राप्त हैं । राजाकी दिनचर्य्या, राजाका आचार, राजाका प्रजापालन, राजाकी मन्त्री-समाजसंगठनप्रणाली, राजाकी राजनीति, राजाकी युद्धनीति और राजाकी धर्मनीति आदि जिस प्रकार वेद और शास्त्रके द्वारा सुदृढ़ और सुरक्षित कर दी गई हैं उसके द्वारा आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता स्थापनमें कभी विप्लव हो ही नहीं सकता । यूरोपीय वर्त्तमान राजतन्त्र राजशासन प्रणाली और प्राचीन हिन्दु राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली इन दोनोंमें विलक्षणता इतनी ही है कि यूरोपीय राजतन्त्र राज्यशासनप्रणालीमें केवल प्रजाशक्ति अपने विचारके फलको राजाके मुखसे कहलवाकर आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता चिरस्थायी रखनेका यत्न करती है; और प्राचीन हिन्दू राज्यतन्त्र

राज्यशासन प्रणालीमें पूर्वकथित सब सिद्धान्त वेदाज्ञा रूपसे धर्मशास्त्र द्वारा धर्म्मत्वरूपेण जकड़े हुए हैं। यूरोपीय राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली मानवीय विचारानुसार परिवर्तनशील है, परन्तु प्राचीन भारतीय राजतन्त्र राज्यशासन प्रणालीके नियम अपरिवर्तनीय और चिरस्थायी हैं, वे सब वेदवत् पालनीय होने के कारण हिन्दूराजा और प्रजा उनको अपने इहलोक और परलोक दोनों प्रकारके कल्याणके लिये माननेको वाध्य हैं। यद्यपि एक राजानुशासन प्रणाली केवल राजनीतिकी भित्तिपर और दूसरी राजानुशासन प्रणाली केवल धर्म नीतिकी भित्तिपर स्थित है, परन्तु दोनोंमें सादृश्य विद्यमान होनेके कारण भगवान्ने भारतको हिन्दूजातिकी इस अधःपतित दशामें ऐसी ही नीतिज्ञ यूरोपीय राजानुशासन प्रणालीकी सहायता दी है कि जिसके द्वारा आकर्षण-शक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता यथासम्भव स्थापित रहकर हिन्दूजातिके अभ्युदयका मार्ग रुके नहीं।

आर्यशास्त्रमें राजा और प्रजाके स्वरूप तथा परस्परके प्रति कर्तव्योंके विषयमें अनेक उपदेश किये गये हैं। श्री भगवान् मनुजीने कहा है :—

अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः॥
इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः॥
यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा॥
तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम्॥
सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्।
स कुवेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः॥
वालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति॥

संसार अराजक होनेसे सभी लोग भयसे व्याकुल हो जाते हैं इसलिये चराचर जगत्की रक्षाके अर्थ परमात्माने राजाको उत्पन्न किया। इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र व कुवेर इन अष्ट दिक्पालोंके

अंशोंसे राजाकी सृष्टि होनेसे राजा निजतेजके द्वारा समस्त प्राणियोंको अभिभूत करते हैं । राजा सूर्यकी तरह चक्षु व मनको उत्तप्त करते हैं, इसलिये संसारमें कोई भी राजाके सामने आँख उठाकर देख नही सकता । राजा प्रभावमें अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, यम, कुवेर, वरुण व महेन्द्रके तुल्य है । राजा बालक होनेपर भी साधारण मनुष्य जानकर उपेक्षणीय नहीं है क्योंकि वे नररूपधारी महान् देवता हैं। इन सब देवताओंके अंशोंसे राजशरीर उत्पन्न होता है। इसलिये इन देवताओंके गुण भी राजामें विद्यमान हैं। यथा शुक्रनीतिमें:-

जङ्गमस्थावराणां च ह्रीशः स्वतपसा भवेत् ।
भागभाग्रक्षणे दक्षो यथेन्द्रो नृपतिस्तथा ॥
वायुर्गन्धस्य सदसत्कर्मणः प्रेरको नृपः ।
धर्मप्रवर्त्तकोऽधर्मनाशकस्तमसो रविः ॥
दुष्कर्मदण्डको राजा यमः स्याद् दण्डकृद् यमः ।
अग्निः शुचिस्तथा राजा रक्षार्थं सर्वभागभुक् ॥
पुष्यत्यपां रसैः सर्वं वरुणः स्वधनैर्नृपः ।
करैश्चन्द्रो ह्लादयति राजा स्वगुणकर्मभिः ॥
कोषाणां रक्षणे दक्षः स्यान्निधीनां धनाधिपः ॥

राजा इन्द्रकी तरह निज तपस्याके द्वारा स्थावरजङ्गमात्मक संसारके अधीश्वर रक्षाकार्यमें दक्ष होते हैं और जिस प्रकार इन्द्र यज्ञभागको ग्रहण करते हैं उस प्रकार राजा भी प्रजाकी सम्पत्तिके भागगृहीता होते हैं। जिस प्रकार वायु गन्धके प्रेरक होते हैं उसी प्रकार राजा भी सदसत्कार्यके प्रेरक होते हैं। जिस प्रकार सूर्यके द्वारा प्रकाशका विस्तार व अन्धकारका नाश होता है उसी प्रकार राजा भी धर्मके प्रवर्त्तक व अधर्मके नाशक होते हैं । जिस प्रकार यमराज पापकर्मके दण्ड दिया करते हैं उसी प्रकार राजा भी दुष्कर्मके दण्डदाता हैं। अग्निदेवकी तरह राजा पवित्र होते हैं और रक्षा करनेके हेतु सकलभागके भोक्ता होते हैं । जिस प्रकार वरुण जलके द्वारा समस्त संसारकी पुष्टि करते हैं उसी प्रकार राजा भी निज धनके द्वारा प्रजाको पुष्ट करते हैं। जिस प्रकार चन्द्रदेव किरणजालके द्वारा जीवगणको आच्छादित करते हैं उसी प्रकार राजा भी निजगुणकर्मके द्वारा प्रजाको आनन्ददान करते हैं। जिस प्रकार कुवेर समस्त रत्नधनोंकी रक्षा करते हैं उसी प्रकार राजा भी निज कोषकी रक्षामें निपुण हुआ करते हैं। इस प्रकारसे देवताओंके

अंशसे संसारकी रक्षाके लिये जगत्पालक श्रीभगवान्के प्रतिनिधिरूपसे प्रकट राजा अष्टलोकपालोंकी सद्गुणावलीके द्वारा विभूषित होते हैं। उपर्युक्त दैवी शक्तियोंके केन्द्र होनेसे तत्तत्शक्तिके अनुसार प्रजाके प्रति राजाका क्या कर्तव्य होना चाहिये, इस विषयमें भगवान् मनुजी कहते हैं:—

इन्द्रस्याऽर्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च।
चन्द्रस्याऽग्नेः पृथिव्याश्च तेजोवृत्तं नृपश्चरेत्॥
वार्षिकांश्चतुरो मासान् यथेन्द्रोऽभिप्रवर्षति।
तथाऽभिवर्षेत्स्वं राष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन्॥
अष्टौ मासान्यथाऽऽदित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः।
तथा हरेत्करं राष्ट्रान्नित्यमर्कव्रतं हि तत्॥
प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुतः।
तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम्॥
यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्तकाले नियच्छति।
तथा राज्ञा नियन्तव्या प्रजास्तद्धि यमव्रतम्॥
वरुणेन यथा पाशैर्बद्ध एवाऽभिदृश्यते।
तथा पापान्निगृह्णीयाद् व्रतमेतद्धि वारुणम्॥
परिपूर्णं यथा चन्द्रं दृष्ट्वा हृष्यन्ति मानवाः।
तथा प्रकृतयो यस्मिन्स चान्द्रव्रतिको नृपः॥
प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यं स्यात्पापकर्मसु।
दुष्टसामन्तहिंस्रश्च तदाग्नेयं व्रतं स्मृतम्॥
यथा सर्वाणि भूतानि धरा धारयते समम्।
तथा सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः पार्थिवं व्रतम्॥

राजाको इन्द्र, सूर्य, वायु, यम, वरुण, चन्द्र, अग्नि और पृथ्वीके वीर्यानुरूप चरित्रका अवलम्बन करना चाहिये। इन्द्रदेव चौमासेमें जिस प्रकार यथेष्ट जल वृष्टि करते हैं उसी प्रकार राजाको इन्द्रका व्रत धारण करके प्रजाके द्वारा प्रार्थित सकल विषयोंकी वृष्टि करनी चाहिये। सूर्यदेव आठ मास तक

अपनी किरणोंसे जिस प्रकार जलशोष धीरे धीरे करते हैं, उसी प्रकार सूर्यका व्रत धारण करके प्रजासे राजाको धीरे धीरे कर ग्रहण करना चाहिये। वायुदेव जिस प्रकार भूतमात्रमें प्रविष्ट होकर विचरण करते हैं, उसी प्रकार जासूसोंको चारों ओर भेजकर राजाको वायुव्रत धारण कर राजकार्यका पर्यवेक्षण करना चाहिये। समय आ पड़ने पर यम जिस प्रकार प्रिय अथवा द्वेष्यका विचार नहीं करते, उसी प्रकार राजाको दण्ड विधानके समय प्रिय वा द्वेष्यका नहीं किन्तु न्यायका विचार करना चाहिये। इस व्रतका नाम यमव्रत है। वरुणका पाश बड़ा दृढ़ होता है, राजा भी पापी पुरुषोंको बांध कर वरुण व्रतका पालन करें। पूर्ण चन्द्रके दर्शनसे जिस प्रकार लोग प्रसन्न होते हैं, उस प्रकार जिसकी प्रजा अपने राजाको देख आनन्दित होती है, वह राजा चन्द्रव्रतधारी है। जो राजा पापियों पर प्रताप दिखानेवाला नित्य तेजस्वी और दुष्ट सामन्तोंके लिये हिंसा शाली हो, उसे आग्नेय व्रतधारी कहते हैं। पृथ्वी जिस प्रकार सब भूतोंको समान भावसे धारण करती है, उसी प्रकार जो राजा सकल प्रजाको समान भावसे पालन करता है, उसे पार्थिव व्रतधारी समझना चाहिये। केवल इतना ही नहीं शुक्रनीतिकार और भी लिखते हैं—

पिता माता गुरुर्भ्राता बन्धुर्वैश्रवणो यमः।
नित्यं सप्तगुणैरेषां युक्तो राजा न चाऽन्यथा ॥
गुणसाधनसंदक्षः स्वप्रजायाः पिता यथा।
क्षमयित्र्यपराधानां माता पुष्टिविधायिनी ॥
हितोपदेष्टा शिष्यस्य सुविद्याध्यापको गुरुः।
स्वभागोद्धारकृद्भ्राता यथाशास्त्रं पितुर्धनात् ॥
आत्मस्त्रीधनगुह्यानां गोप्ता बन्धुस्तु मित्रवत्।
धनदस्तु कुबेरः स्याद् यमः स्याच्च सुदण्डकृत् ॥
प्रवृद्धिमति सुराज्ञि निवसन्ति गुणा अमी।
एते सप्तगुणा राज्ञा न हातव्याः कदाचन ॥

पिता, माता, गुरु, भ्राता, बन्धु, कुबेर व यम इन सातोंके सद्‌गुणोंके द्वारा राजा सदा ही युक्त रहते हैं। राजा पिताके सदृश निज प्रजाके सुगुण सम्पादनमें निपुण होते हैं। माताके सदृश अपराधके क्षमा करनेवाले व

पोषणकर्त्ता होते हैं। गुरुके सदृश प्रजाके हितोपदेष्टा व सुविद्यादानकारी होते हैं। भ्राता जिस प्रकार शास्त्र नियमके अनुसार पिताके धनके अंशभागी होते हैं उसी प्रकार राजा भी प्रजाकी सम्पत्तिके शास्त्रानुसार अंशभाग ग्रहणकारी होते हैं। जिस प्रकार वन्धु आत्मा, स्त्री, धन व गुप्त विषयोंके रक्षक तथा समप्राण होते हैं उसी प्रकार राजा भी प्रजाके आत्मा, स्त्री, धन व गुप्त विषयोंके रक्षक तथा प्रजाके साथ समदुःखसुखानुभवशील व एकप्राणतायुक्त होते हैं। राजा कुवेरकी तरह धनदाता व यमकी तरह उचित दण्डकारी होते हैं। उन्नतिशील धार्मिक राजामें ये सब गुण अवश्य ही विराजमान रहते हैं। उपर उक्त सप्त गुणोंसे राजाको कभी च्युत नही होना चाहिये। राजामें इन सब गुणोंके होनेसे ही राजा धर्मके साथ संसारकी रक्षा करनेमें समर्थ होते हैं। जैसा कि वृहस्पतिजीने कहा है—

राजमूलो महाप्राज्ञ धर्मो लोकस्य लक्ष्यते।
प्रजा राजभयादेव न खादन्ति परस्परम् ॥
राजा ह्येवाऽखिलं लोकं समुदीर्णं समुत्सुकम्।
प्रसादयति धर्मेण प्रसाद्य च विराजते ॥
यथा ह्यनुदये राजन् भूतानि शशिसूर्ययोः।
अन्धे तमसि मज्जेयुरपश्यन्तः परस्परम् ॥
यथा ह्यनुदके मत्स्या निराक्रन्दे विहङ्गमाः।
विहरेयुर्यथाकामं विहिंसन्तः पुनः पुनः ॥
विमथ्याऽतिक्रमेरंश्च विषह्यापि परस्परम्।
अभावमचिरेणैव गच्छेयुर्नाऽत्र संशयः ॥
एवमेव विना राज्ञा विनश्येयुरिमाः प्रजाः।
अन्धे तमसि मज्जेयुरगोपाः पशवो यथा ॥
हरेयुर्बलवन्तोऽपि दुर्बलानां परिग्रहान्।
हन्युर्व्यायच्छमानांश्च यदि राजा न पालयेत्।
पतेद्बहुविधं शस्त्रं वहुधा धर्मचारिषु।
अधर्मः प्रगृहीतः स्याद् यदि राजा न पालयेत् ॥

मातरं पितरं वृद्धमाचार्य्यमतिथिं गुरुम् ।
क्लिश्नीयुरपि हिंस्युर्वा यदि राजा न पालयेत् ॥
अनयाः सम्प्रवर्त्तेरन् भवेद्वै वर्णसङ्करः ।
दुर्भिक्षमाविशेद्राष्ट्रं यदि राजा न पालयेत् ॥
विवृत्य हि यथाकामं गृहद्वाराणि शेरते ।
मनुष्या रक्षिता राज्ञा समन्तादकुतोभयाः ॥
धर्ममेव प्रपद्यन्ते न हिंसन्ति परस्परम् ।
अनुगृह्णन्ति चाऽन्योन्यं यदा रक्षति भूमिपः ॥
यजन्ते च महायज्ञैस्त्रयो वर्णाः पृथक्विधैः ।
युक्ताश्चाऽधीयते विद्यां यदा रक्षति भूमिपः ॥
यदा राजा धुरं श्रेष्ठमादाय वहति प्रजाः ।
महता बलयोगेन तदा लोकः प्रसीदति ॥

संसारमें धर्म व्यवस्थाके ठीक रखनेके विषयमें राजा ही कारण हैं। प्रजागण राजाके ही भयसे परस्परका अनिष्ट नहीं करते हैं। मर्यादाविहीन, परदारासक्त मनुष्योंको दण्ड द्वारा प्रकृतिस्थ करके राजा ही धर्म व शान्तिकी रक्षा करते हैं। जिस प्रकार चन्द्रसूर्यके अभावसे समस्त जीव घोर अन्धकारमें निमग्न होजाते हैं, कोई किसीको नजर नहीं आता है, जिस प्रकार अल्पजलमें मत्स्यगण तथा हिंस्रभयरहित स्थानमें पक्षिगण यथेच्छ परस्परकी हिंसा करके शीघ्रही सम्पूर्ण नाशको प्राप्त हो जाते हैं उसी प्रकार विना राजाके समस्त प्रजा नष्ट हो जाती है और रक्षकविहीन पशुओंकी तरह घोर अन्धकारमें मग्न हो जाती है। बलवान् दुर्बल पर आक्रमण करके उसके गृहादि सब कुछ छीन लेते हैं और रक्षार्थ यत्न करने पर उसे मार डालते हैं। धर्मपरायण सज्जनों पर अस्त्राघात होता है और अधार्मिक जन अनायास सुख भोग करते हैं। माता, पिता, वृद्ध, आचार्य, अतिथि व गुरु इन पर अत्याचार होता है, वे अत्यन्त कष्टको भोग करते हैं। राजनीतिके नाश होनेसे लोग यथेच्छ पापादिमें रत होते हैं जिससे वर्णसङ्कर प्रजाकी उत्पत्ति होतीहै और राज्यमें दुर्भिक्षका प्रबल आक्रमण हो जाता है। राजा अपनी महती शक्तिके द्वारा इन सब दोषोंका निराकरण करके राज्यमें शान्ति विधान करते हैं। राजाके द्वारा रक्षित होकर

समस्त प्रजा निर्भयचित्त हो गृहद्वार उन्मुक्त रख कर ही सो जाती है। सब लोग हिंसा छोड़ धर्मका आश्रय करके परस्परके प्रति कृपापरायण होते हैं। द्विजगण महायज्ञका अनुष्ठान व सद्विद्याका अध्ययन करते हैं। इस प्रकारसे राजा राज्यभाव ग्रहणपूर्वक जब धर्म व नीतिके साथ प्रजापालन करते है तब उनके प्रतापसे सर्वत्र शान्ति व आनन्द विराजमान रहता है। संसारमें इस प्रकार आनन्द व शान्तिकी प्रतिष्ठा करनेके लिये श्रीभगवान्ने राजाको एक अपूर्व वस्तु प्रदान की है जिसका वर्णन मनुजीने निम्नलिखित रूपसे किया हैः—

अस्याऽर्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत् पूर्वमीश्वरः॥
तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च।
भयाद् भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च॥
तद् देशकालौ शक्तिश्च विद्यां चाऽवेक्ष्य तत्त्वतः।
यथार्हतः सम्प्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्त्तिषु॥
स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः॥
दण्डः शास्ति प्रजा सर्वा दण्ड एवाऽभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्त्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥
समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः॥
यदि न प्रणयेद् राजा दण्डं दण्ड्येष्वतन्द्रितः।
शूले मत्स्यानिवाऽपक्ष्यन् दुर्बलान् बलवत्तराः॥
अद्यात् काकः पुरोडाशं श्वावलिह्याद्धविस्तथा।
साम्यञ्च न स्यात् कस्मिंश्चित् प्रवर्त्तताऽधरोत्तरम्॥
सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः।
दण्डस्य हि भयात् सर्वं जगद् भोगाय कल्पते॥

देवदानवगन्धर्वा रक्षांसि पतगोरगाः ।
तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनैव निपीडिताः ॥
दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन् सर्वसेतवः ।
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद् दण्डस्य विभ्रमात् ॥
यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा ।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत् साधु पश्यति ॥

राजाके हितार्थ ही परमेश्वरने आदिकालमें सकल-प्राणि-रक्षक, धर्म-स्वरूप, आत्मज व ब्रह्मतेजोमय दण्डकी सृष्टि की थी। इसी दण्डके भयसे ही चराचर समस्त जगत् अपने अपने भोगमें प्रतिष्ठित है और कोई भी धर्मसे विचलित नहीं हो सकता है। देश, काल, शक्ति व विद्या इन चारोंको यथार्थ-रूपसे जांच करके अन्यायकारीके प्रति राजाको योग्य दण्ड विधान करना चाहिये। वास्तवमें दण्ड ही राजा, दण्ड ही पुरुष, दण्ड ही नेता व शासनकर्त्ता है। महर्षिगणने दण्डको ही चतुराश्रमधर्मके प्रतिभूस्वरूप कहा है। दण्ड ही समस्त प्रजा पर शासन करता है, दण्ड ही प्रजाकी रक्षा करता है, समस्त संसारके सुषुप्ति चक्रमें एकमात्र दण्ड ही जाग्रत रहता है, पण्डितोंने दण्डको ही सकल धर्मका मूल कहा है। यही दण्ड विचारपूर्वक अवलम्बित होनेसे प्रजारञ्जन कर सकता है, और अन्यथा प्रयुक्त होकर प्रजाओंका नाश करता है। यदि राजा सचेष्ट होकर दण्डनीयके प्रति दण्ड-दान न करते तो बलवान् लोग दुर्बलको शूल पर चढ़ी हुई मछलीकी तरह दुःख देते, यज्ञीय चरु काक भक्षण कर लेता, मन्त्रपूत हवि श्वान भक्षण कर लेता, सभी अपने अधिकारसे च्युत होजाते और नीचजाति श्रेष्ठ जातिको पराभूत कर देती। केवल दण्डके भयसे ही मनुष्यगण न्यायपथमें रहते हैं क्योंकि स्वभावतः पवित्र लोग संसारमें दुर्लभ हैं। दण्डके ही भयसे समस्त जगत् निज निज भोग्य भोगनेमें समर्थ है। देव, दानव, गन्धर्व, राक्षस, विहङ्ग व सर्प ये सब केवल दण्डके भयसे ही कर्त्तव्य पक्षमें रहते हैं। अन्याय्यरूपसे दण्ड देने पर अथवा दण्डके अभावसे ब्राह्मणादि सभी वर्ण दुष्ट होकर मर्यादाका अतिक्रमण करते हैं और चौर्य आदिके कारण सबके हृदयमें क्षोभ उत्पन्न होता है। जहां पर श्यामवर्ण व आरक्तलोचन दण्ड, पापनाशके

लिये भ्रमण करता है और जहां पर न्यायानुसार दण्डका विधान होता है वहां पर प्रजा कभी दुःख नहीं पाती है। इस प्रकार देवांशोत्पन्न, तेजस्वी, न्यायदण्डदाता, प्रजापालक राजाके प्रति प्रजाका क्या क्या कर्त्तव्य है सो आर्यशास्त्रमें बहुधा वर्णित किया गया है। यथा मनुसंहितामेंः—

यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर्विजयश्च पराक्रमे।
मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः॥
तं यस्तु द्वेष्टि सम्मोहात् स विनश्यत्यसंशयम्।
तस्य ह्याशु विनाशाय राजा प्रकुरुते मनः॥
तस्माद् धर्मं यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपः।
अनिष्टञ्चाऽप्यनिष्टेषु तं धर्मं न विचालयेत्॥

जिनके प्रसन्न रहनेसे महती श्रीका लाभ होता है, जिनके पराक्रमसे विजयलाभ होता है और जिनका क्रोध मृत्युका निवास स्थान है ऐसे राजा निश्चय ही सर्वतेजोमय हैं। जो मनुष्य मोहवशात् राजाके साथ द्वेष करता है वह निश्चय ही विनाशको प्राप्त होता है। राजा उसके नाशके लिये शीघ्रही मनःसंयोग करते हैं। अतः शिष्टपालन व दुष्टदमनके वास्ते राजा जो कुछ धर्मनियम संस्थापित करते हैं, उनका उल्लङ्घन करना प्रजाके लिये कदापि कर्त्तव्य नहीं है। राजाके प्रति प्रजाके कर्त्तव्यके विषयमें भीष्म पितामहजीने भी महाभारतमें बहुत कुछ उपदेश किया है। यथा शान्तिपर्वमेंः—

यस्याऽभावेन भूतानामभावः स्यात् समन्ततः।
भावे च भावो नित्यं स्यात् कस्तं न प्रतिपूजयेत्॥
यस्तस्य पुरुषः पापं मनसाऽप्यनुचिन्तयेत्।
असंशयमिह क्लिष्टः प्रेत्याऽपि नरकं व्रजेत्॥
नास्याऽपवादे स्थातव्यं दक्षेणाऽक्लिष्टकर्मणा।
न हि राज्ञः प्रतीपानि कुर्वन् सुखमवाप्नुयात्॥
तस्य सर्वाणि रक्ष्याणि दूरतः परिवर्जयेत्।
मृत्योरिव जुगुप्सेत राजस्वहरणान्नरः॥

जिनके न रहनेसे सर्वत्र जीवोंका अभाव और रहनेसे जीवोंकी स्थिति रहती है ऐसे राजाकी कौन नहीं पूजा करेगा? जो मनुष्य ऐसे राजाके लिये मनसे भी पापचिन्ता करेगा वह निश्चय ही इह लोकमें क्लेशयुक्त व परलोकमें नरकमें जायगा। बुद्धिमान् पुरुषको राजाके किसी प्रकारके अपवादमें भी संश्लिष्ट नहीं रहना चाहिये। उनकी इच्छाके विपरीत आचरण करनेसे प्रजा-को कभी नहीं सुख प्राप्त होता है। उनकी सम्पत्तिके प्रति कदापि लोभ नहीं करना चाहिये। राजस्व हरणसे यमराजकी तरह डरना चाहिये। इस प्रकारसे आर्यशास्त्रमें राजाके प्रति प्रजाका कर्त्तव्य बताया गया है। राज-भक्त प्रजा इन धर्मोंका अनुष्ठान अकपट चित्तसे करने पर प्रजाधर्मपालन द्वारा अवश्य ही इहलोक व परलोकमें सुख शान्तिको प्राप्त करेंगी।

अतःपर संक्षेपसे राजधर्मका वर्णन किया जाता है। मन्वादि शास्त्रमें राजधर्मके विषयमें बहुत कुछ लिखा गया है जो उन ग्रन्थोंके पाठ करनेसे पूर्ण-तया परिज्ञात हो सकेगा। यहाँ पर संक्षेपसे प्रधान प्रधान विषयोंका उल्लेख किया जाता है। मनुजीने लिखा है:—

कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च।
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते॥
कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद्द्वापरं युगं।
कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम्॥

सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि सभी राजाके चेष्टित हैं; अतः राजा-को युग कह सकते हैं। राजा जब प्रजाकी श्रीवृद्धिके प्रति आँखें मूँद लेता है, तब कलि, जब वह राजकार्यमें जागृत रहता है तब द्वापर, जब राजकर्मके अनु-ष्ठानमें अवस्थित रहता है तब त्रेता और जब यथाशास्त्र कर्मानुष्ठान करते हुए स्वच्छन्द विचरण करता है, तब सत्ययुग प्रवर्तित होता है। महाभारतके शान्तिपर्वमें राजाके साथ कलिका अपूर्व सम्बन्ध बताया गया है। यथाः—

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो मा भूद् राजा कालस्य कारणम्॥
दण्डनीत्यां यदा राजा सम्यक् कार्त्स्न्येन वर्त्तते।
तदा कृतयुगं नाम कालसृष्टं प्रवर्त्तते॥

ततः कृतयुगे धर्मो नाऽधर्मो विद्यते क्वचित्।
सर्वेषामेव वर्णानां नाऽधर्मे रमते मनः॥
योगक्षेमाः प्रवर्त्तन्ते प्रजानां नाऽत्र संशयः।
वैदिकानि च सर्वाणि भवन्त्यपि गुणान्युत॥
ऋतवश्च सुखाः सर्वे भवन्त्युत निरामयाः।
प्रसीदन्ति नराणाञ्च स्वरवर्णमनांसि च॥
व्याधयो न भवन्त्यत्र नाऽल्पायुर्दृश्यते क्वचित्।
विधवा न भवत्यत्र कृपणो न तु जायते॥
अकृष्टपच्या पृथिवी भवन्त्योषधयस्तथा।
त्वक्पत्रफलमूलानि वीर्यवन्ति भवन्ति च॥
नाऽधर्मो विद्यते तत्र धर्म एव तु केवलम्।
इति कार्त्तयुगानेतान् धर्मान् विद्धि युधिष्ठिर॥
दण्डनीत्यां यदा राजा त्रीनंशाननुवर्त्तते।
चतुर्थमंशमुत्सृज्य तदा त्रेता प्रवर्त्तते॥
अशुभस्य चतुर्थांशस्त्रीनंशाननुवर्त्तते।
कृष्टपच्यैव पृथिवी भवन्त्योषधयस्तथा॥
अर्द्धं त्यक्त्वा यदा राजा नित्यार्थमनुवर्त्तते।
ततस्तु द्वापरं नाम स कालः सम्प्रवर्त्तते॥
अशुभस्य यदा त्वर्द्धं द्वावंशावनुवर्त्तते।
कृष्टपच्यैव पृथ्वी भवत्यर्द्धफला तथा॥
दण्डनीतिं परित्यज्य यदा कार्त्स्न्येन भूमिपः।
प्रजाः क्लिश्नात्ययोगेन प्रवर्त्तेत तदा कलिः॥
कलावधर्मो भूमिष्ठं धर्मो भवति न क्वचित्।
सर्वेषामेव वर्णानां स्वधर्माच्च्यवते मनः॥
शूद्रा भैक्षेण जीवन्ति ब्राह्मणाः परिचर्यया।

योगक्षेमस्य नाशश्च वर्त्तते वर्णसंकरः ॥
वैदिकानि च कर्माणि भवन्ति विगुणान्युत ।
ऋतवो न सुखाः सर्वे भवन्त्यामयिनस्तथा ॥
ह्रसन्ति च मनुष्याणां स्वरवर्णमनांस्युत ।
व्याधयश्च भवन्त्यत्र म्रियन्ते च गतायुषः ॥
विधवाश्च भवन्त्यत्र नृशंसा जायते प्रजा ।
क्वचिद् वर्षति पर्जन्यः क्वचित् शस्यं प्ररोहति ॥
रसाः सर्वे क्षयं यान्ति यदा नेच्छति भूमिपः ।
प्रजाः संरक्षितुं सम्यग् दण्डनीतिसमाहितः ॥
राजा कृतयुगस्रष्टा त्रेताया द्वापरस्य च ।
युगस्य च चतुर्थस्य राजा भवति कारणम् ॥
कृतस्य करणाद्राजा स्वर्गमत्यन्तमश्नुते ।
त्रेतायाः करणाद्राजा स्वर्गं नाऽत्यन्तमश्नुते ॥
प्रवर्त्तनाद्द्वापरस्य यथाभागमुपाश्नुते ।
कलेः प्रवर्त्तनाद्राजा पापमत्यन्तमश्नुते ॥
ततो वसति दुष्कर्म्मा नरके शाश्वतीः समाः ।
प्रजानां कल्मषे मग्नोऽकीर्त्तिं पापं च विन्दति ॥

काल राजाका कारण है अथवा राजा कालका कारण है इस प्रकार सन्देह होनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि राजा ही कालका कारण है। जिस समय राजा पूर्ण धर्मानुसार दण्डनीतिके द्वारा राज्य पालन करते हैं उसी समय कालकी प्रेरणासे सत्ययुगका उदय होता है। सत्ययुगके उदय होनेसे सभी वर्णोंकी प्रजाओंका मन धर्म पर होता है और अधर्मका नाम भी नहीं रहता है। प्रजाओंका योगक्षेम निःसन्देह निर्वाह होता है और सभी गुण वेदानुकूल होते हैं। समस्त ऋतु सुखमय व रोगरहित होते हैं और मनुष्योंके स्वर, वर्ण व मन प्रसन्नतासे युक्त रहते हैं। देशमें किसी प्रकारकी व्याधि व अल्पायु नहीं देखा जाता है, नारी विधवा नहीं होती है और कृपणता भी

किसीमें नहीं होती है। पृथ्वी कर्षण किये विना ही शस्य प्रदान करती है और औषधि समूह भी स्वतः उत्पन्न होते हैं। त्वक, पत्र, फल व मूल वीर्यवान् होते हैं। उस समय कहीं भी अधर्म नहीं होता है और सर्वत्र केवल धर्म ही रहता है। कृतयुगके ये ही सब लक्षण जानने चाहियें। जिस समय राजा दण्डनीतिके तीन अंशका पालन करते हैं और चतुर्थांशका परित्याग करते हैं उस समय त्रेतायुगका उदय होता है। त्रेतायुगके उदय होनेसे एक अंश अशुभ और तीन अंश शुभ रहता है। पृथ्वी व औषधियां कर्षणके द्वारा ही फल प्रसव करती है। जिस समय राजा दण्डनीनिके दो अंशका त्याग कर प्रजापालन करते हैं उस समय द्वापर युगका उदय होता है। उस समय दो भाग शुभ व दो भाग अशुभ होता है और पृथ्वी कर्षण करने पर भी अर्द्ध फलको उत्पन्न करती है। जिस समय सम्पूर्ण दण्डनीतिको त्याग करके राजा प्रजाको कष्ट दिया करते हैं उस समय कलियुगका उदय होता है। कलियुगमें अधर्म बहुत होता है। कहीं पर धर्म नहीं दिखता है, समस्त वर्णोंका मन धर्मसे च्युत हो जाता है। उस समय शूद्र भिक्षावृत्ति द्वारा और ब्राह्मण सेवावृत्ति द्वारा जीविका निर्वाह करते हैं, सर्वत्र योगक्षेमका नाश व वर्णसङ्कर प्रजाकी उत्पत्ति होती है। समस्त वैदिक कर्म गुणहीन हो जाता है, ऋतुओंका ठीक ठीक सुखकर उदय नहीं होता है और सर्वत्र रोग फैलता है। मनुष्यों का स्वर, वर्ण व मन दुर्वल हो जाता है, व्याधिकी उत्पत्ति होती है और लोग अल्पायु होकर मर जाते हैं। नारी पतिहीना और प्रजा नृशंस हो जाती है, वर्षा व शस्य का अभाव हो जाता है। और समस्त रसोंका क्षय हो जाता है। इस प्रकारसे राजा ही सत्य, त्रेता, द्वापार व कलियुगके कारण होते हैं। सत्ययुगकर्त्ता राजाको अक्षय स्वर्ग मिलता है, त्रेतायुगकर्त्ता राजाको सक्षय स्वर्गलाभ होता है। द्वापर युगकर्त्ता राजाको कर्मानुसार फल मिलता है और कलियुगकर्त्ता राजा विशेष पापभागी होते हैं। एतादृश दुष्कर्मी राजा अनन्तकाल तक नरकमें वास करता है और अकीर्त्ति व पाप दोनों ही प्राप्त करता है। अतः जब राजाके राज्यशासन पर ही धर्माऽधर्म व युगपरिवर्त्तन आदि समस्त ही निर्भर करता है तो उनका कर्त्तव्य है कि अपनी जिम्मेवरीको समझ कर धर्मानुकूल दण्डनीतिका प्रयोग करें अन्यथा वे स्वयं भी राजधर्मसे च्युत होकर पापपङ्कमें निमग्न होंगे और प्रजाको भी अनन्त दुःख सागरमें निमग्न करेंगे। महाभारतमें लिखा है—

लोकरञ्जनमेवाऽत्र राज्ञां धर्मः सनातनः ।
सत्यस्य रक्षणं चैव व्यवहारस्य चाऽऽर्जवम् ॥
आत्मवांश्च जितक्रोधः शास्त्रार्थकृतनिश्चयः ।
धर्मे चाऽर्थे च कामे च मोक्षे च सततं रतः ॥
अक्रोधनो ह्यव्यसनी मृदुदण्डो जितेन्द्रियः ।
राजा भवति भूतानां विश्वास्यो हिमवानिव ॥
पुत्रा इव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवाः ।
निर्भया विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तमः ॥

सत्यरक्षा, व्यवहारमें सरलता व प्रजारञ्जन ही राजा का सनातनधर्म है। आत्मवान्, जितक्रोध, शास्त्रार्थ के द्वारा कृतनिश्चय, धर्मार्थकाममोक्षमें सदा तत्पर, व्यसनदोपशून्य, मृदुदण्ड व जितेन्द्रिय राजा सभीके विश्वासपात्र होते हैं। पितृगृहमें पुत्रकी तरह जिनके राज्यमें प्रजा निर्भय हो कर विचरण कर सकती है वही राजा सर्वश्रेष्ठ है। राजधर्मके विषयमें महाभारतमें और भी कहा है—

संविभज्य यदा भुङ्क्ते नाऽमात्यानवमन्यते ।
निहन्ति बलिनं दृप्तं स राज्ञो धर्म उच्यते ॥
संविभज्य यदा भुङ्क्ते नृपतिर्दुर्बलान्नरान् ।
तदा भवन्ति बलिनः स राज्ञो धर्म जायते ॥
यदा रक्षति राष्ट्राणि यदा दस्यूनपोहति ।
यदा जयति संग्रामे स राज्ञो धर्म उच्यते ॥
यदा सारणिकां राजा पुत्रवत् परिरक्षति ।
भिनत्ति च न मर्यादां स राज्ञो धर्म उच्यते ॥
यदाप्तदक्षिणैर्यज्ञैर्यजते श्रद्धयान्वितः ।
कामद्वेषावनादृत्य स राज्ञो धर्म उच्यते ॥
कृपणाऽनाथवृद्धानां यदाऽश्रु परिमार्जति ।
हर्षं संजनयन् नृणां स राज्ञो धर्म उच्यते ॥

विवर्द्धयति मित्राणि तथाऽरींश्चाऽपि कर्षति।
संपूजयति साधूंश्च स राज्ञो धर्म उच्यते॥
सत्यं पालयति प्रीत्या नित्यं भूमिं प्रयच्छति।
पूजयेदतिथीन् भृत्यान् स राज्ञो धर्म उच्यते॥

जब अपनी सम्पत्ति प्रजाओं में विभक्त करके राजा भोग करते हैं, मन्त्रियोंकी अवमानना नही करते हैं और बलवान् दर्पदुष्ट पुरुषोंका निधन करते हैं तभी राजधर्मका यथार्थ पालन होता है। राजाके दुर्वल पुरुषोंकी सहायता करनेसे राज्यमें बलवान् जन उत्पन्न होते हैं यही राजाका धर्म है। जब राजा राष्ट्ररक्षा, दस्युदमन व संग्राममें विजय लाभ करते हैं तभी राजधर्मका पालन होता है। जब राजा सम्पत्ति-विस्तारकारी वणिक्जनोंकी पुत्रवत् रक्षा करते हैं और किसी प्रकारसे भी मर्यादा भंग नही करते हैं तभी राजधर्म-पालन यथार्थ रूपसे होता है। जब राजा काम व द्वेष को त्याग करने श्रद्धाके साथ दक्षिणायुक्त यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं तभी राजधर्मका पूरा पालन होता है। जब राजा दीन, अनाथ व वृद्धोंका दुःखाश्रु मार्जन करते हैं और समस्त प्रजाओंका आनन्द वर्द्धन करते हैं तभी यथार्थ राजधर्म होता है। मित्रोंकी वृद्धि, शत्रुओंका नाश व साधुजनोंकी पूजाके द्वारा राजधर्मका पालन होता है। प्रीतिके साथ सत्यपालन, नित्य भूमिदान, अतिथि व भृत्योंके प्रतिपालन द्वारा यथार्थ राजधर्मका अनुष्ठान होता है। धर्मके साथ प्रजा-वृद्धिका अमोघ सम्बन्ध रहनेसे राजाके लिये धर्म व धर्मयोनि ब्राह्मणोंका प्रतिपालन परम राजधर्म रूपसे महाभारतमें बताया गया है यथाः—

धर्मे वर्द्धति वर्द्धन्ति सर्वभूतानि सर्वदा।
तस्मिन् ह्रसति हीयन्ते तस्माद् धर्मं न लोपयेत्॥
प्रभवाऽर्थं हि भूतानां धर्मः सृष्टः स्वयम्भुवा।
तस्मात् प्रवर्त्तयेद् धर्मं प्रजाऽनुग्रहकारणात्॥
धर्मस्य ब्राह्मणो योनिस्तस्मात्तान् पूजयेत् सदा।
ब्राह्मणानाञ्च मान्धातः कुर्यात् कामानमत्सरी॥
ब्रह्मवृक्षो रक्ष्यमाणो मधु हेम च वर्षति।
अरक्ष्यमाणः सततमश्रु पापञ्च वर्षति॥

ब्रह्म वर्द्धयति क्षत्रं क्षत्रतो ब्रह्म वर्द्धते।
एवं राज्ञा विशेषेण पूज्या वै ब्राह्मणाः सदा॥

धर्मकी वृद्धिसे भूतोंकी वृद्धि और धर्मके ह्राससे भूतोंका नाश होता है। इसलिये धर्मको लुप्त नहीं करना चाहिये। भूतोंकी पुष्टिके लिये ही श्रीभगवान्ने धर्मका प्रकाश किया है। अतः प्रजानुग्रह-हेतु राजाको अपने राज्यमें धर्मकी प्रतिष्ठा करनी चाहिये। शास्त्रमें ब्राह्मण ही धर्मयोनि कहा गया है इसलिये असूयाशून्य होकर राजाको ब्राह्मणोंकी पूजा करनी चाहिये। ब्रह्मवृक्षकी रक्षाके द्वारा मधु व हेमकी वर्षा होती है और अरक्षासे अश्रु व पापकी वर्षा होती है। ब्राह्मण क्षत्रियकी पुष्टि करते हैं। क्षत्रिय भी ब्राह्मणकी पुष्टि करते है। दोनोंमें परस्पराऽपेक्षित्व विद्यमान है। इसलिये राजाका कर्त्तव्य है कि विशेष रूपसे ब्राह्मणोंकी सेवा करे। यदि राजा धर्म व तद्योनि ब्राह्मणोंकी सेवा न करेंगे तो इसका क्या फल होगा सो महाभारतमें वर्णित है।

क्षत्रियस्य प्रमत्तस्य दोषः सञ्जायते महान्।
अधर्माः सम्प्रवर्द्धन्ते प्रजासङ्करकारकाः॥
अशीते विद्यते शीतं शीते शीतं न विद्यते।
अवृष्टिरतिवृष्टिश्च व्याधिश्चाऽप्याविशेत् प्रजाः॥
नक्षत्र्याण्युपतिष्ठन्ति ग्रहा घोरास्तथागते।
उत्पाताश्चाऽत्र दृश्यन्ते बहवो राजनाशनाः॥
अरक्षितात्मा यो राजा प्रजाश्चाऽपि न रक्षति।
प्रजाश्च तस्य क्षीयन्ते ततः सोऽनुविनश्यति॥

क्षत्रिय राजाके प्रमत्त होनेसे महान् दोष उत्पन्न होता है। अधर्म की वृद्धि होती है और प्रजाओंमें वर्णसङ्करता फैलती है। असमयमें शीत और शीत के समय शीत नहीं होना है, अनावृष्टि, अतिवृष्टि और प्रजाओंमें व्याधि उत्पन्न होती है। अनिष्टकर ग्रह, नक्षत्र, धूमकेतु आदि का अत्याचार देखनेमें आता है जिससे राज्यनाश की शङ्का होने लगती है। इस प्रकारसे अरक्षितात्मा जो राजा प्रजाकी भी रक्षा नहीं करते हैं उनका प्रजा-क्षय होता है और तदन तर वे भी नाशको प्राप्त होते हैं। राजधर्म सम्बन्धमें महर्षि याज्ञवल्क्यजीने लिखा है:—

नाऽतः परतरो धर्मो नृपाणां यदुपर्जितम्।
विप्रेभ्यो दीयते द्रव्यं प्रजाभ्यश्चाऽभयं तथा॥
य आहवेषु बध्यन्ते भूम्यर्थमपराङ्मुखाः।
अकूटैरायुधैर्यान्ति ते स्वर्गं योगिनो यथा॥
पदानि क्रतुतुल्यानि भग्नेष्वविनिवर्तिनाम्।
राजा सुकृतमादत्ते हतानां विपलायिनाम्॥
तवाऽहं वादिनं क्लीवं निर्हेतिं परसङ्गतम्।
न हन्याद् विनिवृत्तञ्च युद्धप्रेक्षणकादिकम्॥
ब्राह्मणेषु शमी स्निग्धेष्वजिह्मः क्रोधनोऽरिषु।
स्याद् राजा भृत्यवर्गेषु प्रजासु च यथा पिता॥
पुण्यात् षड्भागमादत्ते न्यायेन परिपालयन्।
सर्वदानाधिकं यस्मात् प्रजानां परिपालनम्॥
अरक्ष्यमाणाः कुर्वन्ति यत्किञ्चित् किल्बिष प्रजाः।
तस्माच्च नृपतेरर्द्धं यस्माद् गृह्णात्यसौ करान्॥
अन्यायेन नृपो राष्ट्रात् स्वंकोषं योऽभिवर्द्धयेत्।
सोऽचिराद् विगतश्रीको नाशमेति सबान्धवः॥
प्रजापीडनसन्तापसमुद्भूतो हुताशनः।
राज्ञः कुलं श्रियं प्राणान् नाऽदाध्वा विनिवर्तते॥

ब्राह्मणोंको धनदान और प्रजाओंको अभयदानसे अधिकतर उत्तम धर्म राजाओंके लिये और कुछ भी नहीं है। राज्यरक्षाके लिये सन्मुख संग्राममें निहत राजा, योगियों की तरह ऊर्द्ध्व गति लाभ करते हैं। निज सैन्योंके रणपराङ्मुख होने पर भी जो राजा शत्रुओंके अभिमुखीन होते हैं उनको प्रतिपदक्षेपमें अश्वमेध यज्ञका फल लाभ होता है। तवाहंवादी, क्लीव, निरस्त्र, अन्यके साथ युद्धासक्त, युद्धविमुख, युद्धदर्शी व वन्दीगण चारणादिको युद्धके समय आघात नहीं करना चाहिये। राजा ब्राह्मणगणके प्रति क्षमा प्रेमपात्रके प्रति सरलता, शत्रुके प्रति क्रोध और सेवक व प्रजाओंके

प्रति पिताकी तरह आचरण करेंगे। न्यायानुसार प्रजापालनकारी राजाको प्रजाके पुण्य का षष्ठांश प्राप्त होता है क्योंकि प्रजापालन भूमि आदि समस्त वस्तुओंके दानसे अधिक फलका देनेवाला है। प्रजापालनाभावसे अरक्षित प्रजागण जो कुछ असत्कार्य करते हैं, राजा उसके अर्द्धांशके भागी होते हैं क्योंकि रक्षाहेतु ही राजा प्रजासे कर ग्रहण करते हैं। अन्याय पूर्वक राज्यसे अर्थसंग्रह करके जो राजा निज राजकोष वृद्धि करते हैं, वे शीघ्रही श्रीभ्रष्ट होकर सबान्धव नाशको प्राप्त होते हैं। प्रजापीडन सन्तापसे उत्पन्न अग्नि राजाका वंश, लक्ष्मी व प्राण पर्यन्त दग्ध न करके निवृत्त नही होती है। मनुसंहिताके सप्तम अष्टम अध्यायमें राजधर्मके विषयमें वहुत कुछ वर्णन किया गया है जिसमेंसे कुछ कुछ प्रमाण नीचे उद्धृत किया जाता है:—

तस्याऽऽहुः सम्प्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् ।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामाऽर्थकोविदम् ॥
तं राजा प्रणयन् सम्यक् त्रिवर्गेणाऽभिवर्द्धते ।
कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ॥
ततो दुर्गञ्च राष्ट्रञ्च लोकञ्च सचराचरम् ।
अन्तरीक्षगतांश्चैव मुनीन् देवांश्च पीडयेत् ॥
स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याद्भृशदण्डश्च शत्रुषु ।
सुहृत्स्वजिह्मः स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः ॥
एवं वृत्तस्य नृपतेः शिलोञ्छेनाऽपि जीवतः ।
विस्तीर्यते यशो लोके तैलबिन्दुरिवाऽम्भसि ॥

महर्षियोंने सत्यवादी, विमृश्यकारी, प्राज्ञ व धर्मार्थकाम-तत्त्ववित् राजा को ही यथार्थ दण्डदानकर्त्ता कहा है। विचार पूर्वक दण्डविधान करनेसे धर्मार्थकामरूप त्रिवर्गो की वृद्धि होती है और क्षुद्र, कामात्मा व विषमप्रकृतिक राजा दण्डापराधसे स्वयं ही निधन प्राप्त होते हैं। अन्यायदण्ड राजदुर्ग, स्थावर अस्थावर सम्पत्ति, समस्त राज्य और अन्तरीक्षगत ऋषि व देवताओं को भी दुःख प्रदान करता है। अपने राज्यमें न्यायानुसार दण्डविधान, शत्रुको तीक्ष्णदण्डदान, आत्मीय स्वजनोंके प्रति सरल व्यवहार और ब्राह्मणोंके प्रति क्षमाशीलता इन सब सद्गुणोंसे विभूषित नृपति यदि अच्छी वृत्तिके द्वारा भी

जीविका निर्वाह करें तथापि उनका यश सलिलस्थित तैलविन्दुकी नाई विस्तारको प्राप्त हो जाता है।

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्याद् दण्डनीतिं च शाश्वतीम्।
आन्वीक्षिकीं चाऽऽत्मविद्यां वार्त्तारम्भांश्च लोकतः॥
इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम्।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः॥
दश कामसमुत्थानि तथाऽष्टौ क्रोधजानि च।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत्॥
कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः।
वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु॥
मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः।
तौर्य्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः॥
पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्षाऽसूयाऽर्थदूषणम्।
वाग्दण्डजञ्च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः॥

त्रिवेदज्ञ ब्राह्मणोंसे वेदत्रय शिक्षा और अर्थशास्त्रज्ञ पण्डितोंसे दण्डनीतिकी शिक्षा, तार्किक व वेदान्तिकोंसे तर्कशास्त्र व ब्रह्मविद्याकी शिक्षा और कृषि वाणिज्य व पशुपालनादि द्वारा धनोपार्जन शिक्षा भी तत्तद्विषयाभिज्ञ जनोंसे राजा अवश्य प्राप्त करें। इन्द्रियोंपर आधिपत्य लाभ करनेके लिये राजाको सर्वदा सचेष्ट रहना चाहिये। क्योंकि जितेन्द्रिय राजा ही अपनी प्रजाओंको वशीभूत रख सकते हैं। दशविध कामज व्यसन और अष्टविध क्रोधज व्यसनका राजाको अवश्य ही त्याग करना चाहिये। कामज व्यसनमें आसक्त नृपति धर्म व अर्थसे वञ्चित होते हैं और क्रोधज व्यसनमें आसक्त नृपति प्राणसे भी वञ्चित हो सकते हैं। मृगया, पाशक्रीड़ा, दिवानिद्रा, परदोषकथन, स्त्रियोंमें आसक्ति, मदजनितमत्तता, वाद्य, नृत्य गीत व वृथा पर्यटन ये दश दोष कामज हैं। पिशुनता (अविज्ञातदोषाविष्कार), दुःसाहस, द्रोह, ईर्षा, असूया, परधनहरण, कठिन वाक्य व कठिन दण्ड प्रदान ये आठ क्रोधज दोष हैं।

मौलान् शास्त्रविदः शूरान् लब्धलक्षात् कुलोद्गतान् ।
सचिवान् सप्त चाऽष्टौ च प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥
तैः सार्द्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं सन्धिविग्रहम् ।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥

पुरुषानुक्रमसे राजकर्मचारी, वेदादि धर्मशास्त्रमें पारदर्शी, स्वयं शूर, युद्ध विद्यामें निपुण, सत्कुलोद्भव, व परीक्षित सात या आठ मन्त्री राजाके पास रहने चाहिये। सन्धि, विग्रह, चतुर्विध सेनाओंका पोषण, राजस्ववर्द्धन, प्रजारक्षण और उपार्जित अर्थका सत्पात्रमें दान, इन सब विषयोंमें मन्त्रियोंके साथ राजाको सत्परामर्श करना चाहिये।

समोत्तमाधमै राजा त्वाहूतः पालयन् प्रजाः ।
न निवर्त्तेत संग्रामात् क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥
संग्रामेष्वनिवर्त्तित्वं प्रजानाञ्चैव पालनम् ।
शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम् ॥
आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः ।
युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ॥
यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परैः ।
भर्त्तुर्यद्दुष्कृतं किञ्चित् तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥
यच्चाऽस्य सुकृतं किञ्चिदमुत्राऽर्थमुपार्जितम् ।
भर्त्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु ॥

प्रजापालक राजा समबल, हीनबल अथवा अधिकबल विपक्ष नरपति द्वारा युद्धार्थ आहूत होकर, युद्ध ही क्षत्रियका धर्म है इस वाक्यको स्मरण करके कभी युद्धसे विरत नहीं होंगे। ब्राह्मणसेवा, प्रजा-पालन और संग्राममें अपराङ्मुखता ये सब राजाके परम श्रेयस्कर धर्म हैं। रणक्षेत्रमें यथाशक्ति परस्पर हननकारी अपराङ्मुख युद्धनिरत नरपतिगण देहान्तमें स्वर्गलाभ करते हैं। रणमें भयभीत व रण छोड़कर पलायनोद्यत योद्धाके शत्रु-हस्तसे निधन प्राप्त होने पर वह उसके प्रतिपालक नरपतिके समस्त पापराशिको प्राप्त करता है। और उसका परलोकलाभ तथा समस्त पुण्य उसके भर्त्ताको प्राप्त होता है।

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः।
नित्यं संवृतसंवार्यो नित्यं छिद्राऽनुसार्यरेः॥
बकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत्।
वृकवच्चाऽवलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत्॥
एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः।
तानानयेद्वशं सर्वान् सामाऽऽदिभिरुपक्रमैः॥

सर्वदा सेनाओंको सुशिक्षाप्रदान, सदा पौरुष प्रदर्शन, मन्त्रणा व चारचेष्टा, सदा संगोपन व शत्रुओंका छिद्रान्वेषण करना राजाका कर्त्तव्य है। बककी तरह अर्थचिन्ता, सिंहकी तरह पराक्रम प्रदर्शन, व्याघ्रकी तरह शिकार और दुर्बल होनेपर शशककी तरह पलायन करना चाहिये। इस प्रकारसे विजयार्थ सर्वथा प्रस्तुत राजाका जो विरुद्धाचरण करेगा उसे साम, दाम, भेद, दण्ड इन चतुर्विध उपायोंसे वशीभूत करना राजाका कर्त्तव्य है।

नोच्छिद्यादात्मनो मूलं परेषाञ्चाऽतितृष्णया।
उच्छिन्दन् ह्यात्मनो मूलमात्मानं तांश्च पीडयेत्॥
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात् कार्यं वीक्ष्य महीपतिः।
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति सम्मतः॥
एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान् समापयन्।
व्यपोह्य किल्विषं सर्वं प्राप्नोति परमांगतिम्॥

प्रजाओंके प्रति अति स्नेहवशात् कुछ भी कर न लेकर अपना मूलच्छेदन अथवा अतितृष्णावशात् प्रजाका सर्वस्व ग्रहण करके उनका मूलच्छेदन करना राजाका कर्त्तव्य नहीं है। कार्य्यानुरोधसे राजाको कभी मृदु और कभी तीव्र होना चाहिये। इस प्रकार मृदु व तीव्र भावधारी राजा सभीके प्रिय होते हैं। इस प्रकारसे शास्त्रनिर्दिष्ट समस्त राजधर्मका अनुष्ठान करनेसे राजा सर्वपापनिर्मुक्त होकर अन्तमें परम गतिको प्राप्त करते हैं।

यही संक्षेपसे राजा व प्रजाधर्मका वर्णन किया गया। इसका विस्तृत वर्णन मन्वादि शास्त्रमें देखना उचित है।

तृतीय समुल्लासका सप्तम अध्याय समाप्त हुआ।

प्रवृत्तिधर्म्म और निवृत्तिधर्म्म।

विशेष धर्म्मके अनेक अङ्गोंमेंसे प्रवृत्तिधर्म्म और निवृत्तिधर्म्म ये दोनों बहुत ही आवश्यकीय अङ्ग हैं। इन दोनोंके रहस्यको समझे विना विशेष धर्म्मका स्वरूप ठीक ठीक समझ में नहीं आ सकता। सृष्टिप्रवाह द्वन्द्व-मूलक होने के कारण जिस प्रकार सृष्टिके सब स्थूल और सूक्ष्म अङ्ग द्वन्द्व-स्वरूप होकर दो दो रूपको धारण करते हैं उसी प्रकार प्रवृत्तिधर्म्म और निवृत्ति धर्म्मको भी समझना उचित है। जिस प्रकार सूक्ष्म राज्यमें क्लिष्ट-वृत्ति और अक्लिष्टवृत्ति पाप और पुण्य, सुख और दुःख, स्वर्गलोक और नरक लोक, सप्त अधोलोक और सप्त ऊर्द्ध्वलोक, प्रेतलोक और पितृलोक, असुर और देवता आदि द्वन्द्व मूलक सृष्टि है उसी प्रकार स्थूलराज्यमें भी उजेला और अन्धेरा, दिन और रात, दुःखदायी विषय और सुखदायी विषय, शत्रु और मित्र, द्वेषमूलक पदार्थ और रागमूलक पदार्थ, स्त्रीसृष्टिप्रवाह और पुरुषसृष्टि-प्रवाह, सात्विक सृष्टिप्रवाह यथा—गाय घोड़ा आदि और तामसिक सृष्टिप्रवाह यथा-भैंस गधा आदि, उद्भिज्ज आदि की विषमयी प्रकृति और अमृतमयी प्रकृति आदि द्वन्द्वमूलक सृष्टि है। ठीक इसी शैली पर अनादि अनन्त रूपधारी धर्म्म रूपी महार्णव में प्रवृत्तिधर्म्म और निवृत्तिं धर्म्म की दो धाराएँ अखिल मानव सृष्टिकी कल्याणप्रद हैं।

प्रवृत्तिधर्म्म और निवृत्तिधर्म्मकी क्रियाशैलीके अनुसार ये दोनों द्वन्द्वमूलक होने पर भी लक्ष्यके अनुसार दोनों ही एक हैं। संसारकी अन्यान्य सृष्टि जिस प्रकार एक दूसरे से विरुद्ध पथगामी होने के कारण एक दूसरे से बिलकुल विरुद्ध है, फल के विचार से प्रवृत्तिधर्म्म और निवृत्तिधर्म्म वैसे नहीं हैं। यद्यपि प्रवृत्तिधर्म्मकी क्रिया निवृत्तिधर्म्मकी क्रियासे एक वारही विरुद्ध है, यद्यपि प्रवृत्तिधर्म्मके साधक के आचार से निवृत्ति धर्म्म के साधक का आचार एक वारही विपरीत प्रतीत होता है और यद्यपि प्रवृत्तिधर्म्मके अधिकारी और निवृत्तिधर्म्मके अधिकारी इन दोनोंके अन्तः करणका भाव एक दूसरेसे विरुद्ध रहता है; परन्तु दोनों प्रकारके धार्म्मिक अन्तमें एक ही लक्ष्य स्थल पर पहुंच जाते हैं। अवश्य दोनोंकी गतिमें और दोनोंके देशकालमें अनेक व्यवधान हैं परन्तु दोनोंका गन्तव्य स्थल एक ही है। प्रवृत्तिमार्गका अधिकारी धार्म्मिक कामनाको मुख्य रख

कर आचार्य्य गुरु और शास्त्र आदिके उपदेशके अनुसार धीरे धीरे चलता हुआ भावशुद्धिपूर्व्वक अपनी वासनाओंको घटाता हुआ धर्म्मकी अलौकिक और अपरिमित शक्तिके वलसे अध्यात्म राज्यमें पहुँच कर वहु देश कालमें फिरता हुआ परा वैराग्य भूमिमें पहुँच कर मुक्तिका अधिकारी हो जाता है। और निवृत्तिधर्म्मका अधिकारी विषयवैराग्यशील धार्म्मिक व्यक्ति पहले ही से कामना त्यागका अभ्यास करता हुआ विषय भोगसे मुँह फिरा कर शीघ्र ही अध्यात्म राज्यमें पहुँच कर पर वैराग्यका अधिकारी होता हुआ मुक्त हो जाता है। धर्म्मस्वरूपसे धर्म्म व्यापक होनेसे वह भगवच्छक्तिरूप धर्म्म जिस प्रकार प्रवृत्तिधर्म्म पथगामी पथिकको उन्नत करता जाता है उसी प्रकार निवृत्तिमार्गके पथिकको भी उन्नत करता जाता है; पहुँचते हैं दोनों एक ही मुक्तिभूमिपर; केवल भेद इतना ही है कि दोनों की गति और दोनोंके मार्ग अलग अलग है। लक्ष्यके विचारसे दोनों ही धर्म्ममार्ग होने पर भी साधकके अधिकार, साधकके अन्तः करणका भाव, और साधकके आचारके सम्वन्धसे दोनों एक दूसरेसे विरुद्ध होनेके कारण ये धर्म्म द्वन्द्वमूलक है।

वर्णधर्म्म और आश्रमधर्म्मके अध्यायोंमें पहले ही कहा गया है कि वर्णधर्म्म तो प्रवृत्ति रोधक है और आश्रमधर्म्म निवृत्ति पोशक है। वर्णधर्म्म प्रधानतः प्रवृत्तिधर्म्मको ही निभाता हुआ क्रमशः मनुष्यकी उच्छृङ्खल प्रवृत्तिको रोकता हुआ आर्य्य जातिके मनुष्योंको मुक्तिभूमिमें पहुँचा देता है। उसी प्रकार आश्रम धर्म्म क्रमशः आर्य्यजातिके मनुष्योंमें निवृत्ति-धर्म्मकी वृद्धि करता हुआ आर्य्यजातिको मुक्ति भूमिमें पहुंचा देता है।

वेदने मनुष्योंके देहान्तके अनन्तर उनकी क्रमोन्नतिकी दो गति स्पष्ट रूपसे वर्णन की है यथाः—

ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासा ँ स्तान्। मासेभ्यः संवत्सर ँ संवत्सरादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनां ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति। अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरमक्षमपरपक्षाद्यान् षड्दक्षिणैति मासा ँ स्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवान्ति। मासेभ्य पितृलोकं पितृ-

लोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति। तस्मिन् यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाऽध्वानं पुनर्निवर्तन्ते।

—छान्दोग्य ५ प्रपाठक १० खण्ड

निवृत्तिपरायण जो तपस्विगण श्रद्धाके साथ अरण्यमें निवास करके उपासना व ज्ञानमार्गमें अग्रसर होते हैं उनकी गति देहावसानमें अर्चिरादि लोक अर्थात् सूर्य द्वार पन्थाके आश्रयसे होती है। वे अर्चिरभिमानिनी देवताके लोकसे दिवसाभिमानिनी देवताके लोक, तदनन्तर आपूर्यमाणपक्ष देवता, षण्मास देवता, संवत्सर देवता, आदित्य देवता, चन्द्रमा देवता, विद्युत् देवता इस क्रमसे भिन्न भिन्न देवताओंके लोक अतिक्रम करनेके बाद उनको एक अमानव पुरुष ब्रह्मलोकमें ले जाते हैं। यही देवयान पन्था है जहांसे उपासकको संसारमें पुनरावर्तन करना नहीं पड़ता है किन्तु ब्रह्मलोकसेही निःश्रेयस पदकी प्राप्ति होजाती है। दूसरी ओर जो गृहस्थ लोग अपने गृहस्थाश्रममें ही रह कर इष्टापूर्त्तादिका अनुष्ठान करते हैं वे मृत्युके बाद धूमयान अर्थात् पितृयान मार्गसे ऊपर जाते हैं। उनको क्रमशः धूमाभिमानिनी देवता, रात्रिदेवता, कृष्ण पक्षदेवता, मासदेवता व दक्षिणायन देवताके लोकको अतिक्रम करके संवत्सराभिमानिनी देवताके लोक प्राप्त होते हैं। इस प्रकारसे पितृलोक व आकाशके भीतरसे गति होकर अन्तमें उनको चन्द्रदेवताका लोक प्राप्त होता है जहां पर चन्द्र राजा है। चन्द्रलोकमें वे जीव तत्रत्य देवताओंके उपभोग्य बनकर उनके साथ क्रीडा करते हैं। वहां पर कर्मक्षय-कालपर्यन्त निवास करके जिस मार्गसे चन्द्रलोक प्राप्त हुआ था उसी मार्गसे जीव की संसारमें पुनरावृत्ति होती है।

श्रीगीताजीमें भी श्रीभगवान्ने कहा है किः—

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्त्तते पुनः ॥

जिस कालमें गमन करनेसे योगिगण अनावृत्ति व आवृत्तिको प्राप्त करते हैं सो बताया जाता है। अग्निरभिमानिनी देवता, ज्योतिरभिमानिनी देवता, दिवसाभिमानिनी देवता, शुक्लपक्ष देवता व उत्तरायणदेवता इन सबके द्वारा अधिष्ठित मार्गोंको अतिक्रम करके जो देवयान गति है उससे ब्रह्मनिष्ठ योगिगण पुनरावृत्त न हो कर क्रमोर्द्ध्व गति द्वारा ब्रह्मपदको प्राप्त करते हैं। परन्तु दूसरी गति जो पितृयान या धूमयानगति कहलाती है उसमें धूमाभिमानिनी देवता, रात्र्यभिमानिनी देवता, कृष्णपक्ष देवता, व दक्षिणायन देवता इन सबके द्वारा अधिष्ठित मार्गोंको अतिक्रम करके चन्द्रलोकमें जाना होता है। इस प्रकार गतिके प्राप्त होनेसे योगीको भोगान्तमें पुनः संसारमें प्रत्यावर्त्तन करना पड़ता है। यही अनावृत्ति तथा आवृत्ति परिणामिनी शुक्ला व कृष्णा गति विश्वजगत्में अनादि प्रसिद्ध है।

इस वर्णनसे स्पष्ट होता है कि प्रेतत्व नरक आदि अधोगामी गतिको छोड़ देनेसे ऊर्द्ध्वगामी गति जो मनुष्योंको पुण्यकर्म्मोंसे प्राप्त होती हैं सो दो हैं। दोनोंमें मनुष्योंको उत्तरोत्तर सुख ही प्राप्त होता है, केवल चन्द्रगतिके सुखमें ज्ञानकी कमी है और सूर्य्यगतिके सुखमें ज्ञानकी अधिकता है। दोनों गतियोंमें ही मनुष्य नीचेकी ओर नहीं उतरता है ऊपरकी ओर ही चढ़ता रहता है; भेद इतना ही है कि चन्द्रगतिमें मनुष्य पितृलोक तथा स्वर्गलोक आदिमें पहुँच कर वहाँका सुख भोगकर पुनः पृथ्वी ही लोकमें जन्म लेता हुआ प्रवृत्ति जनित शुभकर्म्म करते करते पुनः उसी प्रकार स्वर्गादि उच्चलोकोंमें आना जाना जारी रख कर क्रमशः आत्मोन्नति करता है और सूर्य्यगतिमें मनुष्य निवृत्तिप्रधान कर्म्म करता हुआ ऐसे उन्नत लोकोंको प्राप्त करता है कि जहाँसे पुनरावृत्ति नहीं होती किन्तु वह अधिकारी क्रमशः उन्नत होता हुआ अध्यात्मिक उन्नत अधिकारको प्राप्त करके मुक्त हो जाता है। चन्द्रगतिमें स्वर्गसुख और उन्नततर सकाम कर्म करते करते अध्यात्मिक उन्नतिकी अवस्थामें अग्रसर होना होता है और सूर्य्य गतिमें एकवार ही ऐसे उन्नत लोकोंमें पहुँचना होता है कि जहाँसे पुनरावृत्ति नहीं होती और स्वतः आध्यात्मिक उन्नति होती रहती है। दोनों ही मार्ग उन्नतिके हैं, एकमें सकामभावकी अधिकताके साथ भोग परायणता

बनी रहती है और दूसरेमें भोगपरायणता पहले हीसे नहीं रहती और कामना-की न्यूनताके साथ ज्ञानकी अधिकता रहती है। ठीक इसी उदाहरणके अनुसार प्रवृत्तिधर्म और निवृत्ति धर्मको समझना उचित है।

श्रीगीताजीमें श्रीभगवान्‌ने मुक्तिकी अवस्था और मुक्तिके पथकी शैली दो प्रकारसे वर्णनकी है। एक कर्मयोग द्वारा और एक सांख्ययोग द्वारा, उनका वर्णन इस प्रकारसे हैः—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥

मुक्तिपथमें अग्रसर हो उन्नति प्राप्त होनेके लिये ज्ञाननिष्ठ साधकके लिये ज्ञानयोग व कर्मनिष्ठ साधकके लिये कर्मयोग ये दो साधन विहित हैं। इनमेंसे ज्ञानयोगका लक्षण, यथाः—

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्याऽऽस्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्ज्जुन ।
ज्ञानाऽग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥
नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनाऽऽत्मनि विन्दति ॥
श्रेयान द्रव्यमयाद् यज्ञाद् ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माऽखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥
यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥
नैव तस्य कृतेनाऽर्थो नाऽकृतेनेह कश्चन ।
न चाऽस्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥
नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्ववित् ।
पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन् ॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।

इन्द्रियाणीन्द्रियाऽर्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥
योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथाऽन्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥

ज्ञानयोगी महात्मा मनसे समस्त कर्मको त्याग करके नवद्वारपुरी रूप शरीरमें निष्क्रिय होकर सुखसे अवस्थान करते हैं। जिस प्रकार प्रज्वलित वह्नि काष्टको भस्मसात् करती है उसी प्रकार ज्ञान रूप अग्निके द्वारा समस्त कर्म भस्म हो जाता है। ज्ञानके सदृश पवित्र वस्तु संसारमें और कुछ भी नहीं है। यह ज्ञानयोगमें सिद्धिलाभ करके बहुकालके अनन्तर आत्मामें प्राप्त होता है। द्रव्यमय यज्ञसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठतर है, ज्ञानमें समस्त कर्मोंका लय होता है। जो महात्मा आत्मरति, आत्मतृप्त और आत्मामें ही सन्तुष्ट रहते हैं उनको कार्य करनेकी आवश्यकता नहीं रहती है। उनके लिये न तो किसी क्रियासे प्रयोजन ही रहता है और न अक्रियासे ही कोई प्रयोजन रहता है। समस्त संसारमें किसी मनुष्यके साथ इनका कोई प्रयोजन-सम्बन्ध भी नहीं रहता है। तत्वदर्शी महात्मा स्वरूपस्थित रह कर समस्त इन्द्रियोंकी चेष्टा करने पर भी "इन्द्रियोंका विषय इन्द्रियोंसे हो रहा है मुझसे उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है" इस प्रकार अनुभव द्वारा श्रवण, दर्शन, स्पर्शन, ग्रहण, घ्राण, त्याग आदि विषयोंके अनुष्ठानमें निर्लिप्त रह सकते हैं। जो योगी पुरुष अन्तःसुख, अन्तराराम और आत्मज्योतिःसम्पन्न होते हैं वे ब्रह्मरूप होकर निर्वाणमुक्तिको प्राप्त करते हैं। उसीप्रकार कर्मयोगके विषयमें लिखा हैः—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः ॥
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पुरुषः ।
यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वाऽतीतो विमत्सरः ॥

समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबध्यते ॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाऽम्भसा ॥
कायेन मनसा बुद्‌ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥

कर्मका अनुष्ठान न करनेसे पुरुषको निष्कर्मता प्राप्त नहीं होती है और कर्मत्यागके द्वारा सिद्धि नहीं प्राप्त होती है। सदा ही कर्मका अनुष्ठान करना चाहिये, कर्मके न करनेसे करना ही अच्छा है क्योंकि कर्म न करने पर शरीर-यात्रा भी नहीं सिद्ध हो सकती है। यज्ञके लिये कर्म न करके आत्मभावसे कर्म करने पर बंधन प्राप्त होता है इसलिये यज्ञबुद्धिसे सङ्गरहित होकर कर्म करना चाहिये। अनासक्त होकर कर्मानुष्ठान द्वारा परम पुरुष प्राप्त होते हैं। यदृच्छालाभसंतुष्ट, द्वंद्वातीत, मत्सरहीन और सिद्धि असिद्धिमें समभावापन्न महात्मा कर्म करनेपर बंधनप्राप्त नहीं होते हैं। निःसङ्ग होकर ब्रह्ममें सर्वकर्म समर्पण पूर्वक कार्य करनेसे कमलदलस्थित सलिलकी तरह कर्मयोगी बंधनको प्राप्त नहीं होते हैं। योगिगण आत्मशुद्धिके लिये सङ्गरहित होकर शरीर, मन, बुद्धि व इन्द्रियोंके द्वारा कर्म करते हैं। इस प्रकारसे युक्त कर्मयोगी कर्मफल त्याग करके कर्मयोग द्वारा स्वरूपकी शान्तिको प्राप्त करते हैं परन्तु अयुक्त पुरुष सकाम कर्म द्वारा कर्मफलमें आसक्त होकर संसारमें बद्ध होजाते हैं।

इन दोनों योग मार्गोंके द्वारा साधकोंको अन्तमें एकही स्थान प्राप्त होता है। इस विषयमें श्रीभगवान् ने गीताजीमें कहा है:—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥

अज्ञानी लोग ही ज्ञानयोग व कर्मयोगको पृथक् पृथक् कहते हैं, ज्ञानी लोग ऐसा नहीं कहते हैं क्योंकि इन दोनोंमेंसे किसीका भी आश्रय करने पर

दोनोंका ही फल मिल जाता है। ज्ञानयोगके द्वारा जो पद प्राप्त होता है, कर्म योगके द्वारा भी वही पद मिलता है। जो महात्मा इन दोनों योगोंको एक समझते हैं वे ही यथार्थदर्शी है।

अब इन दोनों मार्गोंके द्वारा प्रकृति व प्रवृत्तिके अनुसार भिन्न भिन्न संस्कारके आश्रयसे विविध अवान्तर दशाओंको प्राप्त होते हुए कर्मयोगी व सांख्ययोगी अन्तमें कैसे निर्वाण पदवीको लाभ करते हैं, सो नीचे क्रमशः बताया जाता है।

इन दोनों शैलियों पर विशेषरूपसे ध्यान देनेसे प्रवृत्तिधर्म्म और निवृत्ति-धर्म्मके स्वरूप और गतिके समझनेमें सुगमता होगी। अनादि वासनाका स्वरूप वैचित्र्यपूर्ण होनेके कारण मनुष्योंकी प्रकृति और प्रवृत्ति एक ढंगकी नहीं होती, विशेषतः श्रीभगवान्‌ने निज मुखसे गीतामें कहा है कि जिसकी जैसी प्रकृति पूर्व संस्कारोंसे बनती है वह प्रकृति बलपूर्व्वक कार्य करा लिया करती है। यथा श्रीमद्भगवद्गीतामें—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥
सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥

कर्म न करके क्षणभर भी कोई नही रह सकता है। प्राकृतिक गुणोंसे बद्ध जीवोंको विवश होकर कार्य करना पड़ता है। प्रकृतिके गुणोंमें मुग्ध होकर जीव कर्ममें आसक्त हो जाता है इसलिये तत्त्ववेत्ता लोग इस प्रकार अधिकारीको स्वाधिकारानुकूल मार्गसे विचलित न करें। ज्ञानी लोग भी अपनी प्रकृतिके अनुरूप कार्य करने लगते हैं। समस्त जीव प्रकृतिके ही अधीन होकर चलते हैं उसमें निग्रह क्या करेगा?

अतः प्रकृति वैचित्र्यके कारण धर्मके पथमें चलने वाला पथिक अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार कोई सांख्ययोग और कोई कर्मयोगके अवलम्बनसे मुक्तिभूमिमें अग्रसर होता है। सांख्ययोगके अवलम्बनसे अग्रसर होने वाले योगी पहलेहीसे कर्ममें रुचि कम रखते हैं और कर्मयोगी कर्ममें ही विशेष रुचि रखता है। वासना वैचित्र्यके कारण पहलेहीसे सांख्ययोगी विचारको

अधिक आदरणीय समझ कर विचारके अवलम्बनसे अपनी ज्ञानशक्तिको बढ़ाता हुआ कर्मसे सावधान बना रहता है और जो कुछ कर्म करता है सो ज्ञानके अवलम्बनसे विचारके सहित करता है। दूसरी ओर कर्मयोगी विचारका विशेष प्रयोजन नहीं समझता और कर्ममें ही स्वाभाविक रुचि रखता है, वह केवल वासनाका त्याग करनेमें स्वभावतः रुचि रखता है और जैसा अवसर आता है वैसेही कर्त्तव्य बुद्धिसे कर्म करता हुआ निश्चिन्त रहता है। सांख्ययोगी एक प्रकारसे कर्मत्यागी परन्तु ज्ञानसे सावधान होता है। परन्तु कर्मयोगी कर्महीमें रत परन्तु सर्वथा निश्चिन्त रहता है। इन दोनों पथोंको इस प्रकारसे समझ सकते हैं कि कर्मचक्रमें भ्रमण करते हुए मनुष्य जब उन्नततर भूमिमें पहुँच जाते हैं उस समय अनादि वासनाके वैचित्र्यके कारण मनुष्योंकी प्रकृति दो प्रकारकी बन जाती है, उसी समय किसीमें प्रवृत्तिधर्म और किसीमें निवृत्तिधर्म पालन की प्रवृत्ति और शक्ति अपने आपही उत्पन्न हो जाती है। प्रवृत्तिधर्मका अधिकारी व्यक्ति धर्मोन्नति चाहता है, परलोकको इस लोकसे अधिक समझता है, उसमें विषय वैराग्य भी उत्पन्न होजाता है, परन्तु वह जो कुछ धर्म साधन करता है उसमें धर्मोन्नतिकी इच्छा रखता हुआ पुण्य और पुण्यफलरूपी पारलौकिक सुखकी ओर विशेष दृष्टि रखता है और निवृत्तिधर्मका अधिकारी व्यक्ति धर्मोन्नति चाहता है, इस लोकसे परलोकको भी अधिक समझता है; परन्तु विषय वैराग्यकी अधिकताके कारण धर्मोन्नति करनेमें इहलौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकारके सुखोंकी ओर विशेष दृष्टि नही रखता। यद्यपि सांख्ययोगी और कर्मयोगी दोनोंही जीवन्मुक्त दशामें पहुंच सकते हैं और उस सर्वश्रेष्ठ पद पर पहुँच कर एक ब्रह्मकोटिके जीवन्मुक्त और दूसरे ईश कोटिके जीवन्मुक्त (जिनका विस्तारित वर्णन मुक्तितत्व नामक अध्यायमें आवेगा) हो जाते हैं, परन्तु यदि मुक्ति भूमिमें अग्रसर होने पर भी जीवन्मुक्त पदवी पर पहुंच न सकें तो ऐसी उन्नततम दशामें भी उनको अपने अपने प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म संस्कारके अनुसार उस अति उन्नत अवस्थामें भी बड़ीही भोगवैचित्र्यता रहती है। प्रवृत्ति-धर्म पालन करने वाले कर्मयोगी ही क्रमशः तीव्र वासनावेगके कारण देव-पद और इन्द्रादिक उच्च दैवी अधिकारोंको प्राप्त करके ब्रह्मपदादि प्राप्त करते हुए एक ब्रह्माण्डके महाप्रलयके साथ मुक्त होते हैं। सांख्ययोगीकी कुछ और ही विचित्रता है, निवृत्तिधर्म पालन करने वाले सांख्योगी यदि जीवन्मुक्त पदवीको

न पहुँच सकें तो सूर्य्यगतिके अवलम्बन द्वारा सूर्य्यलोक भेदन करते हुए कालान्तरमें सप्तमलोकसे मुक्त होजाते हैं; ऐसे महात्माओंको देवलोकके बड़े बड़े दैवी अधिकारोंके भारको वहन करना नहीं होता है। ये सब प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्मके अधिकारोंकी वैचित्र्य पूर्ण विभूतियाँ हैं । इन दोनों अवस्थाके वर्णन तथा वेदविहित सकाम यज्ञादि द्वारा इन्द्रादि पदवी प्राप्तिके वर्णन वेदादि शास्त्रोंमें अनेक पाये जाते हैं। यथाः—

हित्वा सुखं मनसश्च प्रियाणि देवः शक्रः कर्मणा श्रैष्ठ्यमाप ।
सत्यं धर्मं पालयन्नप्रमत्तो दमं तितिक्षां समतां प्रियञ्च ॥
एतानि सर्वाण्युपसेवमानः स देवराज्यं मघवान् प्राप मुख्यम् ।
बृहस्पतिर्ब्रह्मचर्यं चचार समाहितः संशितात्मा यथावत् ॥
हित्वा सुखं प्रतिरुध्येन्द्रियाणि तेन देवानामगमद् गौरवं सः ।
तथा नक्षत्राणि कर्मणाऽमुत्र भान्ति रुद्रादित्या वसवोऽथापि विश्वे ॥
यतो राजा वैश्रवणः कुबेरो गन्धर्वयक्षाप्सरसश्च सूत ।
ब्रह्मविद्यां ब्रह्मचर्यंक्रियाञ्च निषेवमाणा ऋषयोऽमुत्र भान्ति ॥

(महाभारत)

"यस्ते नूनꣳ शतक्रतविन्द्र द्युम्नितमो मदः"

सामवेद ।

यज्ञेन हि देवा दिवं गताः ?" श्रुतिः ।
क्रतुभिस्तपसा चैव स्वाध्ययेन दमने च ।
त्रैलोक्यैश्वर्यमव्यग्रं प्राप्तोऽहं विक्रमेण च ॥

(महाभारत)

तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः ।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥
वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः सन्न्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥

(श्रुतिः)

इन सब श्लोक तथा मन्त्रोंका भावार्थ यह है कि इन्द्र, बृहस्पति आदि देवतागणने संयमशील व जितेन्द्रिय होकर, मनके प्रिय सुखोंको त्याग करके

सत्य, धर्म्म, दम, तितिक्षा व प्रवल तपस्याओंका आचरण किया था जिसके ही फलसे इनको स्वर्गराज्य तथा अन्यान्य दैवजगत्‌की विभूतियाँ प्राप्त हुई हैं। रुद्र, आदित्य, वसु, यम, कुवेर, गन्धर्व, यक्ष, आदि देवपदवी तथा ऋषि-पदवी समस्तही इह लोकमें सत्कर्मानुष्ठानका फलरूप है। इन्द्रका इन्द्रत्व शतक्रतु होनेकाही फल है। देवताओंका देवत्व यज्ञानुष्ठानकाही फलरूप है। यही सब प्रवृत्ति पथ गामी कर्मयोगी साधकोंकी वासना-वैचित्र्यानुसार गतिका तारतम्य है। इसके अतिरिक्त जो निवृत्ति पथसेवी ज्ञानयोगिगण भिक्षाचर्यावलम्बन करते हुए अरण्यमें तपस्या व ज्ञानोन्नति करते हैं उनकी गति उत्तरायण मार्गसे सप्तमलोक तक होती है जहां पर पूर्णज्ञान प्राप्त होकर इनको निर्वाण मुक्ति लाभ हो जाता है।

जैसे कर्मयोगी वनना और सांख्ययोगी वनना प्रवृत्तिधर्म्म और निवृत्ति-धर्मकेही उच्चतम फल हैं, जैसे ईशकोटिके जीवन्मुक्त वनना और ब्रह्म कोटिके जीवन्मुक्त वनना प्रवृत्तिधर्म्म और निवृत्तिधर्म्मके ही उन्नत अधिकार हैं, जैसे इन्द्रादिक दैवी पद प्राप्त करना और सप्तमलोकमें पहुँच कर त्यागकी पराकाष्ठाको प्राप्त करते हुए आध्यात्मिक तेजके वलसे सूर्य्यलोक भेदन करते हुए मुक्तिभूमिमें पहुंचना प्रवृत्तिधर्म्म और निवृत्तिधर्म्मकी शक्तिकाही परिचायक है, वैसेही दैवी शक्तियोंके प्राप्त करनेमें भी अनेक भेद हैं। कर्म्म वैचित्र्यके कारण देवलोकमें और सूक्ष्मराज्यमेंभी ऐसेही दो भेद पाये जाते हैं। कर्म्मयोगमें प्रीति रखनेवाले देवलोक प्राप्त किये हुए महदात्मा देवता वन जाते हैं और साङ्ख्ययोगमें अधिक रुचि रखने वाले महदात्मा सूक्ष्मराज्य-मय देवलोकमें पहुँचकर ऋषि वन जाते हैं। जिन महदात्माओंमें प्रवृत्तिधर्म्म जनित अधिभौतिक सुखभोगकी वासनाका वीज रहता है वे देवता और जिन महदात्माओंमें निवृत्तिधर्म जनित आध्यात्मिक सुख पानेकी वासनाका वीज रहता है वे ऋषि वन जाते हैं। ये सव प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्मकी अन्तिम विभूतियाँ है।

ऊपर लिखित रहस्योंसे यह प्रकट हुआ कि मनुष्य जव धर्मकी ओर झुक कर धर्मका पथ ढूँढने लगता है उस समय उसके अन्तःकरणके वासना-वैचित्र्यके कारण स्वभावसे ही कोई प्रवृत्तिधर्मका अधिकारी और कोई निवृत्ति-धर्मका अधिकारी वन जाता है। इस प्रकार वननेमें अघटनघटनापटीयसी महामायाकी माया ही कारण है। और यह भी प्रकट हुआ कि प्रवृत्तिधर्म

और निवृत्तिधर्मके पालन करते करने दोनों पथके पथिक कैसी कैसी विभूतियों को प्राप्त कर सकते हैं। दोनों पथोंमेंसे प्रवृत्तिधर्मका पथ अति विस्तृत है। विचार करनेसे यही सिद्ध होगा कि जहां कामना है, जहां प्रवृत्ति है वहां एक से अनेक शाखाएँ हैं परन्तु कामनाके अभाव पर दृष्टि है जहां निवृत्ति है, वहाँ चित्तकी गति एकही होती है। इसी कारण श्रीभगवान्‌ने गीताजीमें कहा है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥

वासनारहित निवृत्तिपर निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही है परन्तु प्रवृत्तिपरायण द्वैतभावमय जीवोंकी बुद्धि बहुशाखायुक्त व अनन्त है।

यही कारण है उच्चतम दैवी अधिकारोंको प्राप्त करनेमें भी देवताओंके दैवी कर्म कितने विस्तृत और विचित्रतासे पूर्ण है। शास्त्रोंमें कहा है कि प्रधान तीन देवता, उनसे तेतीस मुख्य, और उनसे तेतीस करोड, यथा—

"तिस्रो देवताः" "त्रयस्त्रिंशत्ततः प्रभुताऽपि कार्यवैलक्षण्यात्"

(दैवीमीमांसादर्शनम्)

प्रधान देवता तीन हैं, उनसे तैतीस और कर्म विचित्रताके अनुसार उसीसे अनन्त देवता हुए हैं।

उसी शैलीके अनुसार ईशकोटीके जीवन्मुक्त ही ब्रह्माण्ड केन्द्रसे चालित होकर अनेक विचित्र भोग भोगते हुए लोकहितकर अनेक विचित्र कर्म किया करते हैं। प्रवृत्तिधर्मका महान् स्वरूप ही अवतारादिकके अविर्भावका रहस्य प्रतिपादक है। निर्लिप्त निष्क्रिय सर्वतत्त्वातीत श्रीभगवान् भी लीला विग्रह धारण करके प्रवृत्तिधर्मकी शक्तिसे ही जगत् में अनेक लीला करते हैं। इसी कारण भगवद्वाक्यरूप वेदोंमें प्रवृत्तिधर्मका वर्णन अधिक है। यथा गीतामें—

"त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवाऽर्जुन।"
"कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्"
एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥

वेदमें त्रिगुणपर कर्मोंका ही वर्णन है जीवका अन्तिम लक्ष्य परन्तु त्रिगुणातीत होना है। कर्म वेदसे उत्पन्न हैं और वेद अक्षरपुरुष परमात्मासे उत्पन्न है।

वेदमें अनेक प्रकारके यज्ञोंका वर्णन है। ये सभी प्रवृत्तिपर कर्मसे सम्बन्धयुक्त हैं। ऐसा ज्ञान होने पर जीवका मोक्ष होता है। पूर्व मीमांसामें भी लिखा है:—

"आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्"

वेद कर्मकाण्डका ही प्रतिपादक है। उपनिषद्में भी लिखा है:—

एतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि
त्रेतायां बहुधा सन्ततानि।
तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः
पन्था सुकृतस्य लोके॥

वैदिक मन्त्रोंमें जो कर्मोंके वर्णन मिलते हैं वे सब कर्म त्रेतायुगमें बहुत ही विस्तारको प्राप्त होगये थे। उन सब कर्मोंके अनुष्ठानद्वारा पुण्यपाकरूप उन्नत स्वर्गादि लोक प्राप्त होते हैं।

प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म ऐसे व्यापक हैं कि सब धर्माङ्गोंके साथ और सब सम्प्रदाय और पन्थोंके साधन व आचारके साथ इनका सम्बन्ध है। राजसिकदान प्रवृत्तिधर्ममूलक और सात्विक दान निवृत्तिधर्ममूलक है ऐसा कह सकते हैं। उसी प्रकार राजसिक तप प्रवृत्तिधर्ममूलक और सात्विक तप निवृत्तिधर्म कहा जायगा। काम्यकर्म प्रवृत्तिधर्ममूलक और नित्यकर्म निवृत्ति धर्ममूलक समझा जायगा। इहलौकिक और पारलौकिक सुखप्रार्थी उपासक तथा सिद्धिकी इच्छा रखनेवाला उपासक प्रवृत्ति धर्मपरायण और कामना-रहित भक्तिमान् उपासक निवृत्तिधर्मपरायण समझा जायगा। वैराग्यहीन ज्ञान मार्गका पथिक प्रवृत्तिधर्मका अधिकारी और वैराग्यवान् ज्ञानमार्गका पथिक निवृत्तिधर्मका अधिकारी समझा जायगा। जो धर्मसम्प्रदाय अथवा धर्मपन्थ वर्णाश्रमधर्मको नहीं भी मानते हों उनमें भी प्रवृत्ति धर्म और निवृत्ति धर्मके अधिकार स्वभावतः मिलेंगे। किसी धर्मसम्प्रदाय या धर्मपन्थमें जब कामिनी काञ्चनादि वैषयिक सुखको भोगते हुए अथवा इन भोगोंकी कामनाको रखकर जो साधक उक्त सम्प्रदाय वा पन्थके धर्म्मानुसार चलते हैं वे प्रवृत्ति धर्मके अधिकारी और जो उक्त धर्ममें चलते हुए विषय वैराग्यका अभ्यास करते हैं वे निवृत्ति धर्म्मके अधिकारी समझे जायंगे। अतः प्रवृत्ति धर्म्म और निवृत्ति धर्म्म सब धर्म्माङ्गोंमें, सब धर्म्मोपाङ्गोंमें, सब धर्म्मसम्प्रदाय और सब धर्म्म पन्थमें व्यापक है।

यह भी विज्ञानसिद्ध होगा कि जिस धर्म्माङ्गमें प्रवृत्ति धर्म्म और निवृत्ति धर्म्म दोनोंके अधिकार समानरूपसे मिलते हों वही धर्म्माङ्ग सर्व्वथा पूर्ण समझा जायगा। उदाहरणके लिये नारीधर्म्म पर विचार किया जाता है। सहधर्म्मिणी सती जब पतिके लिये ही अपनी शरीर-यात्रा निर्व्वाह करती हुई पतिसेवासुखमें रत रहती है वह सब धर्म्म प्रवृत्ति धर्म्ममूलक है। यथा धर्मशास्त्रमें :—

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाऽप्युपोषितम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥
पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाऽऽचरेत् किञ्चिदप्रियम्॥
भुङ्क्ते भुक्तेऽथ या पत्यौ दुःखिते दुःखिता च या।
मुदिते मुदिताऽत्यर्थं प्रोषिते मलिनाम्बरा॥
सुप्ते पत्यौ च या शेते पूर्वमेव प्रबुद्ध्यते।
नाऽन्यं कामयते चित्ते सा विज्ञेया पतिव्रता॥
तैलाऽभ्यङ्गं तथा स्नानं शरीरोद्वर्त्तनक्रियाम्।
मार्जनञ्चैव दन्तानां कुर्यात् पतिमुदे सती॥
यच्च भर्त्ता न पिबति यच्च भर्त्ता न चेच्छति।
यच्च भर्त्ता न चाऽश्नाति सर्वं तद् वर्जयेत्सती॥
छायेवाऽनुगता स्वच्छा सखीव हितकर्मसु।
दासीवाऽऽदिष्टकार्येषु भार्या भर्त्तुः सदा भवेत्॥
पतिर्नारायणः स्त्रीणां व्रतं धर्मः सनातनः।
सर्वं कर्म वृथा तासां स्वामिनां विमुखाश्च याः॥

स्त्री जातिके लिये यज्ञ, व्रत या उपवास रूपसे पृथक् अनुष्ठेय धर्म कुछ भी नहीं है, केवल पतिसेवा धर्म द्वारा ही उनको उन्नत लोक प्राप्त होता है। पतिलोक चाहनेवाली सती स्त्री अपने पतिके जीवित या मृत किसी अवस्थामें भी अप्रियाचरण नहीं करेगी। पतिके भोजनके बाद भोजन करनेवाली, उनके दुःखमें दुःखिनी, सुखमें सुखिनी, प्रवास जाने पर मलिन वसन धारिणी, निद्रित

होनेके पश्चात् निद्रित होनेवाली, जागृत् होनेके पूर्व जागनेवाली और पतिके सिवाय अन्य किसी पुरुषको चित्तमें भी न चाहनेवाली स्त्री पतिव्रता कहलाती है। सती स्त्री तैलमर्द्दन, स्नान, शरीरप्रसाधन, दन्तधावन आदि सभी कुछ केवल पति देवताके प्रसन्नता संपादनके अर्थ ही करे। वे जो कुछ नहीं चाहते हैं, न पीते हैं या न खाते हैं उन सभीका सती स्त्री त्याग करे। छायाकी तरह पतिकी अनुगामिनी, पवित्रा, हितकार्यमें सखीकी तरह और अभीष्ट कार्यमें दासीकी तरह सती स्त्री का पतिके प्रति आचरण होना चाहिये। स्त्रीके लिये पति नारायणरूप समस्त व्रत व सनातन धर्मरूप हैं। पतिविमुखा स्त्रीका समस्त कार्य निष्फल हो जाता है।

जब वही सती पतिके लोकान्तरित होनेपर सब सुखको तिलाञ्जलि देकर ब्रह्मचारिणी सन्यासिनी विधवा धर्म्मको पालन करती है तो त्रिलोक पवित्रकर वे विधवाके धर्म्म समूह निवृत्ति धर्म्म मूलक हैं इसमें सन्देह ही नहीं। निम्नलिखित विधवाके कर्त्तव्यों पर ध्यान देनेसे ही नारीधर्म्ममें निवृत्ति धर्म्मका स्वरूप स्पष्ट प्रतीत होगा।

कामं तु क्षपयेद् देहं पुष्पमूलफलैः शनैः ।
न तु नामाऽपि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु ॥
आसीताऽऽमरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी ।
यो धर्म एकपत्नीनां कांक्षन्ती तमनुत्तमम् ॥
केशरञ्जनताम्बूलगन्धपुष्पादिसेवनम् ।
भूषणं रङ्गवस्त्रं च कांस्यपात्रेषु भोजनम् ॥
द्विवारभोजनश्चाक्ष्णो रञ्जनं वर्जयेत्सदा ।
स्नात्वा शुक्लाम्बरधरा जितक्रोधा जितेन्द्रिया ॥
न कल्पकुहका साध्वी तन्द्राऽलस्यविवार्जिता ।
सुनिर्मला शुभाचारा नित्यं सम्पूजयेद्धरिम् ॥
क्षितिशायी भवेद् रात्रौ शुचौ देशे कुशोत्तरे ।
ध्यानयोगपरा नित्यं सतां सङ्गे व्यवस्थिता ॥
तपश्चरणसंयुक्ता यावज्जीवं समाचरेत् ।

तावत्तिष्ठेन्निराहारा भवेद् यदि रजस्वला ॥
नाऽङ्गमुद्वर्त्तयेद् वासैर्ग्राम्याऽऽलापमपि त्यजेत् ।
देवव्रता नयेत्कालं वैधव्यं धर्ममाश्रिता ॥

विधवा स्त्रीके लिये पुष्प, मूल, फल द्वारा कष्टसे जीवन यापन करना श्रेयस्कर है परन्तु पतिकी मृत्युके बाद परपुरुषका नाम तक लेना भी पाप है । विधवा स्त्रीको मृत्युपर्यन्त संयमशीला, ब्रह्मचारिणी व शान्तिगुणवती होकर एक पतिव्रताका धर्म पालन करना चाहिये । केशरंजन, ताम्बूल सेवन, गन्धपुष्पादि सेवन, अलङ्कारधारण, रङ्गवस्त्रपरिधान, कांसेके पात्रमें भोजन, दो बार भोजन, आखोंमें अञ्जनधारण, यह सब विधवाको त्याग करना चाहिये । उनको स्नानानन्तर शुक्लाम्बरधारिणी, जितक्रोधा, जितेन्द्रिया, तन्द्रालस्यवर्जिता, सुनिर्मला, व शुभाचरणशीला होकर पूजापरायण होना चाहिये । उनको पवित्र स्थानमें धराशायिनी, ध्यानयोग-परायणा, सत्सङ्गकारिणी, व तपश्चरणशीला होकर यावज्जीवन रहना चाहिये । रजस्वला होनेपर स्वल्पाहारशीला होना चाहिये । वस्त्रके द्वारा शरीरप्रसाधन, विषयसम्बन्धीय आकलन आदि परित्याग करके देवव्रता होकर कालयापन करना चाहिये ।

नारीधर्म्म तपःप्रधान है, यह हम नारीधर्म्मके अध्यायमें विस्तारित रूपसे कह चुके हैं। अतः तपमूलक नारीधर्म्म प्रवृत्ति धर्म्मको लेकर किस पराकाष्ठा तक पहुंचता है, पुनः वही तपोमूलक नारीधर्म्म निवृत्ति धर्म्मको साथ लेकर किस किस काष्ठा तक पहुंचता है यह ऊपरके वर्णनसे भलीभांति प्रकट होगा ।

जो धर्म्माङ्ग अथवा धर्म्मोपाङ्ग या कोई विशेष धर्म्म जब सर्व्व शक्तिसे पूर्ण हो वही पूर्ण कहावेगा । जिसमें न्यूनता रहे वही असम्पूर्ण कहावेगा । जिस मनुष्य जातिके नारी-धर्म्ममें प्रवृत्ति धर्म्मकी पराकाष्ठा और निवृत्ति धर्म्मकी पराकाष्ठा दोनों ही पाई जायँ उसी मनुष्यजातिका नारीधर्म्म पूर्ण है । जिस मनुष्य जातिमें दोनोंकी पराकाष्ठा न पाई जाय वह अपूर्ण है इसमें सन्देह ही क्या है। जिस मनुष्य जातिमें सतीत्व धर्म्मके सब लक्षण न पाये जायँ, जिस मनुष्यजातिमें पति-सेवाके सब प्रकारके सदाचार न पाये जायँ, जिस मनुष्य जातिमें स्त्री-पुरुषका विवाह इहलोक और परलोक दोनोंसे ही सम्बन्ध रखने वाला न हो और जिस मनुष्य जातिमें विधवा

धर्म्मकी त्रिलोक पवित्रकर कठोर तपस्याका चिह्न विद्यमान न हो उस मनुष्य जातिमें स्वर्गीय नारी-धर्म्मकी पूर्णता विद्यमान नहीं है ऐसा कहना ही पड़ेगा। यदि किसी मनुष्य जातिकी स्त्रियोंमें हमारे वेदोक्त सतीत्वधर्म्मकी पराकाष्ठाके लक्षण न पाये जाँय तो सम्भव है कि स्वाभाविक दाम्पत्य-प्रेमकी प्रबलशक्तिसे उस मनुष्य जातिमें कभी कभी सतीत्व धर्म्मके बहुतसे लक्षण प्रकाशित हो सक्ते हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि प्रथम तो प्रवृत्ति धर्म्म मनुष्यकी स्वाभाविकी वृत्तिके साथ मिला हुआ है। द्वितीयतः स्त्री-पुरुषका प्रेम भी कामादि वृत्ति मूलक होनेके कारण स्वाभाविक है, और तृतीयतः सात्विक स्त्रीमें प्रेमका प्रवल उच्छ्वास प्रकट होनेसे पवित्र सतीत्व-धर्म्मके लक्षण स्वतः ही प्रकाशित हो सक्ते हैं। इस कारण आर्य्य सदाचार रहित जातियोंमें प्रवृत्ति धर्म्म मूलक सतीत्वके लक्षण कहीं कहीं प्रकाशित हो सक्ते हैं परन्तु जिस मनुष्य जातिमें विधवा-विवाह प्रचलित है उस जातिमें निवृत्ति धर्म्म मूलक निष्काम भावसे पूर्ण त्रिलोकपवित्रकर आर्य्य विधवा धर्म्म कदापि प्रकट नहीं हो सक्ते। अतः जिस मनुष्य जातिमें नारीधर्म्म सम्बन्धीय प्रवृत्तिधर्म्म और निवृत्ति धर्म्म दोनों ही नहीं प्राप्त हो सकें उस जातिका नारीधर्म्म असम्पूर्ण है इसमें सन्देह नहीं।

जिस प्रकार नारीधर्म्ममें प्रवृत्तिधर्म और निवृत्ति धर्म्मका स्वरूप समझानेके लिये ऊपर प्रयत्न किया गया है उसी प्रकार पुरुषधर्म्ममें प्रवृत्ति धर्म्म और निवृत्ति धर्म्मके प्रवाहके समझानेके लिये वर्ण और आश्रम धर्म्मकी अलोचना करना उचित है। साधारण धर्म्म और विशेष धर्म्मका प्रवाह जिस प्रकार अलग अलग बहता हुआ उसी अद्वितीय निर्विकार निष्क्रिय तत्वातीत सच्चिदानन्दमय परमपदमें पहुंच जाता है, उसी प्रकार प्रवृत्ति धर्म्म और निवृत्ति धर्म्मका प्रवाह भी स्वतन्त्र स्वतन्त्र रूपसे बहता हुआ उसी वाक्मनसे अगोचर मुक्तिपदमें पहुंच जाता है। साधारण धर्म्मप्रवाह महान् ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र, सूर्य्यलोक आदिसे लेकर क्षुद्र परमाणु तक और स्थावर सृष्टिसे लेकर जङ्गम सृष्टि पर्य्यन्त सबमें समान रूपसे अनुस्यूत है। साधारण धर्म्म महान् सृष्टिसे लेकर क्षुद्र सृष्टि पर्य्यन्त तथा जडसे लेकर चेतन पर्य्यन्त सबके अस्तित्वकी समान रूपसे रक्षा करता हुआ सब प्रकारकी सृष्टिको क्रमशः नीचेकी ओरसे ऊपरकी ओर अग्रसर करता है, इस कारण साधारण धर्म्मके प्रवाहमें कहीं गंभीरता अधिक हो अथवा कहीं गंभीरता कम हो परन्तु वह

प्रवाह सब स्थलमें समान रूपसे बहता रहता है इसमें सन्देह नहीं । विशेष धर्म्म भी सबमें है परन्तु विशेष विशेष अधिकारके अनुसार विशेष धर्म्मके स्वरूपका पार्थक्य होता है । उदाहरणके तौरपर समझ सकते हैं कि गृहस्थका विशेष धर्म्म सन्न्यासीके विशेष धर्म्मसे एक बारही पृथक् होगा परन्तु धर्म्मत्वरूपसे पृथक् धर्म्म सबमें पृथक् पृथक् रूपसे रहता हुआ भी सबको अपने अपने स्वतन्त्र अधिकारके अनुसार मुक्तिभूमिकी ओर अग्रसर करता रहेगा। उसी उदाहरण पर समझना उचित है कि प्रवृत्ति धर्म्म और निवृत्ति धर्म्म भी अपने अपने स्वरूपके अनुसार अपने अपने अधिकारमें मनुष्यको क्रमशः कैवल्यपदकी ओर ही ले जाते है। भेद इतना ही है कि प्रवृत्ति धर्म्मका पथ पृथक् है और निवृत्ति धर्म्मका पथ पृथक् है। धनका सुख भोगना, राजा होकर राज्य सुख भोगते हुए अग्रसर होना, गृहस्थ ब्राह्मण होकर सात्विक सुख भोगना, देहान्त होने पर स्वर्गादि सुख भोगना, क्रमशः अधिदैव राज्यमें अग्रसर होते हुए देवता बनना अथवा अध्यात्मिक राज्यमें अग्रसर होते हुए ईश कोटिके जीवन्मुक्त हो जाना ये सब प्रवृत्तिधर्म्म द्वारा क्रमोन्नतिके उदाहरण हैं। विषय वैराग्यका सुख अनुभव करना, सन्न्यास धर्म्मका सुख अनुभव करना, मुनि अथवा ऋषि होकर आध्यात्मिक राज्यको सुशोभित करना, देहान्त होने पर सत्यलोकमें पहुँच कर क्रमशः सूर्य्य मण्डल भेदन द्वारा कृतकृत्य होना, अथवा इसी जन्ममें शरीर रहते हुए ब्रह्मकोटिके जीवन्मुक्त बन जाना ये सब निवृत्ति धर्म्म द्वारा क्रमोन्नतिके उदाहरण हैं।

आर्य्यजातिके वर्णधर्मकी पर्य्यालोचना करनेसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णोंके धर्म्ममें प्रवृत्तिधर्म्मका प्रवाह और निवृत्तिधर्म्मका प्रवाह अलग अलग प्रतीत होता है। जब स्वभावके वशवर्त्ती हो ब्राह्मण केवल कर्त्तव्य-परायण होते हुए निवृत्ति संस्कार उत्पन्नकारी धर्मोंका पालन करते हैं। यथाः—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म्म स्वभावजम् ॥

उस समय शम दम, तप शौच, शान्ति, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता इन निवृत्तिधर्म्मवर्द्धक वृत्तियोंको क्रमशः अपने चित्तमें बढ़ाते हुए जगत्पूज्य ब्राह्मणगण क्रमशः निवृत्ति आश्रम संन्यासके अधिकारी बन जाते हैं। और जब वे अपनी वृत्तिके विचार से निम्नलिखित धर्मोंका पालन करते हैं। यथाः—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥

अध्ययन अध्यापन, यजन याजन, दान देना और प्रतिग्रह करना रूप धर्म्मसाधनके द्वारा ब्राह्मणगण अपनी यशोवृत्ति, इहलौकिक उन्नति और स्वर्गादि सुख कामनाके वशवर्त्ती होकर प्रवृत्तिधर्म्मको पालन करते हुए अभ्युदयको प्राप्त होते हैं।

क्षत्रियधर्म्मके विचारने से भी इसी प्रकारका उदाहरण मिलता है यथाः—

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ।
शौर्य्यं तेजोधृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाऽप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म्म स्वभावजम् ।

जब क्षत्रिय राजागण प्रजाका रक्षण करते हैं, दान करते हैं, यज्ञ करते हैं अध्ययन करते हैं और विषयसे मनको हटाकर राज्यकी रक्षामें प्रवृत्त होते हैं तो उस समय वे इहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदयको प्राप्त करते हुए प्रवृत्तिधर्मकी सहायतासे राज्यसुख और स्वर्गसुख भोगनेके अधिकारी होते हैं। और जब क्षत्रिय नरपतिगण केवल अपने स्वभावके वशवर्त्ती होकर निष्काम भाव की वृद्धि करते हुए अपने अन्तःकरणके शौर्य्य, क्षात्रतेज, सात्विक धृत्ति, साम्राज्य रक्षाका चातुर्य्य धर्म्मयुद्धमें निर्भयता, सात्विकदानमें प्रवृत्ति और अपने प्रभु भावकी मर्य्यादाका ज्ञान इन सात्विक वृत्तियोंकी यथावत् वृद्धि करते हैं तो उस समयमें वे अपनेमें निवृत्ति धर्मकी वृद्धि करते हुए मुक्तिपथमें अग्रसर होते हैं।

ठीक उसी उदाहरणके अनुसार समझना उचित है कि वैश्य और शूद्रगण अपेक्षाकृत क्षुद्रधर्म्मके अधिकारी होनेसे श्रीगीताजीमें यद्यपि पापयोनिरूपसे अभिहित हुए हैं यथाः—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परांगतिम् ।

हे पार्थ पापयोनिसंभूत स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र भी मेरा आश्रय लेनेसे परमगतिको प्राप्त होते हैं। परन्तु वे भी स्वधर्म्म पालन करते हुए दोनों ही मार्गोंमें अग्रसर हो सकते हैं। वैश्य और शूद्रको पापयोनि कहनेका तात्पर्य

यह है कि इनमें मलिन प्रवृत्ति अधिक होती है। प्रवृत्ति मार्गके भी दो भेद हैं। यथाः—शुद्ध प्रवृत्ति और मलिन प्रवृत्ति। जिस प्रवृत्तिधर्म्ममें पारलौकिक उन्नति होना निश्चय हो, जिस प्रवृत्तिधर्म्मके पालन करनेसे जीवका जन्मान्तरमें क्रमोन्नति होना निश्चय हो और जिस प्रवृतिधर्म्मके पालन करनेसे क्रमशः विषयतृष्णाकी निवृत्ति होती रहे उसीको शुद्ध प्रवृत्ति कहते है। और जिस प्रवृत्तिधर्म्मके मार्गमें पड़ा हुआ जीव जब एक प्रकारकी स्थितिमें पड़ा रहे, जल्दी आगे बढ़ न सके और इन्द्रियप्रवृत्तिमें क्रमशः फॅसताही जाय उसको मलिन प्रवृत्ति कहते हैं। स्त्री वैश्य और शूद्र इस प्रकारसे मलिन प्रवृत्तिके अधिकारी होनेके कारण श्रीगीताजीमें उनको पापयोनि करके वर्णन किया है। स्त्री जातिकी क्रमोन्नतिका अलौकिक रहस्यपूर्ण वर्णन हम पहले ही कर चुके हैं। सतीधर्म्मके पालन करनेसे पापयोनि-संभूत नारीगण त्रिलोकपवित्र-कारिणी देवी बन जाती हैं। तपस्विनी विधवागण तो अपने निवृत्तिधर्म्मके पालनसे सन्यासियोंकी परमकाष्ठाको कैसे प्राप्त होती हैं सो हम पहले कह चुके हैं। उसी उदाहरणके अनुसार हम कह सकते हैं कि वैश्य और शूद्रगण पापायोनिसंभूत होने पर भी जब वैश्यगण अपने कृषि और वाणिज्य कर्म्म को केवल आजीविकाके लिये करते हों, और जब शूद्रगण अपनी सेवावृत्तिको अजीविकाके लिये करते हों तो उस समय वे प्रवृत्तिधर्म्मके निम्नस्तरमें पड़े हुए पापयोनि कहावेंगे। परन्तु जब वैश्यगण अपने कृषि और वाणिज्य धर्म्मको अपने कर्त्तव्य-पालनकी बुद्धिसे, समाज और देशसेवाकी बुद्धिसे और धार्मिक रूपसे अपनी जीवनयात्रा-निर्वाहकी बुद्धिसे करते हों तो वे निवृत्तिधर्म्मके अधिकारी होंगे और पापयोनिके कलङ्कसे रहित होंगे। ठीक उसी प्रकार शूद्रगण जब अपनी सेवा वृत्तिको केवल जीविकानिर्व्वाहके लिये ज्ञान रहित पशुके तुल्य करते हों तो वे अतिनिम्नश्रेणीके प्रवृत्तिधर्म्मका अचारण करेंगे और पापयोनि कहावेंगे। परन्तु वही शूद्रगण जब अपनी सेवा प्रवृत्तिको आत्मोत्सर्गकारी कर्त्तव्यबुद्धिसे करेंगे तो वे निवृत्तिधर्म्मके अधिकारी होंगे और पापयोनिके कलङ्कसे हीसे नही बचेंगे अधिकन्तु पुण्यात्मा कहावेंगे। जिनका समस्त शरीर, समस्त मन, बड़ोंकी सेवासे उत्सर्गीकृत है, जिनके स्वकीय जीवनकी समस्त कर्त्तव्यता द्विजगणकी शुश्रूषारूप होमाग्निमें आहुतिरूपसे समर्पित है, वे चाहे नीचसे नीच योनिमें ही क्यों न हो, इनके शरीर व मन चाहे प्रकृतिके अधस्तन स्तरमें ही क्यों न उत्पन्न हों, सेवाधर्मकी महिमा व आत्मोत्सर्ग-

कारिणी कर्त्तव्यबुद्धिके गौरवके वलसे वे शीघ्र ही प्राक्तन समस्त असुविधाओं को दूर करते हुए उन्नत योनि व उन्नत दशाको प्राप्त हो जायेंगे इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। सनातन वर्ण धर्मकी यही अनुपम उदारता है जिसकी दिव्य छायाको अवलम्बन करके कितने ही पापयोनिजात शूद्र पुण्यलोक-महिमामय जीवनको प्राप्त हो गये हैं। दृष्टान्त रूपसे महाभारतमें वर्णित धर्मव्याध की जीवनीका विचार कर सकते हैं। धर्मव्याध, व्याध ही थे, शरीरसे अवश्य ही पापयोनिज थे, परन्तु अपने जीवनके समस्त कर्त्तव्यको स्वार्थसिद्धिकी लघुतासे शुद्ध करके वर्णानुकूल सेवाधर्ममें अनुत्तण नियोजित करनेके कारण कैसी उत्तम गति उनको प्राप्त हो गई थी। इसी प्रकार परममुनि सूत व धर्मप्राण विदुरका जीवन चरित्र भी इतिहासमें प्रसिद्ध है। वे दोनों पापयोनि सम्भूत होने पर भी सेवा धर्म की अपूर्व्व महिमाके फलसे परमगतिको प्राप्त हो गये थे। श्रीभगवान्के चरण-कमलोंसे उत्पन्न होनेके कारण शूद्रवर्णके प्रति श्रीभगवान्की ऐसी ही कृपा है कि इनकी क्रमोगति व निवृत्ति मार्गमें प्रतिष्ठाके विषयमें अन्य वर्णोंकी तरह कोई भी वाधा नहीं रक्खी गई है। मनुष्य प्रकृति अहङ्कारमूलिका व अधोगामिनी होनेके कारण कर्मस्वतन्त्रताको पाकर अन्य वर्णोंमें उसकी अधोगतिकी विशेष सम्भावना हो जाती है। इसके सिवाय अनेक कर्त्तव्यके साथ अनेक विरुद्धवृत्ति-का उदय होना स्वाभाविक होनेसे अन्य वर्णोंमें पद पदमें भ्रान्ति व पदस्खलन की सम्भावता रहती है। परन्तु शूद्र वर्णमें न तो कर्म-स्वतन्त्रता ही है और न अनेक शाखामय कर्त्तव्यकी ही व्यवस्था है। इस लिये अन्य वर्णसुलभ अधो-गतिकी सम्भावना भगवच्चरणसरोजप्रसूत शूद्रवर्णमें कुछ भी नहीं है। वे अपने जीवनके समस्त कृत्यको द्विजगणके आज्ञाधीन करके तथा समर्पणबुद्धि द्वारा समस्त कर्त्तव्यको एकमात्र द्विजसेवाव्रतमें विलीन करके निवृत्तिके उन्नत सोपानमें अनायास ही आरोहण कर सकते हैं। इसीलिये श्रीभगवान् मनुजीने शूद्रोंके लिये कहा है:—

स्वर्गाऽर्थमुभयाऽर्थं वा विप्रानाराधयेत्तु सः।
जातब्राह्मणशब्दस्य सा ह्यस्य कृतकृत्यता॥
यथा यथा हि सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः।
तथा तथेमञ्चाऽमुञ्च लोकं प्राप्नोत्यनिन्दितः॥

इहलौकिक उन्नति तथा ऊर्द्ध्वगतिलाभके लिये शूद्रवर्णको ब्राह्मणका सेवक बनना चाहिये। केवल ब्राह्मणसेवारूप धर्मपालन द्वारा ही शूद्र कृतकृत्यता लाभ कर सकते हैं। असूयाशून्य होकर इस प्रकारसे स्ववर्णानुसार धर्माचरण करनेसे शूद्रगण इहलोकमें उन्नति व परलोकमें ऊर्द्ध्वगति लाभ कर सकते हैं। फलतः वर्णधर्मकी कठोरता तथा सुगमताके विचारसे शूद्रधर्म सबसे प्रधान है और क्रमोन्नतिमें शीघ्र सफलता प्राप्तिके विचारसे शूद्रधर्म सर्वश्रेष्ठ है।

अदूरदर्शी व्यक्तिगण ही शूद्रधर्मका विचार करते हुए ऋषियोंके पक्षपातकी वृथा कल्पना किया करते हैं। प्रवृत्तिधर्मकी सहायतासे आध्यात्मिक राज्यमें और मुक्तिपदकी ओर, अग्रसर होनेके लिये शूद्र धर्ममें बड़ी ही सुगमता है। अन्यान्य वर्णोंकी अपेक्षा शूद्र अति सुगमताके साथ जन्मान्तरमें उन्नत वर्णाधिकार और उन्नत लोक-अधिकारको तुरन्त ही प्राप्त कर लेते हैं। यही सब बातें वर्णधर्मके साथ प्रवृत्ति धर्म व निवृत्ति धर्मकी गतिको सिद्ध करती है।

जिस प्रकार वर्णधर्मके साथ प्रवृति धर्म व निवृत्ति धर्मका मिला जुला सम्बन्ध है उसी प्रकार आश्रम धर्ममें भी प्रवृत्ति धर्म व निवृत्ति धर्म ओतप्रोत हैं। मीमांसाशास्त्रमें कहा है कि "प्रवृत्ति रोधको वर्ण धर्मः" "निवृत्तिपोषकआऽपरः" वर्णधर्ममें वर्णाचाररूप प्रवृत्तिधर्मकी प्रधानता रहने पर भी प्रवृत्तिको रोक कर निवृत्तिको क्रमशः बढ़ानेकी युक्ति भरी हुई है। मनुष्यका अंतःकरण एक परिच्छिन्न पदार्थ है। इस कारण उसमें जितनी वृत्ति रह सकती है सो नियम व संख्यापूर्वक ही रह सकती है। इस कारण मनुष्यके अंतःकरणमें जितना प्रवृत्ति संस्कार घटेगा स्वभावतः ही निवृत्ति संस्कारसे वह स्थान भर जायगा क्योंकि वृत्तिसे खाली अन्तःकरण रह नहीं सकता है। उदाहरण स्थलपर समझ सकते हैं कि मनुष्य-अन्तःकरणमें दोसौ वृत्तिके ठहरनेका स्थान है। प्रवृत्तिकी वृत्ति भी दोसौ होती हैं और निवृत्तिकी वृत्ति भी दोसौ होती हैं। अतः वर्णधर्मके अधिकारी मनुष्योंमें शास्त्रोक्त आश्रमाचारके साधन द्वारा क्रमशः एक आश्रमधर्मी मनुष्य जिसका अन्तःकरण उसकी प्रकृतिके अनुसार दोसौ प्रवृत्तिकी वृत्तिओंसे भरा हुआ है, वह यदि राजदण्ड, समाजदण्ड, शास्त्रानुशासन अथवा आचार्यानुशासनके भयसे अपने वर्णधर्मका यथावत् पालन करे तो स्वभावतः उसकी निज प्रकृतिसे उत्पन्न प्रवृत्तिमूलक वृत्ति कुछ कुछ घट जायगी। यदि वैसे मनुष्यका अन्तःकरण पच्चीस फी सैकड़ा

प्रवृत्तिमूलक वृत्तिसे शून्य होगया तो अगत्या उसके अन्तःकरणकी उस खाली जगहमें अपने आप ही निवृत्तिमूलक वृत्तियाँ जो उसमें नहीं थीं आकर उस खाली स्थानको भर लेंगी। इस प्रकारसे क्रमशः आश्रमधर्म माननेवाले और उक्त आचारों पर चलनेवाले मनुष्योंमें अपने अपने अधिकार व पुरुषार्थके अनुसार कुछ कुछ प्रवृत्तिका रोध हो जायगा। उसी प्रकार आश्रमधर्मके अनुसार क्रमशः निवृत्तिधर्मकी उन्नति हुआ करती है। आश्रमधर्मके जो आचार पूज्यपाद महर्षियोंने बांधे हैं वह इसी नियमसे बांधे हैं कि जिससे निवृत्तिके बढ़नेकी ओर ही प्रत्येक आश्रमकी गति बनी रहती है। शास्त्रमें कहा है कि ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ व सन्न्यास इन चारों आश्रमोंमेंसे ब्रह्मचर्याश्रममें शास्त्रोक्त प्रवृत्ति सिखाई जाती है और गृहस्थाश्रममें शास्त्रोक्त प्रवृत्ति कराई जाती है। उसी प्रकार वानप्रस्थाश्रममें शास्त्रोक्त निवृत्ति सिखाई जाती है और संन्यासाश्रममें शास्त्रोक्त निवृत्ति कराई जाती है। शास्त्रोक्त इस सिद्धान्तका तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचर्याश्रममें निवृत्तिको प्रधान रखकर प्रवृत्ति मार्गका आचरण कैसे किया जाता है सो सिखाया जाता है और गृहस्थाश्रममें उसी निवृत्तिमूलक शिक्षाको प्रधान रखकर प्रवृत्तिकी चरितार्थता की जातीहै। यदि यह शङ्का हो कि गृहस्थाश्रम तो प्रवृत्तिमूलक ही है इसमें निवृत्तिके लक्षण कहाँ हैं तो इस शङ्काके समाधान करनेमें यह कहा जा सकता है कि गृहस्थधर्मके सदाचार ही जीवकी अनर्गल प्रवृत्तिमूलक वृत्तियोंके रोकनेमें समर्थ होते हैं। उदाहरणरूपसे कुछ धर्माचारोंकी समालोचना की जाती है। गृहस्थका वात्सल्य, गृहस्थकी आत्मीय परिजन-सेवा आदि उसकी अनर्गल सुखेच्छाका बीजनाश करती है। गृहस्थकी अतिथिसेवा, गृहस्थकी स्वदेश व स्वसमाज आदिकी सेवा-प्रवृत्ति उसके स्वाभाविक अनर्गलभावको दूर करती है। गृहस्थका एक पत्नीव्रत, गृहस्थकी मातृभक्ति व कन्यास्नेह आदि उसकी अनर्गल काम प्रवृत्तिको छिन्न विच्छिन्न करके रोक देता है। गृहस्थका धर्मशास्त्रानुकूल धनका विभाग और धनव्यय व दान करनेकी आज्ञा उसकी अनर्गल धनलोलुपतासे उसको बचा देती है और गृहस्थका पञ्चमहायज्ञ साधन उसके अन्तःकरणकी क्षुद्रताका नाश करके उसको भगवत् राज्यमें पहुंचा देता है। इन सब धर्मोंका मौलिक-सिद्धान्त हम पहले वर्णन कर चुके हैं। सिद्धान्त यह है कि गृहस्थमें निवृत्तिको ही सामने रख कर भावशुद्धि पूर्वक प्रवृत्तिधर्मके चरितार्थ करनेकी योग्यता पूर्ण रीत्या सिखाई जाती है। आयुर्वृद्धिके साथ ही साथ जब

मनुष्यका शरीर व इन्द्रियाँ स्वभावसे ही निवृत्ति चाहने जाती हैं तब उसको यथाक्रम निवृत्तिधर्ममूलक वानप्रस्थाश्रम व सन्न्यासाश्रमका अधिकार दिया जाता है। वानप्रस्थ व संन्यासाश्रमके आचरणोंपर ध्यान देकर यह न समझा जाय कि वानप्रस्थके तपोमूलक धर्म व सन्न्यासके त्यागमूलक धर्मोंसे एकाएक मनुष्य मुक्तिको ही प्राप्त कर लेता है। अनेकवार गृहस्थ सन्न्यासी होते हैं और जन्मान्तरमें पुनः संन्यासी गृहस्थ हुआ करते है मनुष्यके मुक्त होने पर्यन्त यही आवागमन चक्र बना रहता है। परन्तु इसी आवागमन चक्रमें घूमता हुआ मनुष्य उन्नत आध्यात्मिक अधिकारोंको क्रमशः प्राप्त करता जाता है। यही पूज्यपाद् महर्षियोंकी अलौकिक शास्त्रप्रणयनशक्ति और आचारनिर्माणकौशलका रहस्य है।

निवृत्ति धर्मका विस्तार कुछ भी अधिक नहीं है। परन्तु प्रवृत्ति धर्मका बहुत कुछ विस्तार है। इस सिद्धान्तका ज्वलन्त दृष्टान्त वेद है। इस सिद्धान्तका कुछ प्रत्यक्ष प्रमाण दिया जाता है। निवृत्ति धर्मका आदर्श दृष्टान्त एक ब्रह्मकोटिके जीवन्मुक्तमें मिलता है और मूक, स्तब्ध, निष्क्रिय, जड़वत् होना ही उनका अन्तिम लक्ष्य है परन्तु प्रवृत्तिधर्मके आदर्श स्थापनके लिये अगणित दृष्टान्त हैं। प्रवृत्ति मार्गका पथिक अगणित दृष्टान्तोंमेंसे किसीकी छबिको अपने सम्मुख रखकर उस मार्गमें अग्रसर हो सकता है। सेवा धर्मके विचारसे रुद्रावतार श्रीहनुमान्का चरित्र आदर्श है। दानधर्मके विचारसे रघु, हरिश्चन्द्र, मयूरध्वज, शिवि, दधीचि आदिका चरित्र आदर्श है। तपोधर्मके विचारसे वाल्मीकि, विश्वामित्र, वसिष्ठ, नन्दिकेश्वर आदिका चरित्र आदर्श है। नारीधर्मके विचारसे सीता, सावित्री, अरुन्धती, शशिकला, मदालसा आदिका चरित्र आदर्श है। पुरुष-धर्मके विचारसे भीष्म, जनक, शंकराचार्य आदिका चरित्र आदर्श है। क्षात्रधर्मके विचारसे रामचन्द्र, अर्जुन, महाराणा प्रताप आदिका चरित्र आदर्श है। ब्राह्मण धर्मके विचारसे व्यास, वशिष्ठ आदि अनेक महर्षियोंका चरित्र आदर्श है। ब्रह्मचर्यधर्मके विचारसे शुक, कपिल आदिका चरित्र आदर्श है। गृहस्थधर्मके विचारसे मयूरध्वज, जनक, वशिष्ठ आदिका चरित्र आदर्श है। वानप्रस्थधर्मके विचारसे तो अनेक महर्षियोंके आदर्श चरित्र शास्त्रमें मिलते ही हैं। संन्यासधर्मके विचारसे प्राचीन युगमें याज्ञवल्क्य व नवीन युगमें शकराचार्य आदिका चरित्र आदर्श है। पितृलोकके आदर्श अर्यमा, अग्निष्वात्ता आदि हैं। देवलोकके आदर्श इन्द्र, ब्रह्मा आदि हैं। ऋषि लोकके आदर्श सप्त ऋषि आदि नित्य

ऋषिगण हैं । भोग लोकके आदर्श सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य आदि भोग देह प्राप्त महात्मागण हैं। अध्यात्म आनन्दके विचारसे ऊर्द्ध लोकमें सत्यलोकके ज्ञाननिष्ठ महदात्मा और इस लोकके निष्काम व्रतपरायण ईशकोटिके जीवन्मुक्त बुद्ध, शंकराचार्य आदि हैं । यह सव प्रवृत्तिधर्मके फल सम्भूत अधिकारोंमेंसे वहुत थोड़ेसे ही कहे गये हैं । इन उदाहरणों पर लक्ष्य डालनेसे विज्ञानवित् परिडतगण स्वतः ही जान सकेंगे कि प्रवृत्तिधर्मका अधिकार कितना विस्तृत है। इस मीमांसाका सिद्धान्त यह है कि निवृत्तिधर्मका लक्ष्य केवल एक होनेसे उसकी गति केवल एक ही है । इसी कारण केवल निवृत्तिमूलक शास्त्र भी अल्प ही हैं। परन्तु प्रवृत्तिधर्म जो वेदानुकूल और आर्यजातिसे अनुमोदित है उसका अन्तिम लक्ष्य निवृत्ति और अध्यात्म लक्ष्ययुक्त होने पर भी उसका पथ वहुशाखा युक्त है।

प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म दोनोंका यथार्थ स्वरूप और दोनोंका यथार्थ रहस्य विना समझे दोनोंके अन्तिम लक्ष्ययुक्त परम पदमें पहुंचनेसे पहले अपने अपने पथमें दोनोंसे अपने अपने सिद्धान्तके अनुसार अनेक प्रकारके भ्रम प्रमाद हो सकते हैं क्योंकि शास्त्रमें कहा है:—

"सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाऽग्निरिवाऽऽवृताः"

प्रवृत्ति मूलक हो या निवृत्तिमूलक हो सकल प्रकारके आरम्भ ही धूमावृत अग्निकी तरह दोषसम्पर्कयुक्त हुआ करते हैं।

उदाहणके साथ इस अलौकिक कर्म रहस्यको कुछ समझानेकी चेष्टा की जाती है जिससे दोनों मार्गके पथिकको सावधानता प्राप्त हो सके । यह हम पहले ही कह चुके हैं कि निवृत्तिमार्गका धर्म सन्यास लेते ही कोई जीवन्मुक्त नहीं हो सकता है । शास्त्रमें आज्ञा है कि तीन तीन वर्षमें कूटीचक, वहूदक, हंस व परमहंस इन चार आश्रमोंमेंसे प्रथम तीनोंसे आगे वढ़ कर परमहंस हो सकते हैं। यथा:—

व्रतं त्रयाणामाद्यानां प्रत्येकं तु त्रिवत्सरम् ।
व्रते पूर्णेऽधिकारे च लब्धे गुरुदयाबलात् ॥
आद्यो द्वितीयो भवितुं द्वितीयस्तु तृतीयकः ।
एवं तृतीयश्चरमः शक्नोति योग्यतां गतः ॥

इससे यह तात्पर्य नहीं है कि नौ वर्षके वाद संन्यास आश्रमको प्राप्त किया हुआ साधक परमहंस आश्रमको प्राप्त करके जीवन्मुक्त हो सकता है।

परन्तु इससे तात्पर्य यही है कि इन धर्मोंका अभ्यास करते हुए संन्यासी उत्तरोत्तर निवृत्ति मार्गमें अग्रसर होता है और जन्मान्तरमें उक्त संन्यासियोंके आत्मा अपने निवृत्तिधर्ममूलक संस्कारोंको सग्रह करते हुए आगे बढ़ते रहते हैं। क्योंकि शास्त्रमें कहा है:—

'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतम्'

अनेक जन्मोंके संस्कार समूहके बलसे सिद्धिलाभ करके तभी साधकको परम पद प्राप्त होता है।

इस प्रकारसे संन्यास संस्कारको उत्तरोत्तर अनेक जन्मोंमें बढ़ाते समय जो लोग त्यागवृत्तिसे आगे बढ़ते हुए प्रवृत्ति धर्ममूलक व निवृत्ति धर्ममूलक रहस्योंको भूल जाते हैं वे जन्मान्तरमें कर्मप्रवृत्तिहीन होकर प्रमाद-ग्रस्त हो सकते हैं। दृष्टान्तरूपसे दिखाया जाता है कि यदि निवृत्ति- पथविचरणशील पथिक इस लोकमें संन्यासाश्रमको धारण करके निवृत्ति धर्मका पक्षपाती बना और बहुतसे विषयोंमें उसने निवृत्तिसंस्कार संग्रह किये और साथ ही साथ प्रवृत्ति धर्म पर अरुचि होनेसे उसपर उपेक्षाके सस्कार सग्रह किये परन्तु निवृत्तिकी पूर्णता न होनेसे और पुराने प्रवृत्ति संस्कार प्रबल रहनेसे उसको पुनः गृहस्थ होना पड़ा तो उस जन्ममें वह गृहस्थ होने पर भी गृहस्थाश्रमके उन्नति करने वाले अनेक योग्य प्रवृत्तिधर्म्मोंकी ओर उसकी उपेक्षा रहेगी। उस स्वधर्म उपेक्षासे उसकी पुनः अधोगति होनेकी सम्भावना है। इसी प्रकारसे प्रवृत्तिमार्गगामी पथिक भी अनेक भ्रम प्रमाद कर सकता है क्योंकि प्रत्येक धर्माङ्गके साथ सावधान न होनेसे प्रमाद होना स्वत सिद्ध है। उदाहरण रूपसे कहा जाता है कि ज्ञानका उन्माद अहङ्कार है। ज्ञानीको अहङ्कार होना सम्भव है। उपासनाका उन्माद आलस्य है, उपासक अर्थात् भक्तको आलस्य होना सम्भव है। कर्मका उन्माद दम्भ है, कर्मीको दम्भ होना सम्भव है। तपका उन्माद क्रोध है। तपस्वीके लिये क्रोधी होना सम्भव है। इसी प्रकार जैसे प्रकाशके नीचे अन्धकार रहता है हरेक धर्माङ्गके साथ प्रमाद या उन्माद होना स्वतःसिद्ध है। इस कारण निवृत्तिधर्मपरायण और प्रवृत्तिधर्मपरायण उभय धार्मिकको जबतक वे अन्तिम लक्ष्यरूप परम पद पर न पहुँचें प्रवृत्तिधर्म-रहस्य और निवत्ति-धर्मरहस्य पर पूरा ध्यान रखना उचित है।

तृतीय समुल्लासका आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ।



आपद्धर्म्म ।

साधारण धर्म्म और विशेष धर्म्म नामक अध्यायमें दिखाया गया है कि अधिकार और अधिकारीके निर्णयके साथ सर्व जीवहितकर सर्वव्यापक धर्म्मके जिस अङ्गोपाङ्गके आचरणका निर्णय होता है उसको विशेष धर्म्म कहते हैं। उसके बादके अध्यायोंमे अनेक विशेष विशेष धर्म्मोंका वर्णन क्रमशः किया गया है। आपद्धर्म्म भी विशेष धर्म्मके विराट् शरीरका एक प्रधान विभाग है। देश काल पात्र और भावके विचारानुसार आपद्धर्म्मका निर्णय हुआ करता है। आपत्तिमूलक सिद्धान्त इस धर्म्मनिर्णयके विज्ञानमें सम्मिलित हैं। इस कारण इसको आपद्धर्म्म कहते हैं। तात्पर्य्य यह है कि आपत्तिकी असुविधाओंको सन्मुख रखकर वर्त्तमान देश, वर्त्तमान काल और वर्त्तमान पात्रके विचारानुसार सद्भावके अवलम्बनसे जो धर्म्म निर्णय होता है उसीको आपद्धर्म्म कहते हैं।

ज्ञान और विज्ञान निर्णीत जितने प्रधान तत्त्व हैं सब तत्त्वोंमें भावतत्त्व सबसे प्रधान है। अनुभवगम्य तत्त्वोंमें भाव सबसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। इसी कारण परब्रह्मको भावातीत कहा है। इस कथनका तात्पर्य्य यह है कि सूक्ष्माति सूक्ष्म जो भाव रूपी अन्तिम तत्त्व है उस तत्त्वसे भी परे परब्रह्मका अनुभव है। भावतत्त्वका अनुभव स्पष्ट करनेके अर्थ विचार किया जाता है। पूज्यपाद महर्षियोंने कहा है कि :—

गुणैः सृष्टिस्थित्यन्ता भावैस्तदनुभवः।

इस सूत्रका तात्पर्य्य यह है कि महामाया सृजित इस दृश्यमय प्रपञ्चकी सृष्टि उसकी स्थिति और उसका लय रज, सत्त्व और तमोगुणके अनुसार यथाक्रम होता है। और इस प्रपञ्चमय दृश्यका अनुभव भावसे होता है, अर्थात् भावतत्त्वकी सहायतासे दृश्य पदार्थका ज्ञान द्रष्टाको होता है। साधारण तौरपर भी इस संसारमें देखनेमें आता है कि मनुष्य जिस भावके अधीन रहता है दृश्यरूपी विषय उस द्रष्टारूपी मनुष्यको उसी प्रकारके स्वरूपमें दिखाई देने लगता है। विषयी मनुष्यको यह ससार विषय-सुखसे भरा हुआ प्रतीत होता है और वैराग्यवान् व्यक्तिको यह संसार दुःखमय प्रतीत होता है। दूसरा उदाहरण समझा जाय कि स्त्रीरूपी एक ही विषय कामी व्यक्तिके लिये

कामभोगका यन्त्र, विचारवान् व्यक्तिके लिये माया और सौन्दर्य्यका आधार तथा ज्ञानी व्यक्तिके लिये जगत्प्रसविनी महामायाकी स्थूल प्रतिकृति (नमूना) दिखाई देता है। तीन पृथक् पृथक् भावोंके अनुसार स्त्री रूपी एक ही विषय तीन पृथक् व्यक्तियोंको तीन पृथक् रूपमें दिखाई देने लगता है। सिद्धान्त यह है कि सृष्टि स्थिति लयात्मक यह संसार या इसके प्रत्येक पदार्थ भावकी सहायतासे ही अनुभूत होते हैं। इस कारण भाव अन्तिम और सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व है।

भावतत्त्वके स्वरूपको पूर्णरूपसे स्पष्ट करनेके अर्थ अन्तःकरण विज्ञानका स्वरूप समझने योग्य है। अन्तःकरणके चार भेद हैं। यथा—मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार, इसी कारण इसको अन्तःकरण चतुष्टय कहते हैं। संकल्प-विकल्प जिस तत्त्वसे उठता है उसको मन कहते हैं। विना कारण जब वृत्ति नाचती रहती है और नाना इच्छाएँ एकके बाद एक उठती रहती हैं और किसी सिद्धान्त पर नहीं ठहरती यह मनतत्त्वका कार्य्य है। मनके नचाने वाले संस्कार अथवा और भी पूर्व्वार्जित अनन्त संस्कारोंके चिह्न जहाँ अङ्कित रहते हैं उस तत्त्वको चित्त कहते हैं। जो तत्त्व सत् और असत् विचार करके सिद्धान्त निश्चय करता है उसको बुद्धि कहते हैं। बुद्धिकी सहायतासे ही मनुष्य अपने अधिकारके अनुसार अच्छा बुरा, हेय उपादेय और पाप पुण्य आदि निर्णय करनेमें समर्थ होता है और अहङ्कारतत्त्व उसका नाम है कि जिसके बलसे जीव अपने आपको इस विराट् ब्रह्माण्डसे एक स्वतन्त्र सत्ताके रूपमें मानता है। अहङ्कारतत्त्वके बलसे ही मनुष्य अपने आपको मनुष्य, स्त्री या पुरुष, दरिद्र या धनी, राजा या प्रजा इत्यादि रूपसे समझनेमें समर्थ होता है। अन्तःकरणके इन मन चित्त बुद्धि और अहङ्काररूपी चार तत्त्वोंमेंसे चित्ततत्त्व मनतत्त्वका और अहङ्कारतत्त्व बुद्धितत्त्वका अन्तर्विभाग है। चित्तमें कर्म्मके बीजरूपी संस्कार अङ्कित हैं और वह पीछेसे पड़दा दिखाता है इस कारण मन अहर्निश चञ्चल होकर नाचा करता है। इस कारण स्पष्ट रूपसे निश्चित हुआ कि चित्त, मनका अन्तर्विभाग है। उसी प्रकार बुद्धितत्त्वकी चालना अहङ्कारतत्त्वकी सहायतासे होती है; जिस जीवमें जैसा अहङ्कार रहता है वह केवल उसीके अनुसार अपनी बुद्धिकी चालना कर सकता है। जो स्त्री है वह स्त्रीत्वके अहङ्कारसे, जो पुरुष है वह पुरुषत्वके अहङ्कारसे, जो गृहस्थ है वह गृहस्थके अहङ्कारसे, जो सन्न्यासी है वह सन्न्यासीके

अहङ्कारसे, जो प्रजा है वह प्रजाके अहङ्कारसे और जो राजा है वह राजाके अहङ्कारसे अपने अहङ्कारके अनुसार सत् असत् और हेय उपादेय आदिका सिद्धान्त निश्चय कर सकता है। अतः निश्चय हुआ कि अहङ्कारतत्त्व बुद्धि-तत्त्वका अन्तर्विभाग है। परन्तु अहङ्कार तत्त्वके भेद अलौकिक हैं। मैं मनुष्य हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूँ मैं धनी हूँ, मैं दरिद्र हूँ, मैं दुर्बल हूँ, मैं शक्तिशाली हूँ, मैं प्रजा हूँ, मै राजा हूँ, यह सब मलिन अर्थात् अशुद्ध अहङ्कार हैं। मैं वेदज्ञ हूँ, मैं तत्त्वज्ञ हूँ, मै ब्रह्मज्ञ हूँ, और मैं ब्रह्म हूँ, यह शुद्ध अहङ्कार हैं। मलिन अहङ्कार जीवको इन्द्रियोंमें लगाकर गिरा देता है और शुद्ध अहङ्कार साधकको आत्माकी ओर अग्रसर करके मुक्तिभूमिमें पहुंचा देता है। मन-तत्त्वको अभिभूत करने वाला जैसा चित्ततत्त्व है उसी प्रकार बुद्धितत्त्वको अभिभूत करने वाला अहङ्कारतत्त्व है। संसारी मनुष्यको जिस प्रकार स्त्री माया रज्जुसे बांधकर संसारका कार्य्य कराती है उसी प्रकार चित्त मनको और अहङ्कार बुद्धिको फँसाकर कार्य्य कराया करते हैं।

जीव संस्कारोंका दास है; वासनासे उत्पन्न संस्कार ही मनुष्योंको जकड़ कर रखते हैं। आसक्ति ही इस बन्धनका मूल कारण है। वासनासे संस्कार, संस्कारसे कर्म्म, कर्म्मसे पुनः वासना, वासनासे पुनः संस्कार इस प्रकारसे वासनाका चक्र और जीवका आवागमन बना रहता है। पूर्व्वजन्मार्जित कर्म संस्कार अथवा इस जन्मके संगकी स्मृति जैसी मनुष्यके चित्तमे अङ्कित रहती है उसी प्रकारकी आसक्ति उसमें उत्पन्न हुआ करती है। उसी आसक्तिके अनु-सार मनुष्य उसी आसक्ति सम्बन्धीय विषयमें जकड़ा रहता है। आसक्ति चित्तकी सहायतासे मनमें उत्पन्न होती है चित्त और मनरूपी स्त्री पुरुषके सङ्गम से आसक्तिका जन्म होता है। पुत्र जिस प्रकार पिताके प्रजातन्तुकी रक्षा करके पिताके अधिकारको प्राप्त होता है उसी प्रकार आसक्तिके बलसे मन खिंच कर आसक्तिसे सम्बन्ध युक्त विषयको धारण कर सृष्टिको अग्रसर करता है। दूसरी ओर बुद्धिराज्यका सिद्धान्त कुछ और ही है। वहाँ अहङ्कार और बुद्धिके सङ्गमसे भावतत्वका उदय होता है। अशुद्धभाव बुद्धिको विषयवत् कर देता है और शुद्ध भाव क्रमशः अन्तःकरणको मल-रहित करता हुआ बुद्धिको ब्रह्मपदमें पहुँचा देता है। मनुष्य केवल दो तत्त्वकी सहायतासे ही शारीरिक वाचनिक और मानसिक कर्म्म करनेमें समर्थ होते हैं। या मनुष्यगण आसक्तिके वशीभूत होकर कर्म्म करते हैं या भावप्रणोदित होकर कर्म्म

करते है । आसक्तिमें विवशता है परन्तु भावमें स्वाधीनता है । आसक्तिकी वहुशाखा है क्योंकि विषय अनन्त हैं; परन्तु शुद्ध भाव एक अद्वैत दशाको प्राप्त हो सक्ता है क्योंकि ब्रह्मपद अद्वैत है । आसक्तिसे काम करने वाले मनुष्य प्रारब्धकी सहायता, गुरुकी सहायता या देवताओंकी सहायतासे ही वच सक्ते हैं नहीं तो उनका फँसना निश्चित है । परन्तु शुद्ध भावकी सहायतासे कर्म्म करनेवाले भाग्यवान् कदापि नहीं फँसते । उत्तरोत्तर उनकी ऊर्ध्वगति ही होती रहती है । मनुष्यने पूर्व्वजन्मोंमें जैसे संस्कार संग्रह किये है उसीके अनुसार उसमें आसक्ति होगी । उसी आसक्तिके अनुसार उसको हेय और उपादेयका विचार होगा, क्योंकि राग और द्वेष दोनों ही आसक्तिमूलक है। जिस मनुष्यमें पूर्व्वजन्मार्जित जिस प्रकारकी आसक्ति है उसी आसक्तिके अनुसार वह विषयमें सुख दुःख अनुभव करेगा और उसी सस्कारके अनुसार उसके निकट जो विषय सुख देगा वही उपादेय और जो दुःख देगा वही हेय समझा जायगा । उपादेय विषयमें राग और हेय विषयमें द्वेष होना स्वतःसिद्ध है । इस कारण यह मानना ही पड़ेगा कि जो मनुष्य केवल आसक्तिके द्वारा चालित होते हैं वे सव समय वंधे रहते हैं, वे कदापि मुक्तिकी ओर अग्रसर नहीं हो सक्ते । हाँ, यदि कोई और शक्ति उनको सहायता करे और वलपूर्व्वक खेंचे तभी वे उस जकड़ी हुई अवस्थामें भी कुछ आगे वढ़ सके हैं । यदि पूर्व्वजन्मार्जित कोई विशेष कर्म्म वलवान् हो कि जो कर्म्म उसके प्रारब्ध वलसे सामने आकर उसको रोके, अथवा उस पर करुणामय गुरुकी कृपा हो, अथवा उसको दैवी सहायता हो तभी वह आसक्तिसे जकड़ा हुआ व्यक्ति ऊपरकी ओर कुछ चल सक्ता है, नहीं तो उसका नीचेकी ओर गिरना और वन्धन दशामें वना रहना सदा सम्भव है । अशुद्धभाव तो आसक्ति राज्यमें ही रखने वाला तत्त्व है । आसक्तिमें वंधे हुए जो जीव चलते है अशुद्धभाव उनका स्वतः ही साथी है क्योंकि विना भावके विषयका अनुभव नहीं होता है । परन्तु शुद्धभावकी सहायता लेकर चलने वाले सज्जनोंकी गति कुछ विलक्षण ही है । शुद्धभाव ब्रह्मसे युक्त होनेके कारण उसमें नीचेकी ओर गिरनेकी कोई सम्भावना भी नहीं है ।

सव तत्त्वोंका अन्तिम तत्त्व तथा साधकको ब्रह्मपदवी दिलाने वाला भाव तत्त्व है । उसके विषयमें श्रीसंन्यास गीतामें इस प्रकार लिखा है:—

भाव एवाऽत्र सूक्ष्माऽतिसूक्ष्मतत्त्वं निगद्यते ।

भावात्सूक्ष्मतरं किञ्चित्तत्त्वं न परिलक्ष्यते ॥
भावाऽतीतमपि ब्रह्म ज्ञायते योगिभिः सदा ।
साहाय्येनैव भावस्य प्रथमं तत्त्ववेदिभिः ॥
ब्रह्मसाक्षात्कृतौ भावमन्तिमालम्बनं विदुः ।
सारूप्यावस्थितौ वृत्तेः सदसद्भावभेदतः ॥
उत्पद्येते तु भावेन पुण्यपापे उभे अपि ।
सूक्ष्मावस्था तु भावस्य त्रैविध्यमवलम्बते ॥
अध्यात्मिकाऽऽधिदैवाऽऽधिभौतिकानीति शास्त्रतः ।
ज्ञानिना भक्तराजेन तत्त्रयस्याऽवलम्बतः ॥
ब्रह्मेश्वरविराड्रूपैर्भगवान् दृश्यते क्रमात् ।
ब्रह्माण्डेषु च सर्वत्र ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥
भावाँस्त्रीन् सततं सम्यक् वीक्षन्ते सर्ववस्तुषु ।
भावो हि स्थूलाऽवस्थायां सदसद्रूपमास्थितः ॥
स्वर्गञ्च नरकञ्चैव प्रापयत्यत्र मानवान् ॥

इस संसारमें भाव ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व है, भावकी अपेक्षा सूक्ष्मतर कोई तत्त्व नहीं है। भावातीत भी ब्रह्म भावकी सहायतासे ही तत्त्ववेत्ता योगियोंके द्वारा पहले जाने जाते हैं। ब्रह्मसाक्षात्कार करनेमें अन्तिम अवलम्बन भाव ही है। वृत्तिसारूप्यमें भावके सत् और असत् इन दो भेदोंसे क्रमशः पुण्य और पापका उदय हुआ करता है। भावकी सूक्ष्म अवस्था तीन प्रकारकी होती है। यथाः— अध्यात्मिक, अधिदैविक और अधिभौतिक। भक्तराज ज्ञानी महापुरुष इन तीनों भावोंके अवलम्बनसे ब्रह्म ईश्वर और विराट्रूपोंमें भगवान्के दर्शन करते हैं। तत्त्वदर्शी ज्ञानी सब ब्रह्माण्डोंकी सब वस्तुओंमें तीनों भावोंको अच्छी तरह देखा करते हैं। स्थूलावस्थामें भाव सत् और असद्रूपोंका आश्रय करके स्वर्ग और नरकको प्राप्त कराता है।

भावके साथ आसक्ति और आसक्तिके साथ भावका भी रहना स्वतः-सिद्ध है; क्योंकि आसक्तिके विना कर्म्म नहीं होसक्ता और विना भावके विषय अनुभवमें नहीं आ सक्ता। आसक्तिकी जहाँ प्रधानता होती है वहां असद्भाव

गौणरूपसे रहता है परन्तु जहाँ शुद्ध भावकी प्रधानता होती है वहाँ आसक्ति भी बहुत क्षीणता धारण करके छिपी हुई रहती है। परन्तु इस दशामें आसक्ति बलहीन हो जाती है। सद्भावमें आसक्तिका रहना सम्भव है। इसी कारण भक्तिशास्त्रमें शुद्धभावयुक्त रागात्मिका भक्तिके भेदोंको आसक्ति कहते हैं यथाः—दास्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति इत्यादि। शुद्ध भावकी प्रधानतामें विलक्षणता यह है कि शुद्ध भावकी सहायतासे पापकार्य्य पुण्यकार्य्यमें, और प्रवृत्तिधर्म्म निवृत्तिधर्म्ममें परिणत हो सकता है। इसी कारण आपद्धर्म्ममें पूज्यपाद महर्षियोंने भावतत्त्वकी प्रधानता मानी है। केवल शुद्ध भावकी सहायतासे प्रवृत्तिधर्म्मके साधनोंको अभ्यास करते हुए क्रमशः शूद्रसे वैश्य, वैश्यसे क्षत्रिय और क्षत्रियसे ब्राह्मण हो जाता है। शुद्ध भावकी सहायतासे प्रवृत्तिधर्म्मका साधन करते रहने परभी उन्नत अधिकारी क्रमशः भुव, स्वः जन, तप आदि उन्नत भोगलोकोंको प्राप्त कर सकता है। शुद्ध भावकी सहायतासे ही आध्यात्मिक उन्नति लाभ करता हुआ पुण्यात्मा उच्च अधिकारी देवत्व ऋषित्व आदि उन्नत दिव्य अधिकारोंको प्राप्त कर सकता है। ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र, व्यास, वसिष्ठादि दिव्यपद ये सब शुद्ध भावकी सहायतासे ही प्राप्त होते हैं। इस विज्ञानका विस्तारित रहस्य प्रवृत्तिधर्म्म और निवृत्तिधर्म्म नामक अध्यायमें वर्णन किया गया है। यह केवल शुद्ध भावकी सहायतायुक्त साधनका ही फल है कि जिससे प्रवृत्तिके अधिकार निवृत्तिमें परिणत हो जाते हैं और भावशुद्धिकी पराकाष्ठाको प्राप्त किया हुआ तपस्वी या यज्ञपरायण साधक या तो अन्तिम सत्यलोकमें पहुँच कर निवृत्तिधर्म्मके पूर्ण अधिकारको प्राप्त करता हुआ सूर्य्यमण्डल-भेदन द्वारा ब्रह्मसायुज्यरूपी मुक्तिपदको प्राप्त कर लेता है, अथवा इसी देहमें सहजगतिको प्राप्त करके ईशकोटिके जीवन्मुक्तकी सर्व्वश्रेष्ठ पदवीको प्राप्त कर लेता है। भावशुद्धि द्वारा चित्तकी शुद्धि होती है, भावशुद्धिमें उत्तरोत्तर उन्नति लाभ करता हुआ आरुरुक्षु मुनि क्रमशः अपने अन्तःकरणको पूर्ण रूपसे रज-तमके मलसे विशुद्ध कर लेनेमें समर्थ होता है, और इसी शैलीके अनुसार शुद्ध भावके प्रभावसे प्रवृत्ति मूलक आचरण समूह भी साधकको निवृत्तिके आचरणका फल प्रदान किया करते हैं। प्रवृत्तिमूलक भाव जब निवृत्तिभावमें परिणत होते हैं तो उस दशाको अन्तर्द्दष्टा योगिगणने चार भागमें विभक्त किया है। प्रथम अवस्था वह कहाती है कि जब मलिन भावकी प्रधानता रहनेके कारण प्रवृत्तिकी ही प्रधानता रहे।

दूसरी अवस्था वह कहाती है कि जब मलिन भाव कुछ शुद्ध होने लगा हो परन्तु वृत्ति प्रवृत्तिकी ओर ही झुकती हो और कभी कभी निवृत्तिके संस्कार मनमें उदय होते हों। तीसरी अवस्था वह कहाती है कि जब मलिन भाव और अधिक शुद्धताकी ओर अग्रसर हुआ हो और उस समय निवृत्ति अच्छी लगती हो परन्तु प्रवृत्तिका आनन्द भी समय समय पर मनको प्रवृत्तिके सुखकी ओर खींच लेता हो। और चौथी उत्तम अवस्था यह कहलाती है कि जिस समय मनमें शुद्ध भावकी प्रधानताके कारण निवृत्ति ही मनमें स्थापित हो गई हो और प्रवृत्तिकी ओर मन झुकता ही नहीं हो। इस प्रकारसे भावशुद्धिकी सहायतासे अन्तमें अन्तःकरण निवृत्तिमय हो जाता है और उस समय साधकमें प्रवृत्तिमूलक कर्म्म भी निवृत्तिके अधिकारके फल प्रदान किया करते हैं। कर्म्मयोग विज्ञान इसी सिद्धान्तसे सम्बन्ध रखता है।

शुद्ध भावकी सहायतासे किस प्रकारसे पापकर्म्म पुण्यकर्म्ममें परिणत हो सकता है इसके समझनेके लिये कर्म्म-रहस्यका कुछ वैज्ञानिक तात्पर्य्य समझने योग्य है। कर्म्ममीमांसा दर्शनमें कहा है:—

" कर्मबीजं संस्कारः "
" संस्कारशुद्ध्या क्रियाशुद्धिः "
" तया मोक्षोपलब्धिः "

इन सूत्रोंका तात्पर्य्य यह है कि कर्म्मका बीज संस्कार है और संस्कारशुद्धिसे क्रियाशुद्धि होती है एवम् क्रियाशुद्धिसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। जैसे एक वृक्ष जब अपने समय पर फूल और फल देकर मर जाता है तो उसका बीज यदि रह जाय तो उस बीजको जमीनमें बोनेसे पुनः वैसे ही वृक्षकी उत्पत्ति हो जाती है। वह बीज बरसों तक सुरक्षित रह सकता है, और जब बोया जाय तब ही वैसा ही वृक्ष उत्पन्न कर सकता है। ठीक उसी प्रकार मनुष्यके शारीरिक वाचनिक और मानसिक कर्म्म जैसे जैसे वह मनुष्य करता है वैसे वैसे कर्म्म बीजरूपी संस्कार उस मनुष्यके चित्ताकाशमें जमा होकर सुरक्षित होते जाते हैं, और कालान्तरमें उनकी अङ्कुरित होनेकी बारी आनेपर वे बीजरूपी संस्कार जन्मान्तर उत्पन्न करके जाति आयु और भोगरूपी फल उत्पन्न कर रहे हैं। पुनः उन्हीं फलोंके साथ ही साथ नये कर्म्मसे नये बीज बनकर जीवके चित्ताकाशमें एकत्रित होते

हैं, इस प्रकारसे जीवका आवागमनचक्र बराबर बना रहता है। यदि शुद्धभाव द्वारा संस्कारोंकी शुद्धि की जाय तो कर्म्मकी शुद्धि होती है और यदिकर्म्मकी शुद्धि हो जाय तो वे कर्म्म पुनः जीवको बन्धनप्राप्त नहीं कराते और इसी प्रकार निष्काम कर्म्म रूपी कर्म्म शुद्धिसे मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। यही कर्म्म मीमांसाका सिद्धान्त है। जब शुद्धभावोंके द्वारा संस्कार शुद्धि और क्रियाशुद्धि होकर मोक्षकी प्राप्तितक मनुष्यको हो सकती है तब शुद्ध भावोंके प्रभावसे असत् पाप कर्म्म सत् पुण्य कर्म्ममें परिणत होंगे इसमें सन्देह ही क्या है? इस विज्ञानको कुछ और भी स्पष्ट करनेके लिये उदाहरण दिया जाता है कि वैदिक सोमयज्ञमें छागपशुकी बलि होती है, छाग-बलिदानरूप पशुहनन कार्य साधारण रूपसे असत् अधर्मकार्य्य है; क्योंकि एक जीवको अपने नियमित आयुसे पहले मारकर प्रकृतिके नियममें बाधा देनेसे और हिंसाकार्य्य द्वारा तामसिक वृत्तिके संग्रह करनेसे अवश्य ही अधर्म्म होता है। परन्तु सोमयज्ञमें देवताओंकी प्रसन्नता और यजमानकी अपनी इहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदयरूपी धर्म्मवासनाके रहनेसे उसके अन्तःकरणके शुद्धभाव द्वारा संस्कारशुद्धि और क्रियाशुद्धि होकर पशुहननरूपी अधर्म्मकार्य्य भी यज्ञका अङ्ग होनेके कारण धर्म्मकार्य्य हो जाता है। यदि यजमान सकाम हो तो उसके सकाम आसक्ति और धर्म्मजनित शुद्धभावके कारण उसको स्वर्गकी प्राप्ति होती है। स्वर्ग पुण्य कर्म्मका फल है। इस कारण सोमयज्ञरुपी धर्म्मसाधन द्वारा उसको पुण्यकी प्राप्ति हो जाती है। और यदि यजमान निष्काम हो और केवल देवताओंकीप्रसन्नता, जगत् कल्याणबुद्धि अथवा कर्तव्य परायणतासे वह सोमयज्ञ करता हो तो वह यज्ञ उसके मोक्षका कारण होगा। प्रथम दशामें धर्म्म-भावरूपी शुद्धभावके कारण अर्थात् यजमानके अन्तःकरणकी भावशुद्धिके कारण उसके अन्तःकरणमें संस्कार शुद्धि होकर उसको पशुयागरूपी सोमयज्ञ द्वारा पुण्य फलरूपी स्वर्गकी प्राप्ति होती है। यही संस्कारशुद्धि द्वारा क्रियाशुद्धि है। और यदि यजमान निष्काम व्रतपरायण हो तो अधिकता यह होगी कि उसकी वह यज्ञरूपी क्रिया नवीन बीज उत्पन्न करनेमें असमर्थ होगी; उसके अन्तः करणका यह संस्कार बीज भर्जित बीजके सदृश हो जायगा। उस दशामें वह पशुयज्ञ रूपी यज्ञकर्म्म उस यजमानके मुक्तिका कारण होगा। यही क्रिया-शुद्धिसे मोक्षप्राप्तिका विज्ञान है। इसी सिद्धान्तके अनुसार यह स्पष्ट निश्चित हुआ कि शुद्धभावकी सहायतासे मनुष्य असत् पाप करता हुआ भी पवित्र

पुण्य कर्म्मका फल लाभ कर सकता है। सुतरां वर्णाश्रम आदि विशेष धर्म्मके अनुसार अयोग्य कार्य्य भी आपत्ति विचारसे धर्म्म रूपमें परिणत हो सकता है यदि आवश्यकता हो।

आपद्धर्म्मके निर्णय करनेमें पात्र, भाव और देशकाल इनके सम्बन्धके विचार करने की आवश्यकता होती है। भावका स्वरूप हम वर्णन कर चुके हैं अब पात्रका स्वरूप यथावश्यक कहा जाता है। अधिकारनिर्णयके साथ पात्रका सबसे प्रधान सम्बन्ध है। योग्यता, प्रकृति, प्रवृत्ति आदिके विचारसे अधिकारनिर्णय होता है। उदाहरणरूपसे कहा जाता है कि कर्त्ता तीन प्रकारके होते हैं, यथाः—

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्विक उच्यते॥
रागी कर्म्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः॥
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विशादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते॥

इन वचनोंका तात्पर्य्य यह है कि मुक्तसंग, निरहंकार, धृति और उत्साहयुक्त, सिद्धि और असिद्धिमें निर्विकार कर्त्ता सात्विक है। अनुरागवान्, कर्म्मफलकी इच्छा करनेवाला, लोभी, हिंसक, अशुचि और हर्षशोकसे युक्त कर्त्ता राजसिक है और असावधान, प्राकृत, स्तब्ध, शठ, निकम्मा, आलसी, विशाद करनेवाला और दीर्घसूत्री कर्त्ता तामस है।

ऊपर लिखित सात्विक, राजसिक और तामसिक कर्त्ताके तीनों अधिकारों के अनुसार क्रियाका अवश्य ही भेद होना सम्भव है। क्योंकि सात्विक कर्त्ता जिस प्रकार एक धर्म्मके साधन करनेमें समर्थ है राजसिक कर्त्ता उस प्रकार करनेमें समर्थ नहीं हो सक्ता और राजसिक कर्त्ता जिस धर्म्मको अच्छी तरहसे निर्व्वाह कर सकता है तामसिक कर्त्ता उसको नहीं कर सकता। प्रथम तो कर्त्ता के इन तीनों भेदोंके अनुसार योग्यता भी अलग अलग होगी, प्रकृति भी अलग अलग होगी, और प्रवृत्ति भी अलग अलग होगी। ये सब बातें सत्त्व रज तम इन तीन गुणोंके अनुसार निर्णय करने योग्य हैं। द्वितीयतः पूर्व्व अध्यायोंमें

कथित विशेष धर्मके अनुसार विशेष विशेष पात्रके विशेष विशेष धर्म्मानुरूप अधिकारोंको देखकर आपद्धर्म्म निर्णय करना होगा । ब्राह्मणधर्म्म, क्षत्रिय-धर्म्म, वैश्यधर्म्म, शूद्रधर्म्म, नारीधर्म्म, पुरुषधर्म्म, ब्रह्मचारीधर्म्म, गृहस्थधर्म्म, वानप्रस्थधर्म्म, सन्न्यासधर्म्म. राजधर्म्म, प्रजाधर्म्म, आर्य्यजातिधर्म्म, अनार्य्य-जातिधर्म्म और नेताधर्म्म आदिका विचार रखकर देशकालकी आवश्यकता-के अनुसार भावशुद्धि पूर्व्वक आपद्धर्म्म निर्णय करनेकी आवश्यकता होती है।

देश और कालका अधिकार निर्णय करनेके लिये देश और कालका विस्तारित स्वरूप हृदयङ्गम कर लेना प्रधान आवश्यक है। ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति महामाया इन दोनोंकी साक्षात् विभूति काल और देश है। इसी कारण काल और देश विस्ताररूपसे अनादि और अनन्त है। अतः श्रीभगवान्‌के सिवाय ऋषि-देवता, पितर तथा स्थावरजङ्गमात्मक इस विश्वके सब विषय और पदार्थ देश कालसे परिच्छन्न हैं। श्रीभगवान्‌ही केवल देश कालसे अतीत है, अर्थात् केवल सर्व्वशक्तिमान् भगवान्‌के अधीनही देश काल हैं और भगवान् उनसे बाहर हैं। एवं यह त्रिगुणात्मक सृष्टि और उसके स्थावर जङ्गमात्मक सब वैभव देश कालके अधीन हैं। सुतरां देश कालके विचारसे धर्म्माधर्म्म निर्णयमें विशेषत्व होना स्वतःसिद्ध है। देशका स्वरूप साधारण विचार द्वारा समझनेके लिये यह सोचना चाहिये कि हमारे चारों ओरकी दश दिशाएँ, यथाः—ऊर्द्ध, अधः, पूर्व्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, अग्नि, नैर्ऋत्य, वायव्य और ईशान ये कहां तक विस्तृत हैं और इनका अन्त कहां है ? इस शङ्काके उत्तरमें यही सिद्धान्त होगा कि हमारी इस पृथिवीकी दशों दिशाओंमें आदि अन्त रहित आकाश-व्यापी देश विद्यमान है। उसी आदि अन्त रहित आकाशमें विविधग्रह, उपग्रह सूर्य्यचन्द्रसे व्याप्त अनन्त ब्रह्माण्डसमूह एक दूसरेके बाद कहां तक फैले हुए हैं इसका पता नहीं चल सकता। आदि अन्तरहित देश जो हमारे सकल ओरकी दश दिशाओंमें विभुरूपसे विद्यमान है उसके विस्तारका कुछ भी पता नहीं चल सकता। श्रीभगवान्‌की साक्षात् विभूतिरूप आदिअन्तरहित देशका यही अलौकिक अनुभव है। ठीक उसी प्रकार आदिअन्तरहित कालका भी अनुभव समझने योग्य है। पलसे घड़ी, घड़ीसे प्रहर, पहरसे दिनरात, दिनरातसे पक्ष, पक्षसे मास, माससे वर्ष, वर्षसे युग, युगसे कल्प इस प्रकारसे यद्यपि कालके अन्तर्विभागका स्वरूप बांधा जा सकता है परन्तु यह नहीं अनुभवमें आ सक्ता कि यह काल कबसे प्रकट हुआ है और कब इसका अन्त

होगा । इस अनादिअनन्त कालके गर्भमें स्थावरजङ्गमात्मक तिर्यक् मनुष्य आदि लौकिक सृष्टिसे सुशोभित और ऋषि देवता पितृ आदि दैवीसृष्टिसे समलंकृत अनेक ग्रह उपग्रहोंसे सुसज्जित अनन्तब्रह्माण्डसमूह उत्पत्ति और लयको प्राप्त होते आये हैं होरहे हैं और होंगे परंतु कालका आदि और अन्त किसीको भी ज्ञात नहीं होगा । श्रीभगवान्‌की साक्षात् विभूतिरूप आदि अन्त रहित काल-का यही अलौकिक अनुभव है । वैदिक-विज्ञानके अनुसार श्रीभगवान् देश और कालके स्रष्टा होनेपर भी जीवकी दृष्टिमें देश और कालका आदि अन्त दिखाई नहीं दे सकता । जिस प्रकार सगुणब्रह्मरूपी श्रीभगवान्‌के दो स्वरूप हैं एकका नाम परमपुरुष और दूसरेका नाम मूलप्रकृति कहते हैं उसी प्रकार शास्त्रकारोंने देशको स्त्री और कालको पुरुष करके वर्णन किया है । जैसे स्त्री और पुरुष दोनोंके संयोगसे ही पुत्र उत्पन्न होता है उसी प्रकार देश और काल दोनों ही दृश्यरूपी प्रपञ्चके सृष्टिस्थितिलयमें सहायक होते हैं । इसी कारण देश और कालकी सेवासे किस प्रकार मनुष्यको लाभ पहुँचता है उसका वर्णन मीमांसादर्शनमें इस प्रकारसे किया गया है कि:—

"विभूतित्वात्सेव्याः पितृकालमहाकालाः"

"मातृदेहजन्मभूमयश्च"

"तथात्वात्पुण्यशक्तिमुक्तयः"

श्रीभगवान्‌की विभूति होनेसे पिता, काल व महाकाल सेवनीय है । और उसी प्रकारसे माता, देह व जन्मभूमि सेवनीय है । पिता व माताकी सेवाके द्वारा पुण्य, काल व देहकी सेवाके द्वारा शक्ति और महाकाल व जन्म भूमिकी सेवाके द्वारा मुक्ति होती है । इस विज्ञानका तात्पर्य यह है कि पिता काल व महाकाल तथा माता, देह व जन्मभूमि ये तीनों यथाक्रम काल व देशसे सम्बन्धयुक्त हैं । निर्लिप्त, सर्वव्यापक काल व देशके ही ये तीन तीन अलग स्वरूप विभूतिरूपसे प्रकट हुए हैं । नहीं तो दोनोंका स्वरूप अचिन्त्य है।

महाकाल और देशका विराट् स्वरूप ये दोनों सर्व व्यापक स्वरूप हैं । इन्हींके साक्षात् विभागरूप काल व देशका वर्णन अन्य दर्शनोंमें है । उस विषयमें वैशेषिकदर्शनमें कहा है कि—

"अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि"

"द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते"

"तत्त्वं भावेन"

"नित्येष्वभावादनित्येषु भावात् कारणे कालाख्येति"

"इत इदमिति यतस्तद्दिश्यं लिङ्गम्"

"द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते"

"तत्वं भावेन"

"कार्यविशेषेण नानात्वम्"

"आदित्यसंयोगाद्भूतपूर्वाद्भविष्यतो भूताच्च प्राची"

"तथा दक्षिणा प्रतीची उदीची च"

"एतेन दिगन्तरालानि व्याख्यातानि"

इन सूत्रोंका तात्पर्य यह है कि जो युगपत् भासमान हो, औरमें और प्रतीत हो तथा थोड़ा या बहुत समय विशिष्ट हो इत्यादि लक्षणोंसे कालका स्वरूप जाना जाता है। वह द्रव्यत्व व नित्यत्वरूपसे वायुके समान है। वह भावके समान एकत्व सम्बन्ध युक्त है। वह नित्य पदार्थमें अभाव रूपसे और अनित्य पदार्थमें भाव रूपसे कारणत्वेन प्रतीयमान होता है। इसी प्रकारसे देशको भी समझना उचित है। उसमें कालके समान ही कुछ बातें होनेपर भी कार्यविशेषसे उसका नानात्व होता है और प्रत्येक ब्रह्माण्डके केन्द्र सूर्यगोलककी स्थितिके सम्बन्धसे देशकी दसों दिशाओंका विभाग कल्पित होता है। इस विज्ञानसे तात्पर्य यह है कि विराट् काल और विराट् देश सर्वव्यापक और आदि अन्तरहित विराट् मूर्त्तिसे युक्त होनेपर भी उन दोनोंकी साक्षात् विभूतिरूप काल और देश कर्मसे उत्पन्न नाना उपाधियोंके सम्बन्धसे नाना रूप धारण कर लेते हैं। वास्तवमें काल और देश सबसे अलग और सबमें व्यापक होनेपर भी जैसे ब्रह्ममें मायाके प्रभावसे दृश्यरूपी जगत् प्रपञ्चका भान होता है उसी प्रकार कर्मसे उत्पन्न समष्टि और व्यष्टि सृष्टिके कारण विराट् काल और विराट् देशमें परिच्छिन्न काल और परिच्छिन्न देशका अलग अलग भान होता है। उसी कारण उक्त विशेष विशेष कर्मपुञ्जसे सम्बन्ध रखने वाले विशेष विशेष काल और विशेष विशेष देशकी शक्तिका भी तारतम्य हो जाता है। जब उनमें शक्तिका तारतम्य होता है तो शक्तिके तारतम्यहेतु, उस विशेष विशेष काल व विशेष विशेष देशमें उत्पन्न हुए अधिकार व

पुरुषार्थमें भी भेद पड़ना अवश्य सम्भव है। इसी अधिकार तथा पुरुषार्थ शक्तिके तारतम्यानुसार भिन्न भिन्न देश व कालमें भिन्न भिन्न पात्रके लिये निर्णीत धर्मको आपद्धर्म कहते हैं। स्वाधिकारानुसार भावशुद्धिपूर्वक देश व कालके विचारसे आपद्धर्मका पालन करने पर सभी मनुष्य कल्याणके अधिकारी हो सकते हैं। अब नीचे विविध शास्त्र लिखित काल, देश व पात्र-भेदानुसार आपद्धर्म पालनके कुछ दृष्टान्त व प्रमाण दिये जाते हैं। महाभारतके शान्ति-पर्वमें आपत्कालमें जीवनोपाय वर्णन करते समय श्रीभगवान् भीष्म पितामहने कहा है—

एवं विद्वानदीनात्मा व्यसनस्थो जिजीविषुः।
सर्वोपायैरुपायज्ञो दीनमात्मानमुद्धरेत्॥
एतां बुद्धिं समास्थाय जीवितव्यं सदा भवेत्।
जीवन् पुण्यमवाप्नोति पुरुषो भद्रमश्नुते॥

विद्वान् व्यक्ति आपद्ग्रस्त होनेपर सभी प्रकारके उपायोंसे अपनेको आपद्से मुक्त करे क्योंकि प्राणकी रक्षा होनेपर मनुष्य पुण्य सञ्चय द्वारा आपत्कालीन अवैधकर्मजनित समस्त प्रत्यवायको दूर करके कल्याणके अधिकारी हो सकते हैं। इसके अनन्तर धर्म्माधिकारीको सावधान करनेके लिये उन्होंने कहा है—

विश्वैर्देवैश्च साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः।
आपत्सु मरणाद्भीतैर्विधिः प्रतिनिधीकृतः॥
प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते।
न साम्परायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम्॥

देवता, विश्वेदेवा, साध्य, ब्राह्मण व महर्षिगण आपत्कालमें मृत्यु-भयसे भीत होकर मुख्यकल्पके स्थानपर अनुकल्प द्वारा जीविका निर्वाह कर सकते हैं। परन्तु मुख्यकल्प पालनमें समर्थ होनेपर भी जो अनुकल्पके द्वारा जीवन निर्वाह करना चाहते हैं उनको परलोकमें कोई भी सुफल नहीं प्राप्त होता। श्रीभगवान् मनुजीने भी कहा है—

आपत्कल्पेन यो धर्मं कुरुतेऽनापदि द्विजः।
स नाऽऽप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम्॥

जो द्विज अनापत् कालमें भी आपद् धर्मका अनुष्ठान करते हैं वे परलोकमें उस कर्मका फल नहीं पाते हैं। इसलिये सब ओर विचार करके महर्षि याज्ञवल्क्यजीने कहा है:—

क्षात्रेण कर्मणा जीवेद्विशां वाप्यापदि द्विजः ।
निस्तीर्य्य तामथात्मानं पावयित्वा न्यसेत्पथि ॥

ब्राह्मण आपत्कालमें क्षत्रिय अथवा वैश्य---जनोचित कर्मानुष्ठान द्वारा जीवनमात्र निर्वाह करेंगे । परन्तु आपन्मुक्त होते ही अनुकल्प वृत्तिको परित्याग करके उस दीनदशासे अपने आत्माको मुक्त करेंगे । पात्रके विचारसे आपत्कालीन कर्त्तव्यनिर्णय प्रसङ्गमें श्रीभगवान् मनुजीने कहा है:—

अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा ।
जीवेत् क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः ॥
उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत् ।
कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद् वैश्यस्य जीविकाम् ॥
जीवेदेतेन राजन्यः सर्वेणाप्यनयं गतः ।
न त्वेव ज्यायसीं वृत्तिमभिमन्येत कर्हिचित् ॥
यो लोभादधमो जात्या जीवेदुत्कृष्टकर्मभिः ।
तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥
वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः ।
परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः ॥
वैश्योऽजीवन् स्वधर्मेण शूद्रवृत्त्यापि वर्त्तयेत् ।
अनाचरन्नकार्य्याणि निवर्त्तेत च शक्तिमान् ॥
अशक्नुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम् ।
पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत् कारुककर्मभिः ॥
यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः ।
तानि कारुककर्म्माणि शिल्पानि विविधानि च ॥

यदि ब्राह्मण अपने स्वाधिकारानुकूल कर्मद्वारा जीविकाका निर्वाह करनेमें असमर्थ हो तो क्षत्रिय वृत्तिके द्वारा जीविका निर्वाह करे क्योंकि यही उनकी आसन्नवृत्ति है। यदि स्ववृत्ति व क्षत्रियवृत्ति दोनोंहीके द्वारा जीविका निर्वाह असम्भव हो जाय तो इस दशामें कृषि गोरक्षा आदि वैश्यवृत्तिके द्वारा जीवनधारण कर सकते है। ब्राह्मणकी तरह क्षत्रिय भी आपत्कालमें कृषि, वाणिज्य आदि वैश्य वृत्ति द्वारा जीवन निर्वाह कर सकते हैं। परन्तु कभी ब्राह्मण वृत्ति-अवलम्बन नहीं कर सकते। यदि कोई अधमजाति उत्तम जातिकी वृत्ति-अवलम्बनपूर्वक जीविका निर्वाह करना चाहे तो, राजाका कर्त्तव्य है कि उसका सर्वस्व हरण करके उसे देशसे निर्वासित कर दे। अपना धर्म, निकृष्ट होने पर भी अनुष्ठेय है और परधर्म उत्कृष्ट होने पर भी अनुष्ठेय नहीं हैं क्योंकि उच्चजातिके धर्म द्वारा जीवन धारण करनेसे मनुष्य शीघ्र ही अपनी जातिसे पतित हो जाता है। वैश्य अपने धर्म द्वारा जीवन धारणमें असमर्थ होने पर अनाचार परित्याग करके द्विज शुश्रूषादि शूद्र वृत्ति द्वारा जीविका निर्वाह कर सकते हैं, परन्तु आपन्मुक्त होते ही शूद्र वृत्ति परित्याग करना होगा। शूद्र यदि निज वृत्ति द्वारा परिवार प्रतिपालनमें असमर्थ हो तो काम कार्य आदि द्वारा जीवन धारण कर सकता है। जिस कार्यके द्वारा द्विजसेवा हो सकती है इस प्रकारके काम कार्य व शिल्पकार्य इस दशामें शूद्रको अवलम्बनीय होंगे। इस प्रकारसे प्रत्येक वर्णके लिये आपत्कालमें जीवनोपाय निर्द्धारित करके श्रीभगवान् मनुजीने सभी वर्णोंके लिये कुछ साधारणरूपसे आपत्कालीन वृत्तियोंका निर्णय कर दिया है। यथा :—

विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः।
धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनहेतवः॥

विद्या, शिल्पकार्य, नौकरी, सेवा, गोरक्षा, वाणिज्य, कृषि, धृति, (जो अवस्था हो उसीमें सन्तोष) भिक्षा, व सूदग्रहण ये दस प्रकारके जीवनोपाय आपत्कालमें सुविधा व शक्तिके अनुसार सभी वर्णोंके लिये विहित है।

देश व कालके अनुसार आपद्धर्मका विचार करते हुए महर्षि पराशरजीने अपनी संहितामें कहा है:—

देशभङ्गे प्रवासे वा व्याधिषु व्यसनेष्वपि।
रक्षेदेव स्वदेहादि पश्चाद्धर्मं समाचरेत्॥

येन केन च धर्मेण मृदुना दारुणेन च ।
उद्धरेद्दीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत् ॥
आपत्काले तु सम्प्राप्ते शौचाचारं न चिन्तयेत् ।
स्वयं समुद्धरेत् पश्चात् स्वस्थो धर्मं समाचरेत् ॥

देशमें विप्लव या दुर्भिक्ष आदि उत्पन्न होनेसे अथवा महामारी या किसी प्रकारकी आपत्की उत्पत्ति होनेसे, पहले शरीरकी रक्षा करके पश्चात् धर्मानुष्ठान करे । आपत्कालमें मृदु या दारुण किसी भी उपायसे दीन आत्माकी रक्षा करनी चाहिये । इसके वाद जब सामर्थ्य हो तब स्वधर्मानुष्ठान करना चाहिये । आपत्कालमें शौचाचारके विषयमें कुछ भी विचार नही करना चाहिये । पहले विपत्तिसे अपनेको बचाना चाहिये और तत्पश्चात् स्वस्थ हो कर शौचाचारानुकूल धर्मानुष्ठान करना चाहिये । इसी विषयकी एक कथा श्रुतिमें भी मिलती है । यथा—किसी समय प्रबल दुर्भिक्षके प्रकोपसे समस्त देशके अन्न व जलके अभावसे अभिभूत होने पर एक ऋषि अपनी सहधर्मिणीके साथ जीवन धारणार्थ उस देशसे निकल चले । रस्तेमें एक पहाड़के पास देखा कि एक सुनिर्मल प्रस्रवणकी धारा वह रही है और उसके पास बैठ कर एक चाण्डाल उवाला हुआ चना भक्षण कर रहा है । कई दिनोंके उपवासी ऋषि ने प्राण धारणके लिये और कोई भी उपाय न देखकर उस चाण्डालसे ही उसका उच्छिष्ट चना भिक्षा मांगा और उसका आधा स्वयं खाकर आधा पत्नीको दे दिया । उच्छिष्ट चना खानेके वाद चाण्डालने जब उच्छिष्ट जल देना चाहा तो ऋषिने उसे ग्रहण करना अस्वीकार किया और कहा—" मै तुम्हारा उच्छिष्ट जल नहीं पिऊंगा ।" चण्डालने थोड़ा हंस कर कहा—" आपने उच्छिष्ट चना तो खा लिया उससे आप पतित नहीं हुए और उच्छिष्ट जल पीनेसे ही पतित हो जायंगे ।" इस वातको सुनकर ऋषिने उत्तर दिया—" मै अनाहारसे मर रहा था इसी लिये आपत्कालमें प्राणरक्षार्थ तुम्हारा उच्छिष्ट भी चना खाया है, परन्तु जल तो सामने ही झरनेसे आरहा है इस लिये जलका क्लेश नही है । इस कारण उच्छिष्ट जल पीनेका प्रयोजन नहीं है ।" इस प्रकारसे उस दिनके लिये प्राणधारणका उपाय होजाने पर फिर आगे भिक्षाके लिये पति-पत्नी चले । परन्तु दूसरे दिन कही कुछ भी नही प्राप्त हुआ । उस समय अनाहार पतिको मृत्युमुखमें अग्रसर देखकर ऋषिपत्नीने अपने कपड़ेमें बधे हुए

पहले दिनके चने निकालकर पतिको दे दिये। ऋषिने चकित होकर कहा "क्या तुमने कलका चना नहीं खाया था ?" इस पर ऋषिपत्नीने उत्तर दिया "आपने तो कहा था कि अनाहारसे मृतप्राय होने पर ही हमने चाण्डाल का उच्छिष्ट चना खालिया था, मैं कल अनाहारसे मृतप्राय नहीं थी, और भी कई दिन बच सकती थी इसलिये उस उच्छिष्ट चनेको नहीं खाया था। मैं और एक दिन विना खाये बच सकती हूं, परन्तु आपका प्राण जारहा है इसलिये आप इस उच्छिष्ट चनेको खाईये।" इस कथाके द्वारा आपत्कालमें कर्त्तव्या-कर्त्तव्यनिर्णयका दृष्टान्त अच्छी तरहसे सिद्ध होजाता है और स्वधर्मसे नीचे का धर्म तथा शौचाचारसे विरोधी व्यवहार भी आपत्कालमें विहित आचाररूपसे परिगणित हो सकता है इस विज्ञानकी सम्यकसिद्धि हो जाती है।

क्षत्रियधर्मके पूर्ण अधिकारी क्षात्र नरपतिके लिये प्रधान धर्म यह है कि युद्धार्थी शत्रुसे अवश्य युद्ध करना और कदापि किसी दशामें शत्रुके सम्मुख सिर न झुकाना। युद्धसे पलायन और शत्रुसे पराजय स्वीकार करना क्षत्रिय-धर्मसे विरुद्ध है। इसी कारण श्रीभगवान् भीष्म पितामहजीने आपत्कालमें राजाको शत्रुके साथ भी मैत्री करनेका उपदेश किया है। यथा महाभारतमें—

तस्माद् विश्वसितव्यं च विग्रहं च समाचरेत्।
देशं कालं च विज्ञाय कार्याकार्यविनिश्चये॥
सन्धातव्यं बुधैर्नित्यं व्यवस्य च हितार्थिभिः।
अमित्रैरपि सन्धेयं प्राणा रक्ष्या हि भारत॥
शत्रुसाधारणे कृत्ये कृत्वा सन्धिं बलीयसा।
समाहितश्चरेद् युक्त्या कृतार्थश्च न विश्वसेत्॥

देशकालको समझके ही शत्रुसे संग्राम या सन्धिके विषयमें कर्तव्या कर्तव्यनिर्णय करना चाहिये। सन्धिके विषयमे विचार करके यदि प्राण-रक्षाके लिये प्रयोजन हो तो शत्रुसे भी समय पर सन्धि कर लेनी चाहिये। परन्तु बलवान् शत्रुके साथ प्राणरक्षार्थ सन्धि करने पर भी सदा ही सावधान रहना चाहिये और शत्रुपर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये। श्रीभगवान् मनुजीने देश व कालके विचारसे ब्राह्मणोंके लिये आपद्धर्म विधान करते हुए कहा है—

वैश्यवृत्तिमनातिष्ठन् ब्राह्मणः स्वे पथि स्थितः ।
अवृत्तिकर्षितः सीदन्निमं धर्मं समाचरेत् ॥
सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद् ब्राह्मणस्त्वनयं गतः ।
पवित्रं दुष्यतीत्येतद्धर्मतो नोपपद्यते ॥
नाध्यापनाद् याजनाद्वा गर्हिताद्वा प्रतिग्रहात् ।
दोषो भवति विप्राणां ज्वलनाम्बुसमा हि ते ॥
जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः ।
आकाशमिव पङ्केन न स पापेन लिप्यते ॥
अजीगर्त्तः सुतं हन्तुमुपासर्पद् बुभुक्षितः ।
न चालिप्यत पापेन क्षुत्प्रतीकारमाचरन् ॥
श्वमांसमिच्छन्नार्त्तोऽत्तुं धर्माधर्मविचक्षणः ।
प्राणानां परिरक्षार्थं वामदेवो न लिप्तवान् ॥
क्षुधार्त्तश्चाऽत्तुमभ्यागाद्विश्वामित्रः श्वजाघनीम् ।
चण्डालहस्तादादाय धर्माधर्मविचक्षणः ॥

अपने कर्त्तव्यपंथपर स्थित ब्राह्मण वृत्तिके अभावसे पीड़ित होने पर भी यदि क्षत्रिय या वैश्यवृत्ति अवलम्बन करना न चाहें तो नीचे कही हुई वृत्तिका आश्रय कर सकते हैं। विपन्न ब्राह्मण सभीके पाससे प्रतिग्रह कर सकते हैं क्योंकि जो स्वभावतः ही पवित्र हैं वे दोषदुष्ट हो सकते हैं यह बात धर्मतः प्रतिपादित नहीं हो सकती है। ब्राह्मण स्वभावतः जल व अग्नि की की तरह पवित्र हैं। आपत्कालमें निन्दित पुरुष के याजन अध्यापन व परिग्रहके द्वारा भी ब्राह्मणको अधर्म प्राप्त नहीं होता है। प्राण नष्ट होनेकी सम्भावना उपस्थित होनेपर यदि ब्राह्मण अति नीचका भी अन्न ग्रहण करें तो भी आकाशमें जिस प्रकार पङ्क लिप्त नहीं होता है उसी प्रकार वह ब्राह्मण भी पापग्रस्त नहीं होता। ऋषि अजीगर्त्त क्षुधासे कातर होकर अपने पुत्रके प्राण संहारमें भी उद्यत हो गये थे परन्तु उसपर भी क्षुधानिवारण द्वारा प्राणरक्षा लक्ष्य होनेसे उनको कोई भी पाप नहीं हुआ था। धर्माधर्मविचक्षण ऋषि वामदेवने क्षुधार्त्त होकर प्राणरक्षाके लिये कुक्कुरमांस भोजनकी भी

इच्छा की थी परन्तु तथापि वे पापलिप्त नहीं हुए थे। इसी प्रकार धर्माधर्म विलक्षण महर्षि विश्वामित्रजी भी क्षुधाक्षामताके कारण चण्डालके हस्तसे कुक्कुरके जंघाका मांस ग्रहण करके भोजन करनेको उद्यत हो गये थे तथापि उनको कोई भी पाप नहीं लगा था। इस प्रकारसे सर्वदर्शी श्रीभगवान् मनुमहाराजने देश व कालके विचारसे आपद्धर्मका उपदेश किया है। महर्षि विश्वामित्रका उल्लिखित श्वानमांसभोजनोद्योग इतिहासमें विशेष प्रसिद्ध है। महाभारतके शान्तिपर्वमें इसका विशेषरूपसे वर्णन देखनेमें आता है जिसमें मांस अपहरणके पहले चण्डालके साथ महर्षि मिश्वामित्रकी आपत्कालीन कर्त्तव्याकर्त्तव्यके विषयमें जो बात चीत हुई थी उसके पाठ करने पर आपद्धर्मका सम्यक् रहस्य सबको विदित हो सकेगा। इस लिये नीचे उन कथाओंमेंसे कुछ कुछ अंश उद्धृत किये जाते हैं। यथा महाभारते—

त्रेताद्वापरयोः सन्धौ तदा दैवविधिक्रमात् ।
अनावृष्टिरभूद् घोरा लोके द्वादशवार्षिकी ॥
न ववर्ष सहस्राक्षः प्रतिलोमोऽभवद् गुरुः ।
जगाम दक्षिणं मार्गं सोमो व्यावृत्तलक्षणः ॥
उच्छिन्नकृषिगोरक्षा निवृत्तविपणापणा ।
निवृत्तयूपसम्भारा विप्रनष्टमहोत्सवा ॥
अस्थिसंचयसङ्कीर्णा महाभूतरवाकुला ।
शून्यभूयिष्ठनगरा दग्धग्रामनिवेशना ॥
तस्मिन् प्रतिभये काले क्षते धर्मे युधिष्ठिर ।
वभ्रमुः क्षुधिता मर्त्याः खादमाना परस्परम् ॥
विश्वामित्रोऽथ भगवान् महर्षिरनिकेतनः ।
क्षुधापरिगतो धीमान् समन्तात् पर्यधावत ॥

त्रेता व द्वापर की सन्धिमें दैव प्रतिकूलताके कारण द्वादश वर्ष पर्यन्त घोर अनावृष्टि हुई थी। उस समय वृहस्पति प्रतिकूल हो गये थे और चन्द्रने दक्षिण दिशाको आश्रय किया था। कृषि गोरक्षा आदि सब नष्ट होगई थी। वाणिज्य व्यौपार आदि सब उठ गये थे और लोगों में आनन्द समस्त निर्मूल हो गया था। चारों ओर मृत जीवोंकी अस्थि, भूतोंका चीत्कार, गृहदाह व शून्याकारता

देखनेमें आने लग गई थी । धर्मका एकदम नाश हो जानेसे प्रजा क्षुधार्त्त व अत्याचारी होकर परस्परको खाने लग गयी थी । इस प्रकार भयानक दुर्भिक्ष कालमें महातपा महर्षि विश्वामित्र भी किसी समय अत्यन्त क्षुधातुर होकर घर छोड़ अन्नके अन्वेषणमें इतस्ततः भ्रमण करने लगे ।

स कदाचित् परिपतन् श्वपचानां निवेशनम् ।
हिंस्राणां प्राणिघातानामाससाद वने क्वचित् ॥
अहो कृच्छ्रं मया प्राप्तमिति निश्चित्य कौशिकः ।
पपात भूमौ दौर्बल्यात्तस्मिंश्चांडालपक्कणे ॥
स चिन्तयामास मुनिः किं नु मे सुकृतं भवेत् ।
कथं वृथा न मृत्युः स्यादिति पार्थिवसत्तम ॥
स ददर्श श्वमांसस्य कुतन्त्रीं विततां मुनिः ।
चाण्डालस्य गृहे राजन् सद्यः शस्त्रहतस्य वै ॥
स चिन्तयामास तदा स्तैन्यं कार्यमितो मया ।
न हीदानीमुपायो मे विद्यते प्राणधारणे ॥
आपत्सु विहितं स्तैन्यं विशिष्टं च महीयसः ।
विप्रेण प्राणरक्षार्थं कर्त्तव्यमिति निश्चयः ॥
हीनादादेयमादौ स्यात् समानात्तदनन्तरम् ।
असम्भवे वाददीत विशिष्टादपि धार्मिकात् ॥
सोऽहमन्त्यावसानायां हराम्येनां प्रतिग्रहात् ।
न स्तैन्यदोषं पश्यामि हरिष्यामि श्वजाघनीम् ॥

इस प्रकारसे खाद्य अन्वेषण करते हुए किसी समय महर्षि विश्वामित्र जी एक अरण्यमें प्राणिघातक हिंस्र चण्डालोंका ग्राम देखकर उसीमें प्रविष्ट हुए । परन्तु उस पल्लीमें भी अन्वेषण करके जब कहीं कुछ न प्राप्त हुआ तो हा कष्ट ! ऐसा कह कर दुर्बलेन्द्रिय होनेसे किसी चाण्डालके मकानमें गिर पड़े। और किस उपायसे प्राणरक्षा हो सोचने लगे । थोड़ी देरमें उस चण्डालके गृहमें विश्वामित्रको सद्योनिहत किसी कुक्कुरका मांसखण्ड देखनेमें आया । उसको देखकर बहुत ही आनन्दित हो विश्वामित्र सोचने लगे " मैं किसी न

किसी तरहसे इस मांसखण्डको अवश्य ही अपहरण करूंगा । इसके सिवाय इस समय प्राणरक्षाका और कोई भी उपाय नहीं दीखता है । आपत्कालमें चौर्यवृत्तिका आचरण करने पर भी महात्माओंके गौरवकी हानि नहीं होती है । और शास्त्रमें भी कहा है कि आपत्कालमें प्राणरक्षणार्थ ब्राह्मण चोरी भी कर सकता है । पहले नीच का द्रव्य, पश्चात् समान जातीय का द्रव्य और यदि उससे भी कुछ प्राप्त न हो तो अपनेसे उत्तम धार्मिक व्यक्तिका भी धन अपहरण कर सकता है अतः पहले मैं इन नीचका द्रव्य अपहरण करूंगा । इस प्रकार अपहरणसे मुझे चोरीका पाप स्पर्श नहीं करेगा । " इस प्रकार विचार करके महर्षि विश्वामित्र वहीं सोये रहे । तदन्तर रात्रि अधिक होने पर जब सब लोग निद्रित हो गये तो धीरे धीरे विश्वामित्र उस चण्डालकी कुटीमें मांस अपहरणार्थ प्रवेश करने लगे । उस समय वह चाण्डाल जागता था सो कुटीमें किसी दूसरेको प्रवेश करते हुए देखकर, कर्कश स्वरसे कहा " कौन आया है मेरे घरमें कुकुरमांस चोरी करनेको, आज अवश्य ही मेरे हाथसे उसका प्राण जायगा । " इस बातको सुनकर महर्षि विश्वामित्र अति भीत व लज्जित हो कहने लगे—" मैं विश्वामित्र हूं, अत्यन्त क्षुधासे व्याकुल होकर तुम्हारे घरमें आया हूं । यदि तुम साधुदर्शी हो तो मुझे वध न करो ।" विश्वामित्रकी बात सुनते ही चाण्डाल त्रस्तचित्त हो शय्यासे उठा और गलदश्रुलोचन व कृताञ्जलि हो कहने लगा " भगवन् ! इस गम्भीर रात्रिमें आप क्यों यहाँ आये हैं ।

विश्वामित्रस्तु मातङ्गमुवाच परिसान्त्वयन् ।
क्षुधितोऽहं गतप्राणो हरिष्यामि श्वजाघनीम् ॥
क्षुधितः कलुषं यातो नास्ति ह्रीरशनार्थिनः ।
क्षुच्च मां दूषयत्यत्र हरिष्यामि श्वजाघनीम् ॥
अवसीदन्ति मे प्राणाः श्रुतिर्मे नश्यति क्षुधा ।
दुर्बलो नष्टसंज्ञश्च भक्ष्याभक्ष्यविवर्जितः ॥
सोऽधर्मं बुध्यमानोऽपि हरिष्यामि श्वजाघनीम् ।
अटन् भैक्ष्यं न विन्दामि यदा युष्माकमालये ॥
तदा बुद्धिः कृता पापे हरिष्यामि श्वजाघनीम् ।
अग्निर्मुखं पुरोधाश्च देवानां शुचिषाड्विभुः ।

यथावत् सर्वभुग्ब्रह्मा तथा मां विद्धि धर्मतः ॥

चाण्डालका वाक्य सुनकर महर्षि विश्वामित्रजीने कहा " मैं क्षुधाकातर व मृतप्राय होकर तुम्हारा यह कुकुरमांस अपहरण करनेके लिये आया हूं। बुभुक्षित व्यक्ति के लिये लज्जा कैसे सम्भव हो सकती है ? क्षुधाके प्रभावसे मेरा जीवन अवसन्न व ज्ञान लुप्तप्राय हो रहा है जिससे मेरी भक्ष्याभक्ष्यकी विचार-शक्ति लुप्त हो गई है। इसलिये चोरके कार्यको अत्यन्त अधर्म जानने पर भी इस मांसखण्डके अपहरणमें मेरी इच्छा हुई है । मै तुम्हारे ग्राममें बहुत घूमने पर भी कहीं कुछ न पाकर इस पाप कार्यके लिये सन्नद्ध हुआ हूँ । देखो, अग्नि देवताओंका मुख व पुरोहित रूप है इसलिये पवित्र वस्तुके सिवाय दूसरी वस्तु लेना अग्निके लिये कदापि कर्त्तव्य नहीं है । तथापि जिस प्रकार अग्नि को सभी प्रकारकी वस्तु अगत्या लेनी पड़ती है उसी प्रकार प्राणरक्षणार्थ मुझे भी खाद्याखाद्य-विचारशून्य होना पड़ा है। " विश्वामित्रका वाक्य सुनकर चाण्डालने कहा—

शृगालादधमं श्वानं प्रवदन्ति मनीषिणः ।
तस्याप्यधम उद्देश्यः शरीरस्य श्वजाघनी ॥
नेदं सम्यग्व्यवसितं महर्षे धर्मगर्हितम् ।
चाण्डालस्वस्य हरणमभक्ष्यस्य विशेषतः ॥
साध्वन्यमनुपश्य त्वमुपाय प्राणधारणे ।
न मांसलोभात्तपसो नाशस्ते स्यान्महामुने ॥
जानता विहितं धर्मं न कार्यो धर्मसङ्करः ।
मा स्म धर्मं परित्याक्षीस्त्वं हि धर्मभृतांवर ॥

पण्डितगण कहते है कि शृगालके मांससे भी श्वानमांस अपकृष्ट है और उसमें भी जंघाका मांस अत्यन्त हेय है । विशेषतः अयोग्य चाण्डाल-धन अपहरण करना अत्यन्त धर्मगर्हित है । इसलिये ऐसे कार्यमें उद्योग करना आपके लिये कदापि उचित नहीं है । अतः जीवन धारणके लिये कोई दूसरा उत्तम उपाय अवलम्बन कीजिये । मांसके लोभसे तपस्याको विनष्ट न करें। शास्त्रोक्त धर्म अवगत होकर भी धर्मसङ्कर-विधानमें प्रवृत्त नहीं होना चाहिये।

आप धार्मिकोंमें प्रधान हैं, आपको धर्मत्याग करना कभी उचित नहीं है। चाण्डालका वाक्य सुनकर महर्षि विश्वामित्रजीने कहा—

निराहारस्य सुमहान्मम कालोऽभिधावतः ।
न विद्यतेऽप्युपायश्च कश्चिन्मे प्राणधारणे ॥
येन येन विशेषेण कर्मणा येन केनचित् ।
अभ्युज्जीवेत् साद्यमानः समर्थो धर्ममाचरेत् ॥
ऐन्द्रो धर्मः क्षत्रियाणां ब्राह्मणानामथाग्निकः ।
ब्रह्मवह्निर्मम बलं भक्ष्यामि शमयन् क्षुधाम् ॥
यथा यथैव जीवेद्धि तत्कर्त्तव्यमहेलया ।
जीवितं मरणाच्छ्रेयो जीवन् धर्ममवाप्नुयात् ॥
सोऽहं जीवितमाकाङ्क्षन्नभक्ष्यस्यापि भक्षणम् ।
व्यवस्ये बुद्धिपूर्वं वै तद्भवाननुमन्यताम् ॥
बलवन्तं करिष्यामि प्रणोत्स्याम्यशुभानि तु ।
तपोभिर्विद्यया चैव ज्योतींषीव महत्तमः ॥

मैं अनाहारी होकर बहुत दिनोंसे इतस्ततः भ्रमण कर रहा हूँ परन्तु प्राणरक्षार्थ कहीं कुछ न प्राप्त हुआ । शास्त्रकी आज्ञा है कि अवसन्न होने पर किसी न किसी प्रकारसे प्राणधारण करना चाहिये । तदनन्तर समर्थ होने पर धर्माचरण करना चाहिये । क्षत्रियगणको इन्द्रकी नाईं और ब्राह्मणोंको अग्निकी नाईं धर्म अवलम्बन करना उचित है । इसलिये सर्वभुक् अग्निकी तरह क्षुधा-शान्तिके लिये मैं कुकुरमांस भोजन कर लूँगा । जिससे जीवनरक्षा हो सकती है ऐसा उपाय विचाररहित होकर सर्वथा करना चाहिये । मृत्युकी अपेक्षा प्राणरक्षा श्रेयस्कर है क्योंकि जीवित रहने पर धर्मानुष्ठान अनायास ही किया जा सकता है । इसलिये प्राण-रक्षाकी इच्छासे ही मैंने अभक्ष्य भक्षणका विचार किया है । तुम इसका अनुमोदन करो । मैं जीवित रहने पर धर्मानुष्ठान कर सकूँगा और जिस प्रकार आलोकके द्वारा गाढ़ तमःका नाश होता है उसी प्रकार तप व विद्याके प्रभावसे समस्त अशुभोंका नाश कर दूंगा । " इस बात-को सुनकर चाण्डालने कहा—

नैतत् खादन् प्राप्नुते दीर्घमायु-
नैव प्राणाश्चामृतस्येव तृप्तिः ।
भिक्षामन्यां भिक्ष मा ते मनोऽस्तु
श्वभक्षणे श्वाह्यभक्ष्यो द्विजानाम् ॥

इस कुकुरमांसके भोजन द्वारा आपको सुदीर्घ आयु या अमृतपानके तुल्य तृप्तिलाभ नहीं होगा अतः आप अन्य वस्तुके लिये भिक्षाटन कीजिये, श्वानमांस कदापि भक्षण न कीजिये। शास्त्रमें श्वानमांस ब्राह्मणोंके लिये नितान्त अभक्ष्य लिखा है। महर्षि विश्वामित्रजीने कहा—

न दुर्भिक्षे सुलभं मांसमन्यत्
श्वपाक मन्ये न च मेऽस्ति वित्तम् ।
क्षुधार्त्तश्चाहमगतिर्निराशः
श्वमांसे चास्मिन् षड्रसान् साधु मन्ये ॥

इस दुर्भिक्षके समय अन्य मांस सुलभ नहीं है और मेरे पास अर्थ भी नहीं है। विशेषतः अत्यन्त क्षुधाकातर होनेसे प्राणरक्षणार्थ निरुपायताके कारण मुझे इस समय श्वानमांस ही मधुर षड्रसयुक्त प्रतीत हो रहा है। चण्डालने कहा—

कामं नरा जीवितं सन्त्यजन्ति
न चाभक्ष्ये क्वचित्कुर्वन्ति बुद्धिम् ।
सर्वान् कामान् प्राप्नुवन्तीह विद्वन्
प्रियस्व कामं सहितः क्षुधैव ॥

साधु व्यक्तिगण प्राण तक त्याग करनेको तैयार होते हैं तथापि अभक्ष्य भोजन नहीं करते है। बहुत महात्मा क्षुधाजय करके स्वप्रयोजन सिद्ध करते हैं इसलिये आप क्षुधाजय करनेका प्रयत्न कीजिये। महर्षि विश्वामित्रजीने कहा है—

स्थाने भवेत् स यशः प्रेत्यभावे-
निःसंशयः कर्मणां वै विनाशः ।
अहं पुनर्व्रतनित्यः शमात्मा-
मूल्य रक्ष्यं भक्षयिश्याम्यभक्ष्यम् ॥

बुद्ध्यात्मके व्यक्तमस्तीति पुण्यम्
मोहात्मके यत्र यथा श्वभक्ष्ये ।
यद्यप्येतत्संशयात्मा चरामि
नाहं भविष्यामि यथा त्वमेव ॥

"प्रायोपवेशन द्वारा प्राण त्याग करना श्रेयस्कर है तो सही परन्तु जिसको जीनेकी इच्छा है उसके लिये अनाहार द्वारा शरीर शुष्क करना अत्यन्त गर्हित है। उससे अवश्य ही धर्मलोप होता है। फलतः देहकी रक्षा करना अवश्य कर्त्तव्य है। यदि श्वानमांस भोजन द्वारा मुझे सामान्य पापमें लिप्त होना भी पड़े तौभी मैं व्रतादि द्वारा उस पापका निराकरण कर सकूंगा। सूक्ष्म बुद्धि द्वारा विचार कर देखनेसे आपत्कालमे श्वानमांसभोजन निर्द्दोष प्रतिपन्न होता है और मोह-बुद्धि द्वारा विचार करनेसे ऐसा कार्य सदोष प्रतीत होता है। जो कुछ हो यदि मेरा श्वानमांसभोजन कुछ दोषदिग्ध भी हो तथापि उससे मुझे तुम्हारे जैसा चण्डाल बनना नही पड़ेगा क्योंकि उस पापके निराकृत करनेकी शक्ति मुझमें विशेष रूपसे विद्यमान है। इस प्रकारसे बातचीत होनेके बाद महर्षि विश्वामित्रजीने उस श्वानमांसको ले लिया और सपत्नीक वनमें जाकर दैव व पितृकार्य करने लगे। यथा महाभारते—

अथास्य बुद्धिरभवद् विधिनाहं श्वजाघनीम् ।
भक्षयामि यथाकामं पूर्वं सन्तर्प्य देवताः ॥
ततोऽग्निमुपसंहृत्य ब्राह्मेण विधिना मुनिः ।
ऐन्द्राग्नेयेन विधिना चरुं श्रपयत स्वयम् ॥
ततः समारभत् कर्म दैवं पित्र्यञ्च भारत ।
आहूय देवानिन्द्रादीन् भागं भागं विधिक्रमात् ॥
एतस्मिन्नेव काले तु प्रववर्ष स वासवः ।
सञ्जीवयन् प्रजाः सर्वा जनयामास चौषधीः ॥
विश्वामित्रोऽपि भगवांस्तपसा दग्धकिल्विषः ।
कालेन महता सिद्धिमवाप परमाद्भुताम् ॥
स संहृत्य च तत्कर्म अनास्वाद्य च तद्धविः ।

तोषयामास देवांश्च पितॄंश्च द्विजसत्तमः ॥

मांस अपहरण करनेके बाद महर्षि विश्वामित्रकी यह इच्छा हुई कि विधिपूर्वक पहले देवताओंको समर्पण करके पश्चात् मांसभोजन करेंगे। इस प्रकार चिन्ता करके महातपा विश्वामित्रजीने ब्राह्मविधिके अनुसार अग्नि आहरण करके ऐन्द्राग्नेय विधिके अनुसार स्वयं उसका चरु प्रस्तुत कर लिया। तदनन्तर उस मांस द्वारा प्रस्तुत चरुको अश अंश करके इन्द्रादि देवताओंको आह्वान कर देव व पितृकार्य-विधिके अनुसार समर्पण करने लगे। इतनेमें महर्षि विश्वामित्रके तपःप्रभावसे द्वादशवर्षके बाद इन्द्रदेवने प्रचुर वारिवर्षण कर दिया और प्रजाओंको संजीवित करके ओषधी व धनधान्यकी उत्पत्ति कर दी। महर्षि विश्वामित्रजीने भी तपस्याके द्वारा चाण्डालमांस ग्रहणजन्य पापसे मुक्त होकर परम सिद्धि प्राप्त की। उन्होंने अपने पूर्वकृत पापकर्मको संहार करके उस मांस-युक्त हविका भोजन न करने पर भी देवता व पितरोंको सन्तुष्ट कर दिया।

अग्निकी एक चिनगारी भी अग्निकी पूर्णशक्तिसे भरी हुई है। वह अग्निकी चिनगारी यदि अनुकूल आधार प्राप्त हो तो वह बढ़ कर समस्त पृथिवीको दग्ध कर सकती है। सर्वव्यापक सर्वजीवहितकर सृष्टिको धारण करके वाला धर्म यदि बिना बाधाके कार्यकारी बना रहे तो जब वह जीवको मुक्तिभूमि तक पहुंचा देता है, तो उसके द्वारा सब कुछ सम्पन्न होगा इसमें सन्देह ही क्या? ऊपर उक्त परकीय भाषायुक्त गाथासे यह सब तात्पर्य निकले:- देश काल पात्रका विचार रखकर भावशुद्धि पूर्वक कार्य करनेसे घोर अधर्म कार्य भी धर्मकार्य रूपमें परिणत हो सकता है। प्रथम तो चोरी जो महाअधर्म है, द्वितीय ब्राह्मणके लिये चौरकार्य जो और भी घृणित कार्य है, तृतीय चाण्डालके पदार्थकी चोरी जो अति गर्हित है, चतुर्थ कुत्तेका मांस ग्रहण जो अति पाप है, पंचम जंघामांस ग्रहण जो महा घृणित है, षष्ठ ब्राह्मण होकर ऐसे घृणित पदार्थ खानेकी इच्छा करना और सप्तम ज्ञानी होकर अपनी वृत्तिको न रोक कर ऐसे पथमें प्रवृत्त होना, इन सब पूर्व पक्षोंका सिद्धान्त करके आपद्धर्मका एक ज्वलन्त दृष्टान्त ऊपरकी गाथामें प्रकाशित है। कितना ही घृणित और पाप कार्य हो देशकाल पात्रके विचारसे यदि उसीको करना निश्चित हो तो भावशुद्धि द्वारा वह महा पापकार्य पुण्यकार्यमें परिणत हो सकता है। जो व्यक्ति मृत्युको ही उचित समझता है उसके लिये यद्यपि मर जाना अच्छा है और स्वधर्म

छोड़ना उचित नहीं है परन्तु जो ज्ञानी व्यक्ति ऐसा समझता हो कि मेरे लिये मरना ठीक नहीं है। मेरा यदि शरीर रहेगा तो मैं अन्यान्य पुण्यकार्यसे इस पापकार्यको शुद्ध कर लूंगा और क्रमशः आध्यात्मिक उन्नति करके धर्म जगत्में बढ़ सकूंगा उसके लिये आपत्कालमें चाहे जिस प्रकारसे हो शरीरको बचा लेना ही धर्म होगा। विश्वामित्र महाराजने इसी वैज्ञानिक सिद्धान्तको लक्ष्यमें रक्खा और किञ्चित् भी विचलित नहीं हुए। शरीरकी रक्षाके निमित्त केवल ऊपर लिखित पापाचरणको करना भावशुद्धिसे उचित समझा और उसके बाद ही अपने स्वधर्मकी रक्षाके लिये पितृयज्ञ व देवयज्ञमें प्रवृत्त हुए। क्षुधाकी कुछ भी परवाह नहीं की। इसी कारण उनके प्रबल धर्मसे इन्द्र देवता बाध्य होकर सुवृष्टि करनेमें तत्पर हुए। यही इस गाथाका वैज्ञानिक तात्पर्य है। इस स्थानपर इतना स्मरण रखना अवश्य उचित है कि आपद्धर्मके अनुसार जिस प्रकार अति सुगमताके साथ हेय पापकर्म भी उपादेय पुण्यकर्ममें परिणत हो सकता है उसी प्रकार आपद्धर्मके निर्णय करनेमें अति कठिनता है। क्योंकि कर्ता यदि ज्ञानी न हो, संयमी न हो और स्वार्थपर हो तो अपनी दुर्बलताके कारण वह अपनी असुविधाओंको आपत् करके मानने लगेगा और अपनी इन्द्रिय चरितार्थ को ही आपद्धर्म-साधनका कारण समझ लेगा। इस कारण आपद्धर्मका निर्णय करना केवल परमज्ञानी, कर्मदर्शी, आचार्य व गुरुका ही कार्य है। महर्षियोंका यह कथन है कि कर्मके गतिवेत्ता ही धर्माधर्मका निर्णय कर सकते हैं। अतः आपद्धर्म निर्णय करनेके लिये आपत्तियुक्त कर्त्ता कभी स्वयं साहस न करे। उसको उचित है कि यदि वह स्वयं ज्ञानी और कर्मका गतिवेत्ता न हो तो धर्मज्ञ, कर्मके गतिवेत्ता और तत्वज्ञानी आचार्य गुरू अथवा महापुरुषोंसे आज्ञाग्रहण करके अपना आपत्कालीन धर्माधिकार निर्णय करे। सभी अपने आपको महर्षि विश्वामित्र न समझ लेवें। इसी प्रकारसे देशविचार, कालविचार, पात्रविचार और भावशुद्धिकी सहायतासे आवश्यकताके अनुसार सब अधर्मकार्य धर्मकार्यमें परिणत होसकते सकते हैं। परन्तु स्मरण रहे, जैसा कि श्रीमान् मनुके वचन पहले दिये गये हैं कि जहां कर्त्तामें सामर्थ्य है कि देश काल और पात्रको अतिक्रम कर सके वहां अधर्मकार्यमें भावशुद्धि असम्भव है। देशकी विरुद्धता, कालकी विरुद्धता और पात्रकी असमर्थता होनेपर ही भावशुद्धिका अवसर हो सकता है। अन्यथा अधर्ममें भावशुद्धि द्वारा धर्मज्ञान होना सम्भव नहीं है। परन्तु जहां देश

काल और पात्र धर्मसाधनके अनुकूल एक बार ही नहीं है वहाँ भावशुद्धि पूर्वक आपद्धर्मके अधिकारको पालन करना बुद्धिमान्का कर्त्तव्य है। धर्मज्ञ आचार्य्यगण ऐसी ही आज्ञा दिया करते हैं। इसी कारण सतीत्वमूलक नारीधर्मकी अधिकारिणी सती प्रथम तो पतिको पापकर्म्मसे रोके परन्तु यदि पति न माने तो सहधर्मिणी होनेपर भी उसको घोर अधर्मकर्म्ममें पतिका साथ देना कदापि उचित नहीं है । पतिका जो धर्म है स्त्रीका भी वही धर्म है इसी कारण स्त्री सहधर्मिणी कहलाती है। यदि पति निरपराधी मनुष्यों-का हनन करनेवाला हो या ऐसे ही कोई घोरतर पाप करता हो तो सती स्त्री-को उचित है कि पतिको पापकर्मसे यथासाध्य रोके, परन्तु यदि पति न माने तो स्त्रीको उचित है कि ऐसे पापी पतिका साथ न दे । इसी प्रकार यद्यपि पतिकी चितामें जल मरना सनातनधर्मके अनुसार सती स्त्रीका धर्म है परन्तु जब कोई राजा सहमरणधर्मकी आज्ञा नहीं देता है अर्थात् देश और काल विरुद्ध है तो उस समय पतिधर्मपरायणा सतीके लिये अपना जीवन पतिके साथ चितामें बैठ कर न जलानेसे सतीधर्मके विरुद्ध अधर्म नहीं होगा। परन्तु देश व कालके विचारसे उस समय चितामें जलकर न मरना सतीके लिये आपद्धर्म होगा । शूद्रजातिका प्रधान धर्म यदिच ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों वर्णोंकी धार्मिकसेवा करना है तथापि देश काल व पात्रके विचार-से शूद्रगण कठिन कालमें अन्त्यजजातिके निकृष्ट निकृष्ट धर्मपालन करके आपद्धर्म पालन कर सकते है। उसी प्रकार उत्तरोत्तर वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मणगण अपनेसे निकृष्ट वर्णोंके धर्मको असुविधाके अनुसार यथाक्रम करते हुए आपद्धर्मका पालन कर सकते हैं। आपद्धर्मके अनुसार ब्राह्मण क्षत्रियादि आचारभ्रष्ट, खानपानभ्रष्ट और स्वस्वजातिगत कर्मभ्रष्ट होनेपर भी आपद्धर्मके कारण यदि उनका लक्ष्य ठीक रहे तो वे पापमुक्त हो सकते हैं। अपने स्वार्थसे कुटुम्बका स्वार्थ बड़ा है, कुटुम्बके स्वार्थसे ग्रामका स्वार्थ बड़ा है, ग्रामके स्वार्थसे जनपदका स्वार्थ बड़ा है, जनपदके स्वार्थसे स्वदेशका स्वार्थ बड़ा है। उसी प्रकार आधिभौतिक वैषयिक ऐश्वर्यसे आधिदैविक ऐश्वर्य अर्थात् धर्म उपासना आदि सम्बन्धीय ऐश्वर्य बड़ा है, और आधिदैविक ऐश्वर्यसे ज्ञान सम्बन्धीय आध्यात्मिक ऐश्वर्य बड़ा है। अतः देशके कल्याण अथवा ज्ञानकी वृद्धिके लिये यदि कोई धार्मिक व्यक्ति म्लेच्छसंसर्ग, अनार्यसेवा, धर्महीन देशगमन और अनाचार भी करेगा तो लक्ष्य ठीक रहनेसे वह आपद्धर्मके

अनुसार अधार्मिक नहीं होगा। कलिकालमें वर्णाश्रमधर्ममें अनेक विपर्यय हो जानेसे गुरुगृहवास असम्भव हो जाने पर भी विद्याभ्यासशील विद्यार्थी यदि आचार्यभक्ति, आचार्यशुश्रूषा, ब्रह्मचर्यव्रतपालन आदि धर्मपालन करे तो वह ब्रह्मचर्याश्रमधर्मका अधिकारी हो सकेगा। उसी प्रकार यदि गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट व्यक्ति पंचमहायज्ञ आदिका ठीक ठीक पालन न कर सके, गृहस्थ ब्राह्मण यदि यथाविधि अग्निकी सेवा न कर सके तो अन्यान्य धर्मोंको यथासम्भव पालन करनेसे आपद्धर्मके अनुसार पतित नहीं होगा। उसी प्रकार कलिकालमें तपोवनसमूह सम्पूर्ण रूपसे लोप हो जानेसे और ऊञ्छ वृत्ति आदि वृत्तियाँ पालन करना एकवार ही सम्भव न होनेसे तथा गोसेवा आदि आवश्यकीय धर्म अति कष्टसाध्य हो जानेसे यदि जीवनकी तीसरी अवस्थामें पहुँचा हुआ धार्मिक व्यक्ति ब्रह्मचर्यव्रतपालन, तपःस्वाध्यायनिष्ठा, तीर्थवास आदि धर्मोंका पालन करते हुए सन्न्यासाश्रमके उपयोगी अपनेको बनानेके लिये यत्न करे तो आपद्धर्मके अनुसार वह धार्मिक व्यक्ति ऋषिकल्प और वानप्रस्थधर्मी कहलावेगा इसमें सन्देह नहीं। यद्यपि सन्न्यासाश्रम केवल ब्राह्मणोंके लिये ही विहित है, यद्यपि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ इन तीनों आश्रमोंमें यथाविधि चलकर पीछे सन्न्यासाश्रम धारण करनेकी विधि है और यद्यपि कुटीचकके बाद बहूदक, बहूदकके बाद हंस और हंसके बाद परमहंसके धर्मपालन करनेकी आज्ञा शास्त्रकारोंने दी है। परन्तु यदि कलिकालमें आश्रमधर्मकी शैलीमें अनेक विप्लव हो जानेसे इस प्रकारके क्रमकी रक्षा न हो सके और वर्ण तथा आश्रमधर्मके सम्मानकी रक्षा करते हुए यदि यथासम्भव सन्न्यास धर्म पालन करके निवृत्तिसेवी वैराग्य सम्पन्न ज्ञानी व्यक्तिगण प्रव्रज्या ग्रहण करें तो आपद्धर्मके अनुसार वे सभी सन्न्यासाश्रमधारी कहा सकते हैं। इसी शैलीपर देश काल पात्रके विचारानुसार भावशुद्धि पूर्वक दानधर्म, तपोधर्म, कर्मयज्ञ, उपासनायज्ञ, ज्ञानयज्ञ और महायज्ञके कर्त्तव्य निश्चय करनेमें आपद्धर्मका विचार लाया जा सकता है। और धर्मके सब अङ्ग और उपाङ्ग इसी प्रकार आपद्धर्मकी शैलीपर आवश्यकतानुसार निर्णीत हो सकते हैं। परन्तु धर्मके यथार्थ स्वरूपके लक्ष्यसे च्युत न होकर कर्त्तव्य निश्चित होना उचित है।

तृतीय समुल्लासका नवम अध्याय समाप्त हुआ।

श्रीधर्म्मकल्पद्रुमका विशेषधर्म्मवर्णन नामक तृतीय समुल्लास समाप्त हुआ।

चतुर्थ समुल्लास।

भक्ति और योग।

इस ग्रन्थके उपासनायज्ञ नामक अध्यायमें भक्तिको सकल साधनाका प्राणरूप और योगको शरीररूप करके वर्णन किया गया है। वास्तवमें साधना-रूपी कल्पतरु भगवद्भक्तिरूपिणी सञ्जीविनी शक्ति और विविध योगरूपी मधुर कलेवरके द्वारा सुशोभित होकर ही मुमुक्षु साधकजनोंके लिये मोक्षफल प्रसव करनेमें समर्थ हो सकता है। भक्तिहीन साधना प्राणहीन होनेसे साध्य-वस्तुकी ओर चित्तवृत्तिके आकर्षण करानेमें समर्थ नहीं हो सकती है तथा योगविहीन साधना कङ्कालसर्वस्व होनेसे उपासनामार्गमें साधकको अग्रसर ही नहीं कर सकती है। अतः साधन राज्यमें पूर्ण अधीश्वर होनेके लिये भक्ति व योग दोनोंका ही अभ्यास अवश्य करणीय है। श्रीभगवान् पतञ्जलिजीने "तीव्रसंवेगानामासन्नतमः" अर्थात् चित्तसिन्धु श्रीभगवान्के प्रति भक्तिमूलक तीव्रसंवेगद्वारा जभी उद्वेलित होता है तभी भगवान्का साक्षात्कार सहज व समीपवर्त्ती होता है ऐसा कह कर साधनाकी प्राणरूपिणी भक्तिकी ही महिमा बताई है। इसी प्रकार योगदर्शनके प्रारम्भमें ही "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" अर्थात् अविद्या अस्मिता आदि मूलक चित्त-की वृत्तियोंके निरोधका नाम ही योग है जिसके फलसे द्रष्टा पुरुष अपने नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूपको लाभ कर सकते हैं। ऐसा कह कर उक्त महर्षि-जीने साधनके अवयवरूप योगकी भी महिमाका भलीभांति वर्णन किया है। अब नीचे साधनाके सर्वस्वरूप इन दोनों विषयोंका वर्णन यथाक्रम संक्षेपसे किया जाता है।

भक्तिका लक्षण क्या है इस विषय पर विचार करते हुए अद्वैतसिद्धिकार मधुसूदन सरस्वतीजीने कहा है कि "द्रवीभावपूर्विका मनसो भगवदाकारता-रूपा सविकल्पवृत्तिर्भक्तिरिति" अर्थात् भगवद्भावसे द्रव होकर भगवान्के साथ चित्तका जो सविकल्प तदाकार भाव है वही भक्तिका लक्षण है। इसी तदाकार भावका प्रमाण श्रीमद्भागवतमें भी वर्णित किया गया है। यथा—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥

लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥

गुणगान सुनते ही विष्णु भगवान्‌के प्रति, समुद्रगामिनी गङ्गाजीकी अविराम धाराकी नाईं चित्तकी जो अहेतुक, अनवच्छिन्न गति है उसीको भक्ति योगका लक्षण कहा जाता है। भक्तिकी रागात्मिका दशामें भगवान्‌के प्रति साधककी चित्तवृत्ति ऐसी ही हो जाती है, जिसके भूरि भूरि दृष्टान्त भक्तिशास्त्रमें मिलते हैं। भक्तजनमुकुटमणि प्रह्लादने नृसिंहरूपधारी श्रीभगवान्‌के पास इसी पवित्र प्रेमकी प्रार्थना की थी। यथा विष्णुपुराणमें—

या प्रीतिरविवेकाणां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

प्रह्लादकी प्रार्थना यह है कि अज्ञानी विषयी लोग जिस प्रकार विषयके प्रति एकतान होकर प्रीति करते हैं उसी प्रकार अविच्छिन्न अविनाशी प्रेम भगवान्‌के प्रति हो। भगवान्‌के प्रति इस प्रकार प्रेम होना ही भक्तिका लक्षण है। भक्ति दर्शनके सूत्रकार देवर्षि नारद, महर्षि शाण्डिल्य तथा महर्षि अङ्गिराने इसी सिद्धान्तको लेकर अपने अपने दर्शनोंमें भक्तिका लक्षण निर्णय किया है। यथा नारद सूत्रमें—

"सा कस्मिन्परमप्रेमरूपा" "अमृतस्वरूपा च"

अनिर्वचनीय परमेश्वरके प्रति परम प्रेमको ही भक्ति कहते हैं। भक्ति जीवको नित्यानन्दका अधिकारी भी कर देती है। शाण्डिल्यसूत्रमें लिखा है—

"सा परानुरक्तिरीश्वरे" "तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशात्"

ईश्वरके प्रति परम अनुराग को ही भक्ति कहते हैं। क्योंकि उनके प्रति प्रेम होनेसे ही जीव अमृतरूप होजाता है। महर्षि अङ्गिराकृत दैवी मीमांसदर्शनमें—

"सानुरागरूपा" "स्नेह प्रेमश्रद्धातिरेकादलौकिकेश्वरानुरागरूपा"।

भक्ति श्रीभगवान्‌के प्रति अनुरागरूप है। लौकिक अनुराग तीन प्रकारके हैं यथा स्नेह, प्रेम व श्रद्धा। अपनेसे छोटोंमें अनुराग स्नेह, समान समानमें अनुराग प्रेम और श्रेष्ठोंमें अनुराग श्रद्धा कहलाता है। ये तीन प्रकारके प्रेमही लौकिक तथा नश्वर हैं। परन्तु इससे अतिरिक्त परमेश्वरके प्रति जो अविनश्वर व अलौकिक अनुराग है उसे भक्ति कहते हैं।

भक्तिके लक्षणको और भी स्पष्ट करनेके लिये यह कहा जा सकता है कि मनुष्य जितना पशुभावके अधिकारको छोड़ता हुआ देवभावके अधिकारको प्राप्त करता जाता है उतना ही उसमें प्रेम व अनुराग बढ़ता जाता है। अनुराग अथवा प्रेमके पहचाननेका लक्षण यह है कि मनुष्य जितना अपने स्वार्थोंको भूलकर दूसरेके स्वार्थोंको अपना स्वार्थ समझता जाय उतना वह मनुष्य प्रेमिक कहाता है। माता-पिता, पुत्र कन्याके लिये अपने स्वार्थको भूलकर पुत्रकन्याके सुखसे अपनेको सुखी जितना समझते हैं उतने ही वे प्रेमिक पिता माता कहलाते हैं। पति स्त्रीके लिये, स्त्री पतिके लिये, मित्र मित्रके लिये जितना अधिक अपना स्वार्थ विसर्जन करता हुआ एक दूसरेके सुखसे अपनेको सुखी और एक दूसरेके दुःखसे अपनेको दुःखी अनुभव करता है उतनाही वह प्रेम राज्यका अधिकारी माना जाता है। दूसरेके लिये अपनेको भूलना, दूसरेके सुखके लिये अपने सुखको विसर्जन करना, स्वयं दूसरेका बन जाना यही अनुरागकी भित्ति है। यही अनुराग लौकिक जगत्में श्रद्धा प्रेम व स्नेह-रूपसे तीन प्रकारका होता है जैसा कि पहले कहा गया है। निम्नगामी स्नेह, ऊर्द्ध-गामी श्रद्धा व समगामी प्रेम, तीनों हीमें लौकिक, नाशवान् अवलंबन होनेसे तीनों ही दुःखके मूल हैं। परन्तु भक्तिमें ऐसा नहीं होता है। भक्तिका अधिकारी भाग्यवान् उपासक संसारको भूलकर अपने अनुराग-प्रवाहको अलौकिक अविनश्वर नित्यानन्दरूप भगवान्की ओर प्रवाहित करता है। इसलिये दुःख-लवलेश विहीन एतादृश अलौकिक अनुरागही भक्तिपदवाच्य है।

इस प्रकारकी भक्तिमें अधिकार किसका है? इस प्रश्नके उत्तरमें श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रजीने भागवतके एकादश स्कन्धमें उपदेश किया है—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्॥
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥

जीवोंके कल्याणके अर्थ ज्ञान, कर्म व भक्ति ये तीन ही प्रकारके योग

कहे गये हैं। उनमेंसे विषयासक्तिशून्य त्यागी पुरुषोंके लिये ज्ञानयोग और सकामफलप्रयासी मनुष्योंके लिये कर्मयोगका उपदेश किया गया है। इन दोनोंसे अतिरिक्त जो पुरुष भगवत्कथामें श्रद्धायुक्त होते हैं और न तो अधिक वैराग्यवान् ही हैं और न अधिक विषयासक्त ही हैं। इस प्रकारके मनुष्योंके लिये भक्तियोग सिद्धिदायक होता है। अतः सिद्धान्त हुआ कि आध्यात्मिक राज्यमें मध्यमाधिकारीके लिये ही भक्तियोग अधिकरूपसे विहित किया गया है। परन्तु इस वचनसे ऐसा न समझा जाय कि भगवद्भक्ति उच्च अधिकारी और निम्नाधिकारीके लिये विहित नहीं है। उच्चसे उच्च अधिकारी जो ब्रह्मसद्भावप्राप्त ज्ञानी हैं उनको भी पराभक्ति प्राप्त रहती है और निम्नसे निम्न अधिकारीके लिये भी वैधीभक्ति सर्वथा हितकारी है। इन भक्तिके भेदोंके लक्षणोंको आगे विस्तारित रूपसे कहा जायगा। भक्तिका उदय कैसे होता है ? इस प्रश्नके उत्तरमें उपनिषदमें लिखा है।

" नैषा तर्केण मतिरापनेया " " अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् "।

तर्कके द्वारा चित्तमें भगवान्के प्रति भक्तिका उदय नहीं होता है, चिन्तासे अतीत भावोंको तर्क द्वारा प्राप्त करनेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये। भक्ति महत्कृपा व भगवत्कृपा द्वारा प्राप्त होती है। यथा नारदसूत्रमें :—

" मुख्यतस्तु महत्कृपया भगवत्कृपालेशाद्वा "।

प्रधानतः महत्माओंकी कृपासे और भगवान्की कृपासे भी भक्तिका उदय होता है। महर्षि अङ्गिराने भी लिखा है:—

" सा महत्कृपया भगवत्कृपालेशाद्वा "।

भक्ति महत्कृपा व भगवत्कृपालेशके द्वारा प्राप्त होती है। महत्कृपाके विषयमें श्रीमद्भागवतमें लिखा है:—

रहूगणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद् वा।
न च्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम् ॥

यत्रोत्तमश्लोकगुणानुवादः
प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविघातः।
निषेव्यमाणोऽनुदिनं मुमुक्षो-
र्मतिं सतीं यच्छति वासुदेवे॥

श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंमें भक्तिका उदय, तपस्या, याग, यज्ञ, वेदाभ्यास व जल अग्नि आदिकी उपासना द्वारा नहीं होता है केवल महापुरुषोंके चरण-रजोंकी कृपासे ही एतादृश भक्तिका उदय होता है। जहां पर निषिदिन विषया-लापनाशक श्रीभगवद् गुणकीर्त्तन होता रहता है उसकी सेवा करनेसे मुमुक्षु-जनोंके चित्तमें शीघ्र ही भगवद्भक्तिका उदय होता है।

भगवत्कृपाके द्वारा भक्तिलाभके विषयमें मुण्डकोपनिषद् में लिखा है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥

भगवान् वाक्य, मेधा अथवा बहुधा शास्त्रज्ञान द्वारा प्राप्य नहीं है। परन्तु जिस भक्तके हृदय मन्दिरमें कृपा करके श्रीभगवान् अधिष्ठान करते हैं उन्हींके चित्तमें भक्तिका उदय होता है जिससे वे परमात्माके यथार्थ स्वरूपके देखनेमें समर्थ हो जाते हैं। और भी गीतामें—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

श्रीभगवान्‌के प्रति एकान्तरति होकर प्रीतिपूर्वक उपासना करनेवालोंको श्रीभगवान् बुद्धियोग प्रदान करते हैं जिससे वे भक्तिद्वारा उन्हें प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकारसे महत्कृपा व भगवद्‌त्कृपाके द्वारा लब्ध भक्तिकी सहायतासे परमात्माके विविधभावमूलक साधन द्वारा भक्तजनचित्त धीरे धीरे भक्तवत्सल भगवान्‌के प्रति एकान्तरति होकर उसी परमानन्दमय परमपद में विलीनताको प्राप्त करता है। भक्तिकी परममहिमाके विषयमें समस्त शास्त्र ही एक वाक्य होकर गुणगान करते हैं कि भक्ति ही संसारदुःखदावदग्ध अन्त.करण की आत्यन्तिकी शान्तिके लिये अमृतधारारूपिणी है। श्रीभगवान पतंजलिजीने

"ईश्वरप्रणिधानाद् वा" इस सूत्रके द्वारा भगवद् भक्तिके बलसे ही चित्त-वृत्तिका निरोध होकर पुरुषका स्वरूपमें अवस्थान होता है ऐसा कह कर भक्ति की ही अपूर्व महिमा वर्णित की है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है:—

त्वं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्यनन्त-
आनन्दमात्र उपपन्नसमस्तशक्तौ ।
भक्तिं विधाय परमां शनकैरविद्या-
ग्रन्थिं विभेत्स्यसि ममाहमिति प्ररूढम् ॥
अधोक्षजालम्भमिहाशुभात्मनः
शरीरिणः संसृतिचक्रशातनम् ।
तद्ब्रह्म निर्वाणसुखं विदुर्बुधा-
स्ततो भजध्वं हृदये हृदीश्वरम् ॥
यथाग्निना हेममलं जहाति-
ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम् ।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय
मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम् ॥
कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना ।
विनानन्दाश्रुकलया शुध्येद् भक्त्या विनाशयः ॥
भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते ।
मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि ॥
यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात् ।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः ॥
भक्त्याऽहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम् ।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥

आनन्दरूप सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान्के चरणकमलमें परमाभक्ति द्वारा ममत्वमूलक अनादि अविद्याकी ग्रन्थि टूट जाती है। शरीरी जीवके लिये

परमात्माका आराधन संसारचक्रको खण्डविखण्ड कर दिया करता है। बुधगण उसी ब्रह्मपदकोही परमसुखनिदान कहा करते हैं। जिस प्रकार अनलसंयोग द्वारा सुवर्ण की मलिनता नष्ट होकर पुनः वह स्वकीय सुन्दर रूपको प्राप्त होता है उसी प्रकार जीवात्मा भक्तियोगके द्वारा कर्म की मलिनतासे मुक्त होकर परमात्माके साधनमें प्रवृत्त होता है। भगवत्प्रेमसे विगलितचित्त होकर रोमाञ्च, अश्रुपात व भक्तिके विना जीवकी शारीरिक व मानसिक शुद्धि कदापि नही हो सकती है। अनन्त गुणमय व आनन्दरूप परमात्माके प्रति भक्ति प्राप्त होनेसे साधकको और कुछ भी प्राप्त करना अविशिष्ट नहीं रहता है। समुज्ज्वल अग्निके द्वारा जिस प्रकार काष्ठराशि भस्मसात् हो जाया करती है उसी प्रकार भगवद् भक्तिके द्वारा पापराशि भस्मसात हो जाती है। श्रीभगवान् केवल भक्तिके द्वारा ही प्राप्य हैं। भक्ति चाण्डालको भी संसार बन्धनसे मुक्त करती है। उपनिषद्में लिखा है:—

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं
शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत।
आयम्य तद्भागवतेन चेतसा
लक्ष्यं तदेवाक्षरं सौम्य विद्धि॥
"भक्तिरेवैनं नयति, भक्तिरेवैन दर्शयति,
भक्तिवशः पुरुषो, भक्तिरेव भूयसी"

उपनिषद्रूप धनुषके ऊपर उपासनारूप तीक्ष्णवाणकी योजना करके भक्तियुक्त चित्त होकर जब प्रयोग किया जाता है तभी ब्रह्मरूप लक्ष्य विद्ध हो सकता है। भक्तिके द्वारा ही भगवान् प्राप्त होते हैं और उनका दर्शन होता है। श्रीभगवान्भक्तिके ही वश हैं, भक्ति ही श्रेष्ठ वस्तु है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी लिखा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्यः अहमेवम्विधोऽर्ज्जुन !
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥

संसारमें परमात्माके प्रिय या अप्रिय कोई नहीं हैं परमात्मा सर्वत्रही समरूप हैं, केवल जो साधक भक्तिके साथ उनकी भजना करते हैं भगवान् उनके और वे भगवान्के हैं। वेद, तपस्या, दान अथवा यज्ञके द्वारा श्रीभगवान्का विराट् रूप यथार्थतः परिदृष्ट नहीं हो सकता है, केवल भक्तिके द्वारा ही भक्तलोग उनके अद्वितीय स्वरूपको जान सकते हैं, देख सकते हैं और उसमें लवलीन हो सकते हैं।

दैवीमीमांसादर्शन, शाण्डिल्यदर्शन व नारदीय दर्शनोंमें भक्तिकी महिमा प्रतिपादक अनेक सूत्र मिलते हैं यथाः—

"भक्त्याऽमृतत्वं तदास्वादादनवपातः"

भक्ति द्वारा अमृतत्व लाभ होता है जिसके आस्वादन से पतन सम्भावना दूर हो जाती है।

"अकाम्या सा निरोधरूपत्वात्"

भक्ति कामना नहीं है क्योंकि जिस कामनासे सकल कामनाका निरोध होता है वह कामना नहीं कहला सकती है।

"स्वयं फलरूपत्वात्सर्वफलप्रदा"

भक्ति सकल साधना का फलरूप होनेसे सर्वफलप्रदानकारिणी है।

"ज्ञाननिष्ठेतरयोस्तल्लाभः सर्वाश्रयत्वात्"

ज्ञानी या अज्ञानी सभी भक्तिके आश्रयसे कल्याण प्राप्त कर सकते हैं क्योंकि भक्ति सभीकी आश्रयरूपिणी है।

"सा परार्द्ध्या निखिलसाधकापेक्षितत्वात्"

भक्ति सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि इसके विना कोई भी साधक किसी साधनमार्ग में अग्रसर नहीं हो सकता है।

"सर्वधर्माङ्गप्रपन्ना च"

भक्ति, कर्म, उपासना, ज्ञान, यज्ञ आदि सकल धर्माङ्गकी ही सहायक है। इसके बिना किसी धर्माङ्गकी पूर्त्ति नहीं हो सकती है।

"लघूदितायामपि महाकल्मषहानम्"

सामान्य भक्तिका उदय होनेसे ही महापापका नाश हो जाता है।

"अन्त्यजयोनिरप्यधिक्रियते पारम्पर्यात्सामान्यम्"

अत्यन्त नीच योनिके मनुष्योंका भी भक्तिमें अधिकार है। परम्परा विचारसे सभी भक्त समान हैं। कर्म व ज्ञान मार्गके लिये अधिकारी निर्वाचन की अपेक्षा रहती है और वर्णाश्रम का भी विचार रखना पड़ता है। परन्तु भक्तिमार्गमें इस प्रकार विचारकी कोई भी आवश्यकता नहीं होती है। श्रीभगवान्ने गीतामें भी कहा है:—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

अत्यन्त दुराचारी भी यदि एकान्तरति होकर भगवान्की भजना करें तो वे साधुवत् माननीय होंगे क्योंकि भगवत्कृपासे एतादृश भक्तका दुराचार नष्ट होकर आध्यात्मिक उन्नति होगी। श्रीभगवान्के प्रति भक्ति करनेसे पापयोनि स्त्री, वैश्य व शूद्र भी परमगतिको प्राप्त कर सकते हैं।

"विधिनिषेधागोचरत्वमनुभवात्"

अनुभव होनेके अनन्तर कोई विधिनिषेध नहीं रहता है। पराभक्ति प्राप्त सिद्ध भक्त त्रिगुणाधिकार से मुक्त होकर धर्माधर्मादि विधिनिषेधको परित्याग कर दिया करते हैं।

"अविपक्वभावानामपि तत्सालोक्यम्"

पराभक्ति पदवी पर पहुंचनेमें असमर्थ होने पर भी इष्टदेव-लोकप्राप्ति अवश्य ही हो जाती है। कर्म, ज्ञान आदि मार्गमें अविपक्व दशाग्रस्त मनुष्योंका प्रायः पतन होता है। परन्तु भक्तिमार्गकी यह विशेषता है कि पूर्णताप्राप्त न होने पर भी पतन नहीं होगा सालोक्यादि मुक्ति अवश्य ही प्राप्त होगी। देवी भागवतमें इस प्रकार भक्तके विषयमें लिखा है।

भक्तौ कृतायां यस्यापि प्रारब्धवशतो नग ।
न जायते मम ज्ञानं मणिद्वीपं स गच्छति ॥
तत्र गत्वाऽखिलान् भोगाननिच्छन्नपि चार्च्छति ।

तदन्ते मम चिद्रूपज्ञानं सम्यग् भवेन्नग ॥

भक्ति का अनुष्ठान होने पर भी मन्दप्रारब्धवशात् जिस भक्तको पराभक्ति प्राप्त नही होती है वे इष्टदेवके लोकको प्राप्त करते हैं। वहां पर इच्छा न होने पर भी भक्तको सकलप्रकार भोगप्राप्त होते हैं और तदन्तर काल प्राप्त करके पराभक्ति द्वारा परमात्माका ज्ञानलाभ होनेसे भक्तको विदेहमुक्ति लाभ हुआ करती है। यथा—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसञ्चरे ।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥

ब्रह्मलोकप्राप्त भक्त प्रलयकाल पर्यन्त उक्तलोक में वास करके प्रलयकाल के समय ब्रह्माके साथ परब्रह्ममें विलीन हो जाते हैं। यही सब भक्तिकी महिमा व विशेषता है।

अब भक्तिके अङ्ग प्रत्यङ्गके वर्णन किये जाते हैं। भक्ति प्रधानतः द्विधा विभक्त है यथा दैवीमीमांसा दर्शनमें—"सा द्विधा गौणी परा च"। भक्ति दो भागमें विभक्त है—गौणी व परा। साधनदशागत भक्ति गौणी और सिद्धिदशागत भक्ति परा भक्ति कहलाती है। गौणी भक्तिके पुनः दो भेद हैं यथा दैवीमीमांसामें—

"वैधी-रागात्मिका-नाम-भिन्ना साधनलभ्या गौणी"

वैधी व रागात्मिका नामसे द्विधा विभक्त तथा साधन द्वारा प्राप्य भक्ति ही गौणी भक्ति है। गौणी भक्ति दो प्रकारकी है—वैधी व रागात्मिका। वैधी भक्तिके लक्षणके विषयमें दैवीमीमांसामें कहा है—

"विधिसाध्यमाना वैधी सोपानरूपा"

विधिके द्वारा जिसका साधन होता है इस प्रकार तथा उन्नत भक्ति भूमिके लिये सोपानरूपसे सहायताकारी भक्ति ही वैधी भक्ति है। गुरूपदेशानुसार विधिनिषेधके वशवर्त्ती हो कर वैधी भक्तिके विविध अङ्गोंके नियमित साधन द्वारा साधक भक्तिके उन्नत राज्यमें प्रवेशाधिकार प्राप्त करते हैं। वैधी भक्ति पुनः नौ अङ्गोंमें विभक्त है यथा—

श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य व आत्मनिवेदन, वैधी भक्तिके येही नौ अङ्ग कहे गये हैं। श्रीभगवान्‌की मधुर गुणकथाओंके श्रवणका नाम श्रवण है। यह वैधी भक्तिका प्रथम अङ्ग है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः।
न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम्॥
प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेन स्वानां भावसरोरुहम्।
धुनोति स मलं कृष्ण सलिलस्य यथा शरत्॥

"जहां पर सुधासिन्धु की नांई श्रीभगवान्‌की गुणकथा नहीं प्रवाहित होती है, जहां पर परम भागवत साधुगण नहीं निवास करते हैं, जहां पर यज्ञेश्वरके यज्ञका महोत्सव नही होता है, इन्द्रलोक होने पर भी ऐसा स्थान सेवनीय नही है। श्रीभगवान्‌की गुणकथा श्रवणद्वारसे हृदयमें प्रविष्ट हो कर शरत् कालीन सरोवर सलिलकी तरह हृद्गतभावोंको परिशुद्ध किया करती है। इस प्रकारसे वैधी भक्तिके श्रवणात्मक अङ्ग-सेवन द्वारा भक्तजनचित्त धीरे धीरे श्रीभगवान्‌के चरण कमलोंमें सन्निविष्ट होने लगता है। वैधी भक्तिके द्वितीय अङ्गका नाम कीर्त्तन है। श्रीभगवान्‌के लोकोत्तर. मधुर चरित्र-समूहके कीर्त्तनका नाम कीर्त्तन है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

सङ्कीर्त्यमानो भगवाननन्त-
श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम्।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं
यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः॥

श्रीभगवान् अनन्तदेवकी गुणावलीके कीर्त्तन करनेसे अन्तःकरणमें उनकी मधुर मूर्त्ति विराजमान हो कर तपन किरणके प्रतापसे अन्धकार अथवा प्रचण्डवायुवेगसे मेघमालाकी तरह हृदय निहित समस्त व्यसनोंको विदूरित कर देती है। श्रीभगवान्‌ने निजमुखसे कहा है—

नाहं तिष्ठामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

मैं वैकुण्ठमें नहीं रहता हूं और योगियोंके हृदयमें भी नहीं रहता हूँ।

मेरे भक्तलोग जहां पर कीर्त्तन करते हैं वहां ही मैं रहता हूं। इस प्रकारसे श्रीभगवान्के मधुर नाम-कीर्त्तन द्वारा भक्तहृदयमें धीरे धीरे भगवद्भावकी स्फूर्त्ति हुआ करती है। वैधी भक्तिके तृतीय अङ्गका नाम स्मरण है। श्रीभगवान्की मधुर मूर्त्ति, मधुर नाम या मधुर भावके स्मरणको स्मरण कहा जाता है। भगवत्स्मरणके विषयमें श्रीमद्भागवतमें लिखा है:—

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम्॥

श्रीभगवान्के चरण कमलोंके निशिदिन स्मरण करनेसे अमङ्गलनाश और शान्ति, सत्त्वशुद्धि, परमात्मभक्ति व विज्ञान विरागयुक्त ज्ञानकी वृद्धि हुआ करती है। श्रीभगवान्ने गीताजीमें कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याऽहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

अनन्यचित्त हो कर जो सदा ही मेरा स्मरण करता है उस नित्ययुक्त योगीके लिये मैं बहुत ही सुलभ हो जाता हूं।

समोहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

मैं सकलभूतोंमें एक भावसे विद्यमान हूं। कोई मेरा प्रिय या अप्रिय नहीं है। केवल जो भक्तिके साथ मेरी भजना करता है वे मुझमें और मैं उनमें हूं। इस प्रकारसे वैधी भक्तिके स्मरण अङ्गके साधन द्वारा भक्तहृदय-कमल भगवानकी कृपाकिरणसे धीरे धीरे प्रफुल्लित हुआ करता है; जिस कमलासनमें श्रीभगवान् आनन्दके साथ आसीन होते हैं। वैधी भक्तिके चतुर्थ अङ्गका नाम पादसेवन है। श्रीभगवान्के चरण कमलकी सेवाका नाम पादसेवन है। इसके फलके विषयमें शास्त्रमें कहा है—

यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विनामशेषजन्मोपचितं मलं धियः।
सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती सती यथा पदाङ्गुष्ठविनिःसृता सरित्॥

जिस प्रकार भगवत्पादनिःसृता जाह्नवी अनुक्षण वर्द्धिता हो कर

संसारकी मलिनताको दूर करती है उसी प्रकार भगवच्चरणसरोज-सेवा-प्रवृत्तिके द्वारा भी तपस्वियोंके चित्तसे जन्म जन्मान्तरसञ्चित मलिनता शीघ्र ही क्षीणताको प्राप्त हो जाया करती है। और इस प्रकारसे चित्तकी मलिनता नष्ट होने पर भक्तचित्तमें भगवद्भावका स्फुरण होने लगता है। यही वैधी भक्तिके पादसेवनरूप अङ्गका फल है। वैधी भक्तिके पञ्चम अङ्गका नाम अर्चन है। मृण्मयी, पाषाणमयी, आदि स्थूल मूर्त्ति वनाकर अथवा हृदयमें मनोमयी मूर्त्ति वनाकर बाह्य व मानस पूजाका नाम अर्चन है। भक्तिके साथ इस प्रकार पूजा करनेसे भगत्प्रसन्नता होती है जिससे भावहृदयमें भगवद्भावका धीरे धीरे उदय होने लगता है। यथा गीतामें—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतं गृह्णामि प्रयतात्मनः॥

पत्र, पुष्प, फल या जल जो कुछ हो भक्तिके साथ अर्पण करनेसे मैं सादर ग्रहण करता हूं। वैधी भक्तिके षष्ठ अङ्गका नाम वन्दन है। श्रीभगवान्के चरणकमलोंकी वन्दनाका नाम वन्दन है जिसके द्वारा भक्तमें अहङ्कार नाश व भगवद्भावका उदय होता है। तदनन्तर दास्य, सख्य व आत्मनिवेदन नामक वैधी भक्तिके अन्तिम तीन अङ्गोंका साधन भक्ति शास्त्रमें विहित किया गया है। इन तीनों अङ्गोंका वास्तविक विकाश भक्तिकी रागात्मिका दशाम होनेपर भी वैधी व रागात्मिकाकी सन्धिदशामें अभ्यासके तौर पर रागात्मिका दशाकी प्राप्तिके लिये इन तीनोंका साधन होता है। दास्य भावमें श्रीभगवान्का दास बनकर उनकी सेवाके अभ्यास द्वारा अहङ्कार नाश व भक्ति प्राप्ति और सख्य भावमें उनके सखारूपसे एकप्राणता प्राप्तिके अर्थ हार्दिक प्रयत्नके द्वारा भक्त हृदयमें अवश्य ही भगवान्के प्रति पुण्यमय व तदीयतामय मधुर प्रेमका विकाश होने लगता है। तदनन्तर वैधी भक्तिके अन्तिम अङ्ग आत्मनिवेदन भावके अभ्यास द्वारा भक्तकी शारीरिक व मानसिक सकल चेष्टा भगवद्भावमयी ही हो जाती है जिसके फलसे भक्त हृदयमें भगवान्के प्रति अपूर्व दिव्य रागका विकाश हो जाता है। आत्मनिवेदन भावके साधन समय भक्तकी चेष्टायें कैसी होती हैं उसके विषयमें शास्त्रमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। यथा श्रीमद्भागवतमें—

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो-

वचांसि वैकुण्ठ गुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु
श्रुतिं चकाराच्युत सत्कथोदये॥
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ
तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम्।
घ्राणञ्च तत्पादसरोजसौरभे
श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते॥
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे
शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने।
कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया
यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः॥

आत्मनिवेदन भावके उदय होनेसे साधकका अन्तःकरण भगवच्चरणारविन्दमें, वाक्य भगवद्गुणानुवादमें, हस्त उनके मन्दिरोंके मार्जनमें, कर्ण भगवद्विषयिणी मधुर कथाओंके श्रवणमें, दृष्टि उनकी मूर्त्तिके देखनेमें, शरीर उनके भक्तोंके अङ्ग स्पर्शमें, घ्राणेन्द्रिय भगवच्चरणसरोजसुवासित तुलसीके आघ्राणमें, रसना उनके प्रसादग्रहणमें, चरण उनके तीर्थक्षेत्रोंके गमनमें, मस्तक उनके चरणवन्दनमें और काम विषयविलासमें नियुक्त न हो कर साधुजनोंकी तरह श्रीभगवानकी सेवामें ही नियुक्त होते हैं। यही वैधी भक्तिके नवधा विभक्त अङ्गोंका साधन है। वैधी भक्तिके नौ भेदोंका स्वरूप दिखाया गया। यह नौ साधन अथवा इनमेंसे कुछ कुछ साधन भक्ति योगके साधक शिष्यको श्रीगुरुदेव प्रथम उपदेश देते हैं और उसके विशेष विशेष साधनोंका अभ्यास कराते हैं। इसी कारण इस दशाकी भक्तिको वैधी कहते हैं। इस प्रकार साधनद्वारा भगवत्कृपा प्राप्त होनेसे साधकको क्या सिद्धि मिलती है सो नीचे बताया जाता है।

वैधीभक्तिके पूर्णसाधनसे भगवत्कृपाप्राप्त, निशिदिन इष्टदेव-पदध्यान निमग्न भक्तका हृदयकमल विकसित होकर श्रीभगवान्‌के प्रति जिस समय तैलधारावन्निरवच्छिन्न अविश्रान्त व अपूर्व अमृतमयी प्रेमधाराका प्रवाह बहने लगता है, जिसप्रेमधाराके मधुर आस्वादनसे परितृप्त भगवान् भक्तके हृदया-

रविन्दमें विराजमान होकर भक्तहृदयमें निरन्तर आत्मरति, आनन्द व शान्तिका उदय कर दिया करते है उसी अविराम प्रवहमान भगवत् प्रेमका नाम रागात्मिका भक्ति है। यथा दैवीमीमांसामें:—

रसानुभाविकाऽऽनन्दशान्तिदा रागात्मिका।

भक्तिके जिस भावसे श्रीभगवान्के प्रति अपूर्वरस अर्थात् प्रेमका अनुभव होता है और जिस भावमें भक्तहृदयमें आनन्द व शान्तिका उदय होता है उसीका नाम रागात्मिका भक्ति है। भक्तिके इस भावमें श्रीभगवान्के प्रति साधकके चित्तकी निरन्तर प्रीति बनी रहती है। जिस प्रकार नवागता कुलवधूको पतिके प्रति प्रेम उत्पन्न करनेके लिये उनकी सेवा की अनेक विधि प्रथमतः बताई जाती है परन्तु जिस समय पतिव्रताका प्रेम पतिके प्रति उत्पन्न हो जाता है उस समय वे स्वयं ही निशिदिन उस प्रेममें मग्न रह कर विधिके विना ही समस्त कर्त्तव्य को पालन कर दिया करती हैं उसी प्रकार भक्तिकी वैधी दशामें भगवान्के प्रति प्रेमाभ्यासके लिये श्रवणकीर्त्तनादि अनेक विधिकी अवश्यकता होने पर भी भक्तिकी रागात्मिका दशामें भगवान्के प्रति पतिप्राणा सतीकी तरह प्रेम हो जानेपर विधियोंके अभ्यासका कोई भी प्रयोजन नहीं रहता है। भक्त भगवान्के प्रति पवित्र प्रेमबद्ध होकर उन्हींके चरणकमलके मधुरध्यानमें अहरहः निमग्न रहते हैं जिससे उनके चित्तमें दुःख लवलेशहीन आनन्द व शान्तिकी दिव्यज्योत्स्ना सदा ही प्रफुल्लित रहा करती है यथा। भागवतमें:—

एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो
भक्त्या द्रवद्हृदय उत्पुलकः प्रमोदात्।
औत्कण्ठ्यबाष्पकलया मुहुरर्द्यमान-
स्तच्चापि चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते॥
भक्तिं हरौ भगवति प्रवहन्नजस्र-
मानन्दबाष्पकलया मुहुरर्द्यमानः।
विक्लिद्यमानहृदयः पुलकाचिताङ्गो,
नात्मानमस्मरदसाविति मुक्तलिङ्गः॥
इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या

भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः
भवन्ति वै भागवतस्य राजन्
ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात् ॥

श्रीभगवान्के प्रति मधुर प्रेमभावको प्राप्त करके भक्तहृदय द्रवीभूत हो जाता है, आनन्दसे उनका अङ्ग पुलकित होने लगता है। वे गलदश्रु व गद्गद कण्ठ होकर उन्हींके चरणकमलमें मनोमधुकरको सदैव निमग्न रखते हैं। एतादृश भक्तके हृदयमें अपूर्व आनन्द उत्पन्न होनेसे नयनपथ द्वारा अनन्त आनन्दाश्रु प्रवाहित होने लगता है और वे श्रीभगवान्के प्रेममें उन्मत्त व विलीन होकर मुक्त-पुरुषकी तरह अहम्भाव विस्मृत हो जाते हैं। इस प्रकारसे इष्टदेव-पदध्याननिमग्न भक्तको संसारके प्रति वैराग्य व भगवद्भावप्राप्ति होती है जिससे साक्षात् परमा शान्ति भक्तहृदयमें चिरविराजमान हो जाती है।

भक्तिकी रागात्मिका दशामें साधक की वहिश्चेष्टा कैसी रहती है इस विषयमें दैवीमीमांसादर्शनमें कहा है—

"यज्ज्ञानान्मत्तस्तब्धात्मारामत्वम्"

इस प्रकारके भक्तको लोकलज्जा, लोकभय आदि कुछ भी नहीं रहता है। वे कभी भगवत्प्रेममें उन्मत्त होकर नृत्यगीतादि करते हैं, कभी कभी मधुपान-निमग्न मधुकरकी नाईं भगवदानन्दामृत पानमें मग्न होकर स्तब्ध रहते हैं और कभी बाह्यभावशून्य होकर अन्तर्विराजमान परमात्माके अलौकिक आनन्दमें ही रमण करते रहते है। रागात्मिका भक्तिके इन सब भावोंके अनेक प्रमाण शास्त्रमें मिलते हैं। यथा नारद सूत्रमें—

"अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्" "मूकास्वादनवत्"
"शान्तिरूपात् परमानन्दरूपाच्च"
"गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्द्धमानमविच्छिन्नं
सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्"
"तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति
तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति"
"यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति"

"कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः
पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च"

और भी श्रीमद्भागवत में—

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥
एवं व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः—
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥
क्वचिद् रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचिद्
हसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तुष्णीं परमेत्य निर्वृताः॥
क्वचिद्रुदति वैकुण्ठचिन्ताशवलचेतनः
क्वचिद्धसति तच्चिन्ताह्लाद उद्गायति क्वचित्।
नदति क्वचिदुत्कण्ठो विलज्जो नृत्यति क्वचित्
क्वचित्तद्भावनायुक्तस्तन्मयोऽनुचकार ह॥
क्वचिदुत्पुलकस्तूष्णीमास्ते संस्पर्शनिर्वृतः॥
अस्पन्दप्रणयानन्दसलिलामीलितेक्षणः॥
निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान्
वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि।
यदातिहर्षोत्पुलकाश्रु गद्गदं
प्रोत्कण्ठ उद्गायति रौति नृत्यति॥

यदा ग्रहग्रस्त इव क्वचिद्धस-
त्याक्रन्दते ध्यायति वन्दते जनम् ।
मुहुः श्वसन् व क्ति हरे जगत्पते
नारायणत्यात्ममतिर्गतत्रपः ॥

भगवत्प्रेमोन्मत्त भक्त गद्गदवाणी व भक्ति-रसार्द्रचित्त होकर कभी रोते हैं, कभी हँसते हैं और कभी उन्मत्तकी तरह निर्लज्ज होकर नाचते गाते हैं। इस प्रकारसे भगवद्भक्त संसारको पवित्र करते हैं। उस समय उनकी लोकलज्जा आदि सभी वृत्ति तिरोहित हो जाती हैं। वे अच्युत चिन्तासे कभी कभी रोते रहते हैं, कभी उनके विषयमें चर्चा करते रहते हैं और कभी आत्माराम होकर मौन हो रहते हैं। उस समय भगवत्प्रेमजनित आनन्दाश्रुके द्वारा उनकी आखें भर कर निस्पन्द हो जाती हैं। श्रीभगवान्की मधुर गुणकथाओंको तथा उनके विविध अवतारोंकी लीलाओंको सुनकर भक्त-हृदय पुलकित व गद्गद हो जाता है, वे उच्च स्वरसे गाते, रोते व नाचते हैं। उस समय लौकिक दृष्टिमें उनकी चेष्टा बिलकुल पागल की तरह होती है, वे भगवान्का ध्यान करते हैं, संसारको उनका रूप जानकर समस्त जीवों को प्रणाम करते हैं और मुहुर्मुहुः दीर्घ श्वास त्यागकरते हुए निर्लज्ज व आत्ममति होकरके हरे, हे जगत्पते, हे नारायण इत्यादि रूपसे कहा करते हैं। उस समय उनके चित्तकी सकल कामना नष्ट हो जाती है। काम क्रोधादि समस्त वृत्तियाँ समुद्रमें विलीन नदियोंकी तरह भगत्प्रेमसमुद्रमें विलीन हो जाती हैं। यथा नारद सूत्रमें—

तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम् ।

समस्त कर्मोंको श्रीभगवान्में समर्पण करके काम, क्रोध, अभिमान आदि उन्हींके प्रति करना चाहिये। भक्तिकी ऊपरोक्त रागात्मिका दशामें भक्त ऐसा ही करते हैं। उनका काम भगत्प्रेम कामनामें, उनका क्रोध अनीश्वर भावोंके दमनमें और उनका अभिमान भगवान्के प्रति एकात्मरतिके अभिमानमें चिरचरितार्थताको प्राप्त हो जाता है जिसके फलसे एतादृश भक्तके हृदय कमलमें निशिदिन आनन्द-कन्द सच्चिदानन्दकी मधुरिमामयी परमा स्थिति विराजमान रहती है। वे जब चाहते हैं व प्रार्थना करते हैं तभी इष्टदेव

भगवान्‌की भावमयी स्थूल मूर्त्तिको स्थूल व मानस नेत्रके सामने देख सकते हैं। भक्त शिरोमणि प्रह्लाद, ध्रुव आदिको रागात्मिका भक्तिकी इस दशामें ही श्रीभगवान्‌की अनन्तसुषमामयी मधुर मूर्तिका दर्शन हुआ था। यथा श्रीमद्भागवतमें—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥
पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः
प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि।
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि
साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति॥

भक्त भगवान्‌से प्रार्थना कर रहे हैं—"हे कमल लोचन! जिस प्रकार पक्षहीन पक्षिशावक अपनी माताके दर्शनके लिये लालायित रहते हैं, जिस प्रकार क्षुधाकातर शिशु मातृस्तनपानके लिये व्यग्र रहते हैं और जिस प्रकार प्रवासी पतिके सन्दर्शनके लिये प्रियतमा स्त्रीका चित्त सदैव व्याकुल रहता है उसी प्रकार मेरा चित्त सदाही आपके दर्शनके लिये लालायित रहता है।" इस प्रकार श्रीभगनान्‌के दर्शनके लिये जब रागात्मिका भक्तियुक्त भक्तका चित्त लालायित होता है तभी उनको श्रीभगवान्‌का दर्शन होता है जैसा कि परवर्त्ती श्लोकमें कहा गया है यथा—इस प्रकार भगवद्भक्त महात्मा प्रसन्न वदन, अरुण लोचन, अनन्तरूपाधार, वरप्रदानपर, मन्मथसुन्दर श्रीभगवान्‌का दर्शन करते हैं और उनके साथ प्राणाराम प्रिय मधुर आलाप करते हैं। इस प्रकार भगवद्दर्शनका क्या फल होता है? इसके उत्तरमें श्रीमद्भागतमें कहा है—

तद्दर्शनध्वस्तसमस्तकिल्विषः
स्वस्थामलान्तःकरणोऽभ्ययान्मुनिः।
प्रवृद्धभक्त्या प्रणयाश्रुलोचनः
प्रहृष्टरोमानमदादिपूरुषम्॥

न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे
नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढि हेतिः ।
येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च
सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम् ॥

श्रीभगवान्‌के दर्शनसे समस्त पापसमूह विनष्ट हो जाता है, हृदयमें शान्ति व पवित्रताकी मन्दाकिनी बहने लगती है। भक्त भगवान्‌के चरण-कमलकी शरण ले लेते हैं, और अत्यन्त भक्तिसे प्रेमाश्रुलोचन व रोमाञ्च कलेवर होकर श्रीभगवान्‌को पुनः पुनः प्रणाम करते हैं। शान्तस्वरूप श्रीभगवान्‌में आसक्तचित्त इस प्रकारके भक्तको किसी लोकमें भी सुखाभाव नहीं होता है। अविराम भ्राम्यमाण कालचक्र कभी उनको ग्रास नहीं कर सकता है। वे श्रीभगवान्‌के साथ प्रिय, आत्मा, वात्सल्य, सखा, गुरु, सुहृद् व इष्टदेव भावसे मधुर रागमूलक प्रेममें आसक्त रहते हैं। श्रीभगवान्‌के प्रति इस प्रकार पवित्र प्रेम होनेसे समस्त संसार साधकके लिये आनन्द-कानन बन जाता है। वे जगत्‌में सर्वत्र ही भगत्प्रेमका उल्लास देखने लगते हैं। उनकी दृष्टिमें समुद्र तरङ्गमें प्रेमका नृत्य व आस्फालन, नदीके प्रवाहमें प्रेमका प्रवाह, पवनके सञ्चालनमें उनकी करुणाका प्रवाह, पुष्पोंके विकाशमें आत्मानन्दकी लहरीलीला, सुधाकरके मुखमें प्रेमसुधामय मधुर हास्य, नक्षत्र मण्डलमें प्रेमानन्दकी अनन्तविलासमयी निर्झरिणी, भ्रमरगुंजारमें प्रेमका गुंजार, जगच्चक्रकी अविराम गतिमें प्रेममयी प्रकृतिमाताकी अनन्तानन्द समुद्रकी ओर तीर्थयात्रा, तथा जगज्जीवोंकी निखिल चेष्टाओंमें प्रेममय भगवान्‌की पवित्र पूजा दिखने लगती है। इस प्रकार पवित्र भावमें विभोर होकर ही व्रजगोपिकाओंने कहा था। यथा श्रीमद्भागवतमें—

वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्त्तिं
यद्देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि ।
गोविन्दवेणुमनुमत्तमयूरनृत्यं
प्रेक्ष्याद्रिसान्वयरतान्यसमस्तसत्त्वम् ॥
धन्याः स्म मूढ़मतयोऽपि हरिण्य एता
या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम् ।

आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसाराः
पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः ॥
गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीत-
पीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः पिबन्त्यः ।
शावाः स्नुतस्तनपयःकवलाः स्म तस्थु-
र्गोविन्दमात्मनि दृशाश्रुकलाः स्पृशन्त्यः ॥
प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मिन्
कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम् ।
आरुह्य ये द्रुमभुजां रुचिरप्रवालान्
शृण्वन्त्यमीलितदृशो विगतान्यवाचः ॥
नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीत-
मावर्त्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः ।
अलिङ्गनस्थगितमूर्म्मिभुजैर्मुरारे-
र्गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः ॥
दृष्ट्वातपे व्रजपशून् सह रामगोपैः
सञ्चारयन्तमनुवेणुमुदीरयन्तम् ।
प्रेमप्रवृद्ध उदितः कुसुमावलीभिः
सख्युर्व्यधात् स्ववपुषाम्बुद आतपत्रम् ॥
हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्यो
यद्रामकृष्णचरणस्परशप्रमोदः ।
मानं तनोति सहगोगणयोस्तयोर्यत्
पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैः ॥
गा गोपकैरनुवनं नयतोरुदार-
वेणुस्वनैः कलपदैस्तनुभृत्सु सख्यः ।
अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणां

नियोगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम् ॥

गोपिका कह रही है "हे सखि ! वृन्दावन की शोभा दिव्यलोकोंसे अधिक बढ़ी हुई है । क्योंकि श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रके चरणकमलोंके द्वारा यहां-पर अपूर्व शोभा सम्पत् प्राप्त हुई है । गोविन्दके मधुर गम्भीर वंशीनाद को श्रवण करके मयूरगण उसे नीलमेघगर्ज्जन समझकर नृत्य कर रहे हैं और उसी नृत्यको पर्वतके अन्यान्यजीव निश्चेष्ट व शान्त होकर देख रहे हैं । धन्य हैं वे सब मृगस्त्रियां जो पशु होने पर भी विचित्रवेपधारी नन्दनन्दनकी मधुर वंशी-ध्वनिको सुनकर निज निज पतिके साथ प्रणयपूर्ण नेत्रकमलोंके द्वारा श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रकी पूजा कर रही हैं। देखिये, गौएं श्रीभगवान्के वेणुद्गरित नादामृत-को कर्णपुट उन्नत करके पी रही हैं । और उनके वत्सगण मातृस्तनपान करते करते इस बीचमें श्रीभगवान्के वंशीनादामृत-पानमुग्ध होकर मातृस्तनपान करना भूल रहे हैं । उनका ग्रास मातृस्तनमें ऐसाही धरा हुआ है । इस प्रकारसे दृष्टिद्वारेण आनन्दकन्द गोविन्दको हृदयमें आलिङ्गन करके वत्सगणके साथ गोमाताएं गलदश्रुलोचना होकर वंशीनादामृतपानमुग्ध हो रही हैं । हे मातः ! वृन्दावनके समस्त पक्षी गोविन्दकी कृपासे मुनियोंके जीवनको प्राप्त होरहे हैं । क्योंकि जिस प्रकार कर्मफलत्याग करके सत्कर्म्मपत्रसुशोभित वेदद्रुमपर आरूढ़ होकर मुनिगण श्रीभगवान्का सन्दर्शन व मधुर प्रणवका नाद श्रवण करते हैं; उसी प्रकार वृन्दावनके पक्षीगण पुष्पफलोंके विना भी केवल कोमलसुन्दर पत्रोंसे ही सुशोभित वृक्षोंपर बैठकर अनन्यशब्द हो आनन्दसे आंखें मींचकर श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रका दर्शन व उनके मधुर वंशीका श्रवण कर रहे हैं । चेतन जीवोंकी बात ही क्या है । देखिये अचेतन नदी भी मुकुन्द-मधुरवंशीगानको सुनकर जलभ्रमके रूपसे मनसिजवेग को बता रही है । और उनके आलिङ्गनमें मुग्धा होकर तरङ्गरूपी भुजाओंके द्वारा उनके चरणयुगलमें कमलोंका उपहार प्रदान कर रही है । अचेतन मेघ भी श्रीकृष्णकी वंशीध्वनिसे प्रफुल्लित होकर बलराम, गोपबालक व व्रजपशुओंके साथ भ्रमणशील श्रीकृष्णचन्द्रके ऊपर सूर्यातपनिवारणके लिये अपने शरीररूपी छत्रका धारण कर रहे हैं । देखिये अत्यन्त आनन्द का विषय है कि यह अचेतन गोवर्द्धन पर्वत भी श्रीहरिके समस्त भक्तोंमें श्रेष्ठ है । क्योंकि इसके शरीरपरके तृणसमूह रामकृष्णचरणकमलस्पर्श-सुखसे रोमाञ्चनकी तरह विकाशको प्राप्त हो रहे हैं । और वे गोवर्द्धन पानीय जल, शोभन तृण, कन्दर व कन्दमूल फलोंके द्वारा श्रीकृष्ण, बलराम, उनके सखागण व

गौओंका परम सत्कार कर रहे है। हे सखिगण! यह बड़ी ही विचित्र बात है कि गोपबालकोंके साथ गौओंके सञ्चारण करनेवाले रामकृष्णके मधुर पदक्रम व वेणुनादके द्वारा शरीरियोंमें जो गतिशील हैं वे तो गति छोड़ कर स्थावर-धर्म्मी हो रहे हैं और वृक्षादि जो स्थावरधर्मी हैं वे रोमाञ्चनके द्वारा जङ्गमजीवों-के धर्मको प्राप्त हो रहे हैं। रागात्मिका भक्तिकी इस दशामें भक्त व भगवान्की परम घनिष्ठता हो जाती है। भक्त भगवान्के साथ प्रियतम सखा व आदर की आत्मीय वस्तुकी नाईं हँसते खेलते रहते हैं, उन पर सब प्रकारका "जोर" व मान करते हैं और भक्तवत्सल भगवान् भी उन सब मान व प्यारके लक्षणोंको आनन्दके साथ सहन करते रहते हैं। इसी आत्मीयतामूलक जोरके साथ ही जिस समय श्रीभगवान्ने भक्त सूरदाससे अपना हाथ छुड़ा लिया था उस समय सूरदासने कहा था—

हस्तमुत्क्षिप्य निर्यासि बलादिति किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥

हे भगवान्! तुम हाथ छुडाके जाते हो इसमें तुम्हारा पौरुष क्या है। यदि हृदय छोड़के जासको तभी तुम्हारा पौरुष मानूँगां। इसी प्रणयमूलक जोर व अहङ्कारके साथ भक्त उदयनाचार्यने कहा था—

ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्त्तसे।
उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः॥

हे भगवान्! तुम ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त होकर मेरी अवज्ञा करते हो और दर्शन नहीं देते हो, परन्तु स्मरण रक्खो कि जब बौद्ध लोग आकर तुम्हारी सत्ताके नाशके लिये उद्यत होंगे तब तुम्हें मेरे ही आधीन होना पड़ेगा। क्यों कि उस समय मैं ही नास्तिकता प्रकाशक बौद्ध मतका खंडन करके तुम्हारी सत्ताकी रक्षा करूंगा। यही रागयुक्त भक्तका श्रीभगवान्के प्रति प्रेम व घनिष्ठ-तामूलक सख्य भाव है। भक्तहृदयमें इस प्रकार प्रेमभावका उदय होनेपर भक्तवत्सल भगवान् उनके अधीन हो जाते हैं। यथा श्रीमद्भागवतमें—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।

श्रियश्चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा ॥
ये दारागारपुत्राप्तप्राणान् वित्तमिमं परम् ।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥
मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः ।
वशे कुर्व्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयन्त्वहम् ।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥

श्रीभगवान् कह रहे हैं "मैं भक्तोंके अधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं हूँ। मेरे हृदयपर साधु भक्तोंका सम्पूर्ण अधिकार है। मेरे भक्त साधुओंके विना मैं अपने आत्माको तथा परमा श्रीको भी नही चाहता हूँ। मैं साधुओंकी ही परम गति हूँ। जिन महात्माओंने स्त्री पुत्र परिवार धनादि तथा परलोककी सुखेच्छाको भी छोड़कर मेरा आश्रय लिया हुआ है उनको मैं किस प्रकारसे त्याग सकता हूँ। जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री पतिप्राणताके द्वारा निज पतिको वश किया करती है उसी प्रकार समदृष्टिपरायण साधुगण भी मुझमें हृदयको बांध कर मुझे वशीभूत कर लेते हैं। साधु मेरे हृदय हैं और मैं साधुओंका हृदय हूँ, वे सिवाय मेरे और कुछ भी नहीं जानते हैं और मैं भी सिवाय उनके और कुछ भी नहीं जानता हूँ।" यही भक्तिकी रागदशामें भक्त व भगवान्का पारस्परिक प्रेम सम्बन्ध है। श्रीभगवान्के प्रति इस प्रकार पवित्र रागमूलक भावके द्वारा भक्त आध्यात्मिक भूमिमें शीघ्र ही विशेष उन्नति लाभ करते हैं। इसी प्रकारके जगत्पवित्रकारी भक्तिरस-सागरमें उन्मज्जन निमज्जन करनेवाले भक्त भारतवर्षमें समय समय पर वैष्णव उपासक, शक्ति उपासक, शिवोपासक, गणपति उपासक व सूर्योपासक आदि सब उपासक-सम्प्रदायोंमें प्रकट हुए हैं। जिनकी महिमा उक्त सम्प्रदायोंके पुराणोंमें वर्णित हैं। प्रकृतिके वैचित्र्यानुसार भावका भी वैचित्र्य होनेसे ऊपर लिखित राग किन किन भावोंसे भक्तके द्वारा विकाश को प्राप्त होता है सो नीचे क्रमशः बताया जाता है।

भावमय दृश्यसंसार चतुर्दशधा विभक्त होनेसे भावमूलक भक्तिरस भी चतुर्दश प्रकारके होते हैं। प्रकृतिकी स्वाभाविक विचित्रता चतुर्दश प्रकारसे ही प्रकट होती है। इसलिये भक्तिराज्यके जीवोंमें स्वभावतः ही चतुर्दश प्रकारके भक्तिभाव देखनेमें आते हैं। यथा दैवीमीमांसादर्शनमें—

"रसज्ञानामपि चतुर्दशधा, तत्र सप्त मुख्याः सप्त गौणाः"
"हास्यादयो गौणाः दास्यासक्ति-सख्यासक्ति-कान्तासक्ति-वात्सल्यासक्ति-आत्मनिवेदनासक्ति-गुणकीर्तनासक्ति-तन्मयासक्तयश्च मुख्याः"

श्रीभगवान्‌के प्रति प्रीतिमूलक रसका बोध चतुर्दश प्रकारसे होता है। उसमें सप्तरस गौण है और सप्त मुख्य हैं। हास्य आदि रस गौण हैं और दास्य, सख्य आदि रस मुख्य है। भक्तिमार्गके प्रवर्त्तक दार्शनिक आचार्योंने सृष्टि-प्रवाहको शृङ्गारात्मक माना है। सृष्टि लीला परम पुरुष व प्रकृति माताके संयोगसे होनेके कारण वह शृङ्गारात्मक है इसमें सन्देह नहीं। श्रुतिमें वर्णन है—

"आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत
जाया मे स्यादथ प्रजायेय" "स तपस्तप्त्वा मिथुनमैच्छत्"

सृष्टिके पहले परमात्मा एकाकी थे, उन्होंने सृष्टिकी इच्छा करके जायाकी कामनाकी जिससे प्रजाकी उत्पत्ति हो सके। आत्माने तपस्या करके प्रकृतिके साथ संयुक्त होकर सृष्टि की इच्छा की। पुराणमें लिखा है—

योगेनात्मा सृष्टिविधौ द्विधारूपो बभूव ह।
पुमांश्च दक्षिणार्द्धाङ्गो वामार्द्धा प्रकृतिः स्मृता॥
दृष्ट्वा तां तु तया सार्धं रासेशो रासमण्डले।
रासोल्लासे सुरसिको रासक्रीडां चकार ह॥
नानाप्रकारशृङ्गारं शृङ्गारो मूर्तिमानिव।
चकार सुखसम्भोगं यावद्वै ब्रह्मणो दिनम्॥
अथ सा कृष्णचिच्छक्तिः कृष्णगर्भं दधार ह।
शतं मन्वन्तरं यावज्ज्वलन्ती ब्रह्मतेजसा॥
शतं मन्वन्तरान्ते च कालेऽतीतेऽपि सुन्दरी।
सुषाव डिम्बं स्वर्णाभं विश्वाधारालयं परम्॥

परमात्माने सृष्टि विस्तारके लिये योगवलसे अपने शरीरको द्विधा विभक्त किया। उसमेंसे दक्षिणका अर्द्धाङ्ग पुरुष और वाम अर्द्धाङ्ग स्त्री बना।

परमात्माने अपनी अर्द्धाङ्गरूपिणी उस स्त्रीके साथ रासलीला रूपसे बहुकाल तक नानाप्रकार शृङ्गार-मूलक सम्बन्ध किया। उसी शृङ्गारके फलसे भगवच्छक्तिरूपिणो प्रकृतिमाताने शतमन्वन्तर तक ब्रह्मतेजपूर्ण गर्भधारण किया और पश्चात् उसी गर्भसे समस्त संसारकी उत्पत्ति हुई। उसी परम-पुरुष व मूलप्रकृतिकी शृङ्गारात्मक सृष्टिको सप्तधा विभक्त देखकर आचार्योंने रसमय जगत्को चौदह भागोंमें विभक्त किया है। भक्ति-शास्त्रके अनुसार वेही चौदह रस हैं जिनमेंसे सात रस गौण और सात मुख्य माने जाते हैं। इन दोनों प्रकारके रसोंके द्वारा उन्नति-लाभके विषयमें दैवीमीमांसादर्शनमें लिखा है:—

परा मुख्यरससन्निकर्षादुन्नतता तु सर्वरसाश्रया।

दास्यादि मुख्य रसोंके द्वारा ही पराभक्तिलाभ हुआ करती है, परन्तु उन्नति मुख्य गौण सभी रसोंके द्वारा होती है। श्रीभगवान् रसरूप होनेसे उनकी ही सत्तासे विकाश प्राप्त मुख्य व गौण सकल रसोंके भीतर उनकी आनन्दसत्ता विद्यमान है। इसलिये सकल रसोंके द्वारा ही उन्नति लाभ हुआ करता है। केवल दोनोंमें भेद इतना ही है कि हास्य, वीभत्स आदि गौण रसोंके साथ वहिर्विषयोंका सन्वन्ध रहनेसे तथा उनके आधारके मलिन शृंगारमय होनेसे गौण रसके द्वारा अद्वैत भावमय निर्विकल्पसमाधिप्रद परा-भक्ति लाभ नही हुआ करता है, उनके द्वारा भक्तिराज्यमें उन्नति और अन्तमें सालोक्य मुक्ति प्राप्त हो सकती है। परन्तु दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति आदि सप्त मुख्य रसोंका फल इसप्रकारका नहीं है। क्योंकि इन रसोंके आधार शुद्धशृङ्गारमय होनेसे तथा इनके साथ बहिर्विषयोंका सम्बन्ध नहीं रहनेसे उन सभोंके द्वारा साक्षात्रूपसे पराभक्तिलाभ हुआ करता है। अब नीचे गौण व मुख्य दोनों रसोंके ही विविध भावोंका वर्णन किया जाता है। गौण रसके सात भाव है यथा—हास्य, वीर, करुणा, अद्भुत, भयानक, वीभत्स व रौद्र। भक्त अपनी प्रकृतिके अनुसार कहीं वीर भावसे, कहीं करुण भावसे, कहीं रौद्र भावसे और कहीं हास्य आदि रसके साथ श्रीभगवान्में अपने चित्त-को लवलीन करता है। जिसके परिणाममें तन्मयता उत्पन्न होकर भक्तको भक्तिराज्यमें उन्नतिलाभ हुआ करता है। कुरुक्षेत्रके रणाङ्गणमें श्रीभगवान्का प्रतिज्ञाभङ्ग कराकर उनके भक्तवत्सल नामको जगज्जनोंके सामने प्रकट कर देनेके

लिये भीष्मपितामहका जो कृष्ण सखा अर्जुनके साथ घोर संग्रामका भाव था, जिस भावके अन्तमें भगवान् श्रीकृष्णको अपनी प्रतिज्ञा तक को भङ्ग करनी पड़ी थी वह भाव वीर रसका एक अति मधुर दृष्टान्त है। श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रके व्रजधाममें रहते समय जिस भावके द्वारा गोप बालकगण उनसे मिलते और वयस्यकी तरह हँसते खेलते थे वह भाव हास्य रसका है। इन सब भावों के अन्यान्य अनेक दृष्टान्त भक्तिशास्त्रमें पाये जाते हैं यथाः—

शृङ्गारी राधिकायां सखिषु सकरुणः क्ष्वेडदग्धेष्वघाहे
वींभत्सी तस्य गर्भे व्रजकुलतनयाचैलचौर्ये प्रहासी।
वीरी दैत्येषु रौद्री कुपितवति तुरासाहि हैयङ्गवीन-
स्तेये भीमान् विचित्री निजमहसि शमीदामबन्धे सजीयात् ॥
भैष्मीराधादिरूपेषु शृङ्गारः परमोज्ज्वलः।
भीष्मो वीरे दशरथः करुणे स्थितिमाप्तवान् ॥
बल्यर्ज्जुनयशोदानां विश्वरूपस्य दर्शने।
अत्यद्भुतरसास्वादः कृष्णानुग्रहतो भवेत् ॥
गोपालबाला हासस्य श्रीदामोद्वहनादिषु।
एवमन्यत्र भीत्यादि त्रितयेऽपि विचिन्त्यताम् ॥

इन सब श्लोकोंके द्वारा गौणरसके विविध दृष्टान्त बताये गये हैं। यथा—राधिकामें शृङ्गार रस, सखियोंमें करुण रस, अघासुर बकासुरके मारनेमें वीभत्स रस, गोपियोंके वस्त्रहरणमें हास्य, दैत्योंमें वीर रस, इन्द्रके रुष्ट होनेमें रौद्र रस, माखन चोरीमें विचित्र रस, भीष्ममें वीर रस, बलि अर्जुन व यशोदाके विश्वरूपदर्शनमें अद्भुत रस, गोपाल बालकोंमें हास्य रस इत्यादि सभी गौण रसके दृष्टान्त हैं। इन सब रसोंके गौण होने पर भी इनके द्वारा उन्नति व सालोक्यादि मुक्ति किस प्रकारसे होती है इसके उत्तरमें श्रीमद्भागवतमें कहा है—

उक्तं पुरस्तादेतत् ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः ॥
कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।

नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥
न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे ।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद्विमुच्यते ॥

जिस प्रकार श्रीभगवान्‌के प्रति द्वेषबुद्धिसे आसक्त होने पर भी चेदिराज शिशुपालकी मुक्ति हो गई थी उसी प्रकार गौण रसके साधनसे भक्तोंको मुक्ति मिलती है। श्रीभगवान्‌के प्रति काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य या सौहृद्य आदि किसी भावके द्वारा भी अनुरक्त होनेसे श्रीभगवान्‌की लोकोत्तर शक्तिके बलसे उसी भावमें ही भक्तको तन्मयताप्राप्ति हो जाती है। और भगवद्भावमें तन्मयता प्राप्ति होकर मृत्यु होनेसे भगवल्लोकप्राप्ति अवश्य ही होती है। क्योंकि गीताजीमें लिखा है—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवेति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥

जिस भावको स्मरण करके भक्त प्राणको छोड़ता है, परलोकमे उसीके अनुसार गति मिलती है। अतः किसी भी गौणरसके अवलम्बन में इष्टदेवमें तन्मय होकर शरीर त्याग होनेसे उन्नति व सालोक्यादि मुक्ति प्राप्त अवश्य ही होगी, इसमें सन्देह क्या? यही हास्य, करुण आदि सप्त गौण रसका स्वरूप व फल है। अब रागात्मिका भक्तिके अन्तर्गत सप्त मुख्यरसोंका वर्णन किया जाता है। उनके नाम यथा—दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, वात्सल्यासक्ति, कान्तासक्ति, गुणकीर्त्तनासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति व तन्मयासक्ति। श्रीभगवान्‌के प्रति मधुर रागका विकाश होनेसे भक्त निज निज प्रकृतिके अनुसार कहीं दास भावसे, कहीं सखा भावसे, कहीं कान्ता आदि भावसे उनके साथ प्रेम करते हैं और इन सब प्रीतियोंके साथ लौकिक भावका नाममात्र भी न होने से इस प्रकार प्रेमप्रवाहमें अवगाहन करके भक्तहृदय भावग्राही भगवान्‌के उदार आनन्दमय भावमें तन्मयता प्राप्त हो जाता है और तदन्तर तन्मयभावके परिपाकदशामें निर्विकल्पसमाधिका उदय होकर सर्वत्र वासुदेवात्मक अद्वैत ब्रह्ममय जगत्‌का दर्शन होता है। यही शुद्धरागका लक्ष्य व चरम फल है। अब नीचे संक्षेपसे प्रत्येक भावका स्वरूप व परिणाम बताया जाता है। रागात्मिका भक्तिके दासभावमें प्रभुभक्त दासकी तरह भक्त अपने शरीर, मन, प्राण व आत्माके द्वारा श्रीभगवान् व उनके विराट्‌रूप संसारकी सेवा करते हैं। उनके

शरीर, मन, प्राणके द्वारा जो कुछ अनुष्ठित होता है सभी श्रीभगवान्‌के प्रीत्यर्थ व सेवाके लिये होता है। इस भावके विषयमें श्रीमद्‌भागवतमें लिखा है—

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः ॥
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दरशनेऽस्तु भवत्तनूनाम् ॥

श्रीभगवान्‌के साथ दास्यभावमें आसक्त भक्तकी वाणी श्रीभगवान्‌के गुणानुगानमें ही नियुक्त रहती है। उनकी श्रवणेन्द्रिय श्रीभगवान्‌की लीलाकथाओं-के सुननेमें ही लगी रहती है, उनके हस्त भगवत्कार्यमें ही लगे रहते है, उनका अन्तःकरण मुकुन्दचरणारविन्दके स्मरणमें ही निविष्ट रहता है, उनका मस्तक श्रीभगवान्‌के निवासस्थान जगज्जनोंको प्रणाम करनेमें ही नियुक्त रहता है और उनकी दृष्टि भगवद्रूप भक्तोंके दर्शनमें ही लगी रहती है। इस प्रकारसे दासभाव युक्त भक्तका शरीर मन प्राण भगवत्सेवामें निशिदिन निविष्ट रहता है। जिस कार्यके साथ भगवत्सेवाका सम्बन्ध नहीं होता वह कार्य उनके चित्तमें कभी स्थान नहीं पाता है। श्रीभगवान्‌ने कहा है—

"मद्‌भक्तानां च ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मताः"

भगवद्‌भक्तके जो भक्त है वे मेरे श्रेष्ठतम भक्त हैं। इसलिये दासभक्त श्रीभगवान्‌के भक्तों की सेवा करते हैं। श्रीभगवान्‌ने कहा है—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्चय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥
अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम्।
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा ॥
मनसैतानि भूतानि प्रणमेद् बहुमानयन्।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ॥

"मेरेसे पृथक् संसारमें कोई भी वस्तु नहीं है, सूत्रमें गुँथे हुए मणियों-की तरह समस्त ससार मुझमें ही ओतप्रोत है। इसलिये मेरे रूप समस्त जीवकी प्रीतिके साथ पूजा करनी चाहिये। ईश्वर ही जीवरूपसे समस्त संसारमें व्याप्त है इसलिये समस्त जीवोंकी सेवा करनी चाहिये।"

श्रीभगवान् की इसी आज्ञाको हृदयङ्गम करके दास भक्त जगत्सेवामें अविराम प्रवृत्त रहता है । इसी प्रकारसे दासभावके द्वारा अपना सर्वस्व श्रीभगवान्की सेवामें समर्पण करनेसे भक्तका जीवभावजनित अहङ्कार समूल नाशको प्राप्त हो जाता है। जिसके फलसे भक्तको जीवभावके अवसानमें भगवद्भावप्रद पराभक्तिका लाभ होता है। यही दास्यासक्तिका स्वरूप व परिणाम है। भक्तिशास्त्रमें ध्रुव, प्रह्लाद, विदुर, उद्धव, हनुमान आदि भक्तोंकी प्रीति श्रीभगवान्के प्रति दास्यभावमूलक थी जिसके फलसे उन सभोंको निज निज अधिकारानुसार सद्गति प्राप्त हुई थी इसके वर्णन पुराणोंमें अजस्र पाये जाते हैं।

रागात्मिका भक्तिके सख्यभावमें भक्त "गोविन्द मेरा सखा है, मेरा प्राण है" इस प्रकारसे अपने प्राणप्रियतम भगवान्के साथ अन्तरङ्ग भावमूलक घनिष्ठताके साथ सखारूपसे प्रेम करते हैं। उनकी अन्यचिन्ता व अन्य समस्त कार्य नष्ट होकर केवल प्रियतमका आनन्दविधान कार्य ही जीवनका व्रत हो जाता है। उनके लिये संसारकी शान्ति व आनन्द प्रियतम भगवान्के संम्पर्कसे ही अनुभवगम्य होने लगता है। सुन्दर वस्तु उनके लिये सुन्दर तभी है जब प्राणसखा उसे पसन्द करे, उपादेय वस्तु ग्रहणीय तभी है जब प्राणसखाकी उससे परितृप्ति हो, जगत् नन्दनकानन तभी है जब प्राणसखा उसमें विहार करे। जहांपर श्रीभगवान्का सम्पर्क नहीं है वह वस्तु या वह स्थान अनुरागपरायण सख्यभावासक्त भक्तके लिये अति तुच्छ है। उनकी दृष्टिमें सुधाकरकी सुधाधारा प्रियसखा भगवान्की विगलित प्रेमधारा रूपसे ही वहा करती है। उनकी दृष्टिमें प्रभाकरकी प्रचण्ड ज्योति प्राणसखाकी ही प्राणशक्ति रूपसे समस्त संसारको अनुप्राणित किया करती है। उनकी दृष्टिमें कुसुमदामका अनन्त विलास सखाके ही विविध रागमय हास्य विलास रूपसे संसारको सुषमान्वित कर रहा है। उनका क्रोध प्रभञ्जनके तीव्र प्रवाहरूपसे, अशनिके हृत्कम्पकर गर्ज्जनरूपसे, उनका दुःख अमानिशाके अन्धकार रूपसे, विपत्ति वात्याके दीर्घनिश्वासरूपसे समस्त जगत्को आलोकित कर देता है। इस प्रकारसे सख्यभावनिविष्ट भक्त धीरे धीरे विश्वप्राण परमात्माके साथ व्यापकरूपसे अपनी एक प्राणताका सम्पादन किया करते हैं। केवल यही बात नहीं, सख्यभावमें श्रीभगवान्के साथ भक्तका लौकिकसख्यतामूलक उपहास क्रीडादि भी चलता रहता है। श्रीभगवान्

कृष्णके साथ सख्यभावासक्त अर्जुनके जीवनमें भी इस प्रकार लौकिक भावोंका समावेश था जिसके लिये विश्वरूप-दर्शनस्तम्भित अर्जुनने क्षमा भी माँगी है, यथा गीतामें—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात् प्रणयेन वापि ॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत् क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥

हे अच्युत भगवन् ! मैंने सखा समझ कर प्रमाद या प्रणयसे आपकी महिमाको न जानकर, हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखा ! आदि जो कुछ सामान्य सम्बोधन या अवज्ञासूचक वाक्य कहा है और आपके विहार, शय्या, आसन, भोजनादिकोंमें उपहासरूपसे एकाकी अथवा अन्यके सामने जो कुछ असत्कार-मूलक कार्य किया है कृपया उन सभीकी क्षमा करें। इस प्रकारसे श्रीभगवान्‌के साथ सखारूपसे एकप्राणता होने पर भावके विपाकमें सर्वत्र ही भक्तको भगवद्भावका अनुभव होने लगता है। यही सख्यासक्तिका पराभक्तिप्रद मधुर परिणाम है।

शुद्ध अनुरागके तृतीय भावका नाम वात्सल्यासक्ति है। इस भावमें भक्त भगवान्‌के साथ पुत्रभावसे प्रेम करते हैं। इस भावकी एक विशेषता यह है कि इसमें श्रीभगवान्‌की सर्वशक्तिमत्ता व लोकोत्तर चमत्कारिता भक्तचित्तमें विद्यमान रहने पर भी आसक्तिमें वात्सल्यरसकी अधिकता होनेके कारण भक्तके क्रियाकलापमें लौकिक पिता पुत्रका सम्बन्ध व भाव बना रहता है। कदाचित् श्रीभगवान्‌के अलौकिक भावकी स्मृति व चित्तपर प्रभावके कारण वात्सल्यके बदले श्रद्धायुक्त भक्तिके उदय होने पर भी इस भावकी स्थिति व क्रियारूपमें प्रकाश बहुत देर तक नहीं रहता है और पुनः

वात्सल्यभावका उदय होकर तदनुरूप प्रेम व चेष्टाके प्रवाहमें भक्तको डाल दिया करता है। इसी भावमें मुग्ध होकर किसी भक्तने कहा थाः—

एह्येहि वत्स नवनीरदकोमलाङ्ग
चुम्बामि मूर्द्धनि चिराय परिष्वजे त्वाम् ।
आरोप्य वा हृदि दिवानिशमुद्वहामि
वन्देऽथवा चरणपुष्करकद्वयं ते ॥

हे नवनीरद कोमलाङ्ग वत्स ! आओ, आओ मैं पुत्रभावसे तुम्हारा शिरश्चुम्बन व तुम्हें आलिङ्गन करूँ, तुम्हें सदा हृदयमें धारण कर रक्खूँ अथवा तुम्हारे चरणकमलयुगलकी पूजा करूँ। यही वात्सल्यभावयुक्त भक्तका गौरव व वत्सलता संयुक्त अन्योन्यविरोधी भाव है। यशोदा, नन्द आदिमें यही भाव श्रीभगवान्के प्रति था जिससे विश्वरूप व श्रीभगवान्की अलौकिक लीलाओंके देखनेसे उनमें श्रीभगवान्के प्रति गौरव भावका क्षणिक विकाश व पूज्यबुद्धि होने पर भी परक्षणमें ही वात्सल्य भावका उदय होकर गौरवबुद्धि लुप्त हो जाती थी।

वात्सल्य भावपरायण भक्त श्रीभगवान्को अपने प्रिय बालककी तरह देखते हैं और उनके खिलाने और अपने भावानुसार सेवा करनेमें ही निशिदिन रत रहते हैं। उनके प्रिय वस्तुओंका संग्रह, अप्रिय वस्तुओंका परित्याग उनके हृदयके साथ सदाही अपना हृदय मिला रखना इत्यादि आत्मजसुलभ भाव वात्सल्यासक्तिका लक्षण है। इस प्रकार भक्तकी दृष्टिमें समस्त संसारके जीव भी श्रीभगवान्के ही रूप होनेसे परम प्रीति व वत्सलताके पात्र बन जाते हैं जिससे उनके हृदयका प्रेमप्रवाह शतमुखी गङ्गाकी तरह गोविन्दरूप समस्त संसारमें तथा ससाररूप गोविन्दमें परिव्याप्त होकर उनको पराभक्तिका अधिकारी कर दिया करता है। यही वात्सल्यभावका लक्षण व मधुर परिणाम है।

अनुरागके चतुर्थ भावका नाम कान्तासक्ति है। पतिप्राणा सती स्त्री जिस प्रकार शरीर, मन, प्राण व आत्मासे पतिके साथ प्रेम व उन्हींमें सर्वस्व समर्पण करती है कान्तासक्तिकी अवस्थामें भक्त हृदयमें श्रीभगवान्के प्रति ऐसाही भाव होता है। उनके चित्तमें सिवाय भगवान्की चिन्ता व ध्यानके और किसी वस्तुकी चिन्ता व ध्यान नहीं रहता है। उनके शरीर, मन व प्राणद्वारा भगवत्सेवाके सिवाय और कोई भी कार्यानुष्ठान नहीं हो सकता है।

उनकी जीवनतरणी श्रीभगवान्‌को ही ध्रुवतारा जानकर उनके ही प्रेम समुद्रमें बहने लगती है, उसका और कोई भी लक्ष्य, कोई भी पन्थ नहीं रहता है। इस प्रकार भक्तसे अनुरागके विषयमें श्रीभगवान्‌ने कहा है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

इस प्रकार अपूर्व अनुराग युक्त भक्त मेरेमें ही मनप्राणको बाँध कर मेरे विषयमें ही ध्यान, चिन्तन व आलाप करते हुए निशिदिन; मेरेमें ही रमण करते रहते हैं। इस प्रकार प्रेमके विषयमें महर्षि शाण्डिल्यजीने अपने दर्शन में कहा है—

अतएव तद्भावाद् वल्लभीनाम्।

शास्त्रादि ज्ञान न होने पर भी व्रजगोपिकाओंमें उस प्रकार अपूर्व कान्तासक्तिका विकाश हुआ था। गोपियोंने वेद वेदान्तका अध्ययन व ज्ञानचर्चा नहीं की थी परन्तु केवल श्रीकृष्ण चरणारविन्दमें अनन्यानुरक्तता व एकप्राणता के द्वारा ही परमगतिको प्राप्त हो गई थीं। उन्होंने लोकलज्जा, गृहधर्म्म आदि समस्त परित्याग करके श्यामप्रेमसिन्धुमें अपनी जीवनतरणीको अनन्यशरण होकर डाल दिया था और अत्यन्त विरहके तीव्रतापानलमें पुनः पुनः दग्ध, संसारके समस्त मनुष्योंसे अविराम अवमानित व तिरस्कृत होने पर भी मेघविन्दुपानप्रिय चातकिनीकी तरह नवघनश्याम श्रीकृष्णके ही प्रेमपीयूष पानके लिये समस्त संसारके सकलप्रकारके प्रेमको तुच्छ कर दिया था जिसके फलसे श्रीभगवान् उनके प्रति केवल प्रसन्न ही नही हुए थे अधिकन्तु उनके प्रेमके लिये अपनेको चिरऋणपाशवद्ध मानते थे यथा श्रीमद्भागवतमें—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विवुधायुषापि वः।
या मा भजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥

"हे सखिगण! आपलोगोंने जिस पवित्रप्रेमके साथ मेरेमें अनुरागयुक्त होकर कठिन संसारशृङ्खलाको भी छेदन कर दिया है, यदि देवताओंकी भी आयु प्राप्त हो तो भी मैं उस पवित्र प्रेमऋणका शोध नहीं कर सकूँगा। इस

लिये आप लोगोंकी साधुशीलता ही मुझे ऋणमुक्त करे।" गोपियोंके प्रेममय जीवनके विषयमें इस पुस्तकके प्रथम खण्डके पुराण प्रकरणमें बहुत कुछ कहा गया है जिससे कान्तासक्तिका अपूर्वभाव सभीको हृदयङ्गम होगा। श्रीमद्भागवतमें और भी लिखा है—

गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपं
लावण्यसारमसमोर्द्ध्वमनन्यसिद्धम् ।
दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुराप-
मेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य ॥
या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो-
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥
प्रातर्व्रजाद् व्रजत आविशतश्च सायं
गोभिः समं क्वणयतोऽस्य निशम्य वेणुम् ।
निर्गम्य तूर्णमबलाः पथि भूरिपुण्याः
पश्यन्ति सस्मितमुखं सदयावलोकम् ॥

अहो! व्रजगोपिकाओंने न जाने कौन कठिन तपस्या की थीं जिससे निखिल श्री व ऐश्वर्यके एकमात्र निदान, योगियोंको भी अलभ्य; सर्वाङ्गसुन्दर, लावण्यराशिके अनन्त आगार श्रीभगवान्‌की सौन्दर्यसुधाको नेत्रोंके द्वारा अविराम पानकर रही हैं। धन्य है उन गोपिओंका जीवन जिन्होंने सारे जीवनके कार्यको भगवत्प्रीत्यर्थ ही समर्पण करके, उनके प्रेममें अनुरक्त हृदय हो, उनके ही चरण सरोरुहमें मनोभृङ्गको उन्मत्त करके दुग्धदोहन, दधिमन्थन, दोलान्दोलन, मोचन, मार्जनादि समस्त कार्यमें सगद्गदकण्ठ उन्हींके अपूर्व चरित्रोंका गान किया करती हैं। प्रातःकाल व सायंकाल जिस समय श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र गोचारणके लिये जाया आया करते हैं उस समय गोविन्दगतप्राणा गोपिकाएँ गृहकार्यसे निष्क्रान्ता होकर उनके ही सदय सहास्याननको निरीक्षण किया करती हैं।

रागात्मिका भक्तिका स्वरूप वर्णन करते हुए देवर्षि नारदजीने कहा है कि विरहव्याकुलताके द्वारा ही यथार्थ प्रेमकी गंभीरताका परिचय मिलता है। जिस प्रेमके साथ विरह नहीं है वह प्रेम कभी पूर्णभावको तथा उज्वलताको प्राप्त नहीं हो सकता है। क्योंकि विरुद्ध भावके द्वारा ही अनुकूल वस्तुका यथार्थ स्वरूप प्रकट होता है। संसारमें यदि दुःख न होता तो सुखकी माधुरी व रमणीयता का यथार्थ अनुभव किसीको नहीं हो सकता। यदि अमानिशाका निबिड अन्धकार संसारको ग्रास नहीं करता तो पूर्णिमाका पूर्णशशिधर किसीका भी नयनरञ्जन व चित्तविनोदन पूर्णरूपसे नहीं कर सकता। दिवाकरकी दिव्य प्रभा जगज्जनोंके चित्तमें प्राणशक्तिका उद्दीपन तभीतक पूर्णतया कर सकेगी जबतक रजनीके आगमन द्वारा जड़ताके अङ्कमें जगज्जीवोंको विश्रांति लाभ हुआ करेगी। निष्कर्ष यह है कि विरुद्धवृत्तिके प्रभावसे ही अनुकूलवृत्तिका पूर्ण स्वरूप प्रकट होता है। इसी सिद्धान्तके अनुसार यह बात विज्ञान सिद्ध है कि विरहके द्वारा ही रागकी पुष्टि व पूर्णता होती है। इस बातको स्वयं श्रीकृष्ण भगवान्‌ने गोपियोंको प्रेमका स्वरूप बताते समय कहा था, यथा—

नाहन्तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्
भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये।
यथाधनो लब्धधने विनष्टे
तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद॥

मेरे प्रति प्रेम करनेपर भी मैं जो कभी कभी प्रेमी भक्तको विरह व्यथासे दुःखित करता हूँ इसका कारण यह है कि विरहके द्वारा ही प्रेमकी तीव्रता बढ़ कर पूर्णताकी प्राप्ति होती है और जिस प्रकार किसी दरिद्रको धन प्राप्त होकर उस धनके भी नाश हो जानेसे उसको निरन्तर धनकी चिन्ता बनी रहती है उसी प्रकार प्रेमके बीचमें विरह आनेसे निरन्तर अविच्छिन्न भगवत्प्रेमकी मन्दाकिनी धारा हृदयभूमिमें विहार करती है। यही प्रेमराज्यमें विरहव्यथा-की उपकारिता है। कान्तासक्तिके उच्चभावमें इस प्रकार विरहव्याकुलताका मधुरभाव भक्तजनोंके मनोमन्दिरको सदैव आपूरित करता है। प्रवासी पति-के विरहमें पतिप्राणा सतीके चित्तमें जिस प्रकार सदैव व्यकुलता बनी रहती है उसी प्रकार कान्तासक्तिपरायण भक्तके भी चित्तमें श्रीभगवान्‌के अदर्शन व विस्मरणके हेतु विरहव्यथा सदैव बनी रहती है। भक्तको इस प्रकार व्यथा-

के अन्तस्तलमें भी एक प्रकार प्रगाढ़ आनन्दकी उपलब्धि होने लगती है जो मुखसे भी कहा नही जा सकता है और लेखनीसे भी प्रकट नहीं किया जा सकता है।

इसी विषयको देवर्षि नारदने सूत्रके द्वारा वर्णन किया है यथा—

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति ।

प्रेमके लक्षणके विषयमें अन्यान्य महर्षियोंके अन्यान्य मत होने पर भी देवर्षि नारदके मतमें यथार्थ प्रेम तभी होगा जब कि श्रीभगवान्‌के चरणकमलमें भक्तका समस्तकार्य समर्पित हो जायगा और उनकी विस्मृति दशामें परम-व्याकुलता भक्तको प्राप्त होगी। इस प्रकार प्रेमका लक्षण वर्णन करके नारदजी ने दृष्टान्तरूपसे सूत्र किया है—

यथा व्रजगोपिकानाम् ।

व्रजगोपिकाओंके श्रीभगवान्‌के प्रति कान्तासक्तिमूलक प्रेममें इस प्रकार विरहव्यथाका लक्षण विशेषरूपसे प्राप्त होता है जिससे उसमें श्रीभगवान्‌के प्रति पूर्णप्रेमका परिचय मिल जाता है। श्रीमद्भागवतके कृष्णलीलाप्रसङ्गमें इसके अनेक दृष्टान्त मिलते हैं, यथा—जिस समय गोपियोंका अभिमान भङ्ग करनेके लिये श्रीभगवान् अन्तर्द्धान हो गये थे उस समय जिस व्याकुलताके साथ गोपियोंने उनके दर्शनके लिये।

हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज ।
दास्यास्ते कृपयाणा मे सखे दर्शय सन्निधिम् ॥

इत्यादि रूपसे व्याकुल होकर उनके दर्शनकी आकांक्षा की थी वह सब वर्णन जैसा कि इस ग्रन्थके प्रथमखण्डमें रासलीलावर्णनप्रसङ्गमें किया गया है, विरहव्यथाका अनुपम दृष्टान्त है। इस प्रकार विरहाग्निके द्वारा ही गोपियों-का चित्त परम निर्मल हो गया था जिससे उनको श्रीभगवान्‌की कृपा प्राप्त हो कर परमधाम लाभ हुआ था। यही सब कान्तासक्तिका मधुरभाव है जिस भावके परिपाकसे भक्तहृदय भगवान्‌में तन्मय होकर समस्त संसारमें उन्हींका स्वरूप उपलब्ध करता हुआ अन्तमें पराभक्तिका परमभाव प्राप्त करता है। यही कान्तासक्तिका मधुर लक्षण व दिव्य परिणाम है।

अनुरागके पञ्चमभावका नाम गुणकीर्त्तनासक्ति है। इस भावके उदय

होनेसे भक्त दिवानिशि सर्वशक्तिमान् भगवान्के गुणराशियोंको कीर्त्तन करते हुए उन्हीं गुणोंके द्वारा भगवद्भावमें निमग्न रहा करते हैं। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्
भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात्।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्
पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्॥

श्रीभगवान्की मधुर गुणकथा जिसको वेदव्यास आदि मुक्तपुरुषगण भी गाया करते हैं, जो मुमुक्षुजनोंके लिये भवरोगकी एकमात्र औषधिरूप है और विषयीके लिये भी श्रवण मनपरितोषकर है, इस गुणकथासे जो लोग विरक्त रहते हैं वे आत्मघाती हैं। उनकी गुणकथाका क्या फल है, इस विषयमें श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

तस्मिन्महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्र-
पीयूषशेषसरितः परितः स्रवन्ति।
ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढकर्णै-
स्तान्न स्पृशन्त्यशनतृड्भयशोकमोहाः॥

साधुमहात्माओंके ध्यानमें उनके मुखसे विनिर्गत भगवत्कथामृतकी अजस्र धारा जब चारों ओर बहने लगती है उस समय जो भक्त एकान्तरति होकर उस अमृतको पान करते हैं उन्हें क्षुधा, तृष्णा, भय, शोक मोहादि कुछ भी सांसारिक बाधा स्पर्श नही कर सकती है। भगवद्गुणकथाकी महिमाके विषयमें क्या कहा जाय, उसके विना सकल कथा ही वृथा है, यथा श्रीमद्भागवतमें—

मृषा गिरस्ता ह्यसतीरसत्कथा
न कथ्यते यद्भगवानधोक्षजः।
तदेव सत्यं तदुहैव मङ्गलम्
तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम्॥
तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं

तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम् ।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां
यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते ॥

वह बात मिथ्या और असत्पुरुषोंकी बात है जिसके द्वारा श्रीभगवान्का गुणकीर्त्तन न हो, क्योंकि वही सत्य, वही मङ्गलमय, पुण्यमय, रमणीय, रुचिकर व सदा ही नवीन रसप्रद है। अविराम चित्तको परमात्मानन्दसिन्धुमें निमग्न रखनेके लिये और निखिल शोकसिन्धुको परिशुष्क करनेके लिये उत्तम श्लोक अखिलगुणनिधान श्रीभगवान्का यश ही एकमात्र कीर्त्तनीय है। उनकी लोकचमत्कार कारिणी अलौकिक शक्तिके विषयमें कौन वर्णन कर सकता है। अणु परमाणुसे लेकर अनन्तकोटि ब्रह्माण्डस्थित समस्त पदार्थ उन्हींकी शक्तिसे शक्तिमान् होकर जगज्जनोंके नयनाभिराम होरहे हैं। रवि, शशि उन्हींकी शक्तिसे प्रफुल्लित होकर समस्त संसारको उद्भासित कररहे हैं। उन्हींकी करुणा कणा जाह्नवी यमुना रूपसे समस्त संसारको पवित्र कर रही है। वेदादि समस्त शास्त्र जलदगम्भीर निनादसे उन्हींकी कीर्त्तिको गारहे हैं:—

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥
ब्रह्मादयो यत्कृतसेतुपाला यत्कारणं विश्वमिदं च माया ।
आज्ञाकरी यस्य पिशाचचर्य्या अहो विभूम्नश्चरितं विडम्बनम् ॥
विभर्षि रूपाण्यवबोध आत्मा क्षेमाय लोकस्य चराचरस्य ।
सत्त्वोपपन्नानि सुखावहानि सतामभद्राणि मुहुः खलानाम् ॥
त्वय्यम्बुजाक्षाखिलसत्त्वधाम्नि समाधिनावेशितचेतसैके ।
त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन कुर्वन्ति गोवत्सपदं भवाब्धिम् ॥
भयानां भयं भीषणं भीषणानां गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम् ।
महोच्चैः पदानां नियन्तृ त्वमेकं परेषां परं रक्षकं रक्षकाणाम् ॥
त्वमेकं शरण्यं त्वमेकं वरेण्यं त्वमेकं जगत्कारणं विश्वरूपम् ।
त्वमेकं जगत्कर्त्तृ पातृ प्रहर्त्तृ त्वमेकं परं निश्चलं निर्विकल्पम् ॥

हे भगवन्! तुम आदिदेव, आदिअन्तविहीन, संसारके परमाश्रय, निखिलवेत्ता, निखिलवेद्य, व परमधाम हो, हे अनन्तरूप! अनन्तविश्व तुम्हारी

ही सत्तासे परिव्याप्त हैं। ब्रह्मादि देवगण उन्हींकी आज्ञानुसार स्वस्व अधिकारका पालन करते हैं। समस्त विश्वजगत् उन्हींसे उत्पन्न हुआ है। आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त समस्त जीव उन्हींकी आज्ञासे चलते हैं. उनका चरित्र अनिर्वचनीय है, हे भगवन्! परमात्मस्वरूप आप युगयुगमें चराचर संसारका कल्याण व धर्मरक्षाके लिये निराकार होनेपर भी साकाररूप धारण करके अवतारभेदरूपसे प्रकट होते हैं। आपकी सत्त्वगुणमयी मूर्त्ति साधुओंके लिये सुखकर, परन्तु असाधुओंके लिये अकल्याणकर होती है। हे कमललोचन जगदीश! समस्त सत्त्वगुणके आधाररूप आपमें समाधि योगसे विलीनचित्त होकर आपके चरणकमलरूपी तरणीका आश्रय करके विवेकिगण उत्तालतरङ्गसमाकुल संसारसिन्धुको गोष्पदकी तरह अनायास पार कर जाते हैं। आप भयके भी भय और भीषणके भी भीषण हो, समस्त प्राणियोंकी गति और पावनके भी पावन हो, आप ब्रह्मादिके भी नियन्ता, श्रेष्ठके भी श्रेष्ठ और रक्षकोंके रक्षक हो। आपही सबके शरणीय, वरणीय, जगत्कारण, विश्वरूप, जगत्के कर्त्ता, धर्ता व हर्त्ता, परमपुरुष, अनन्तशान्तिमय व विकल्परहित हो। आपकी महिमा मन, वाणी व लेखनीकी शक्तिसे अतीत है। इस प्रकारसे गुणकीर्त्तनासक्तियुक्त भक्त श्रीभगवान्की मधुर लीलाओंका कीर्त्तन निशिदिन करते हैं। उनकी दृष्टिके सामने संसारकी समस्त वस्तुओंसे अनन्त निर्झरिणीरूपसे श्रीभगवान्की अनन्त महिमा प्रवाहित होने लगती है। और उसी पवित्र विगलित निर्झरिणीमें अवगाहन स्नान करके भक्तहृदय अनन्तानन्द व शान्तिको उपलब्ध करता है। उनका अन्तःकरण भगवान्की अनन्तगुणराशियोंके आश्रयसे धीरे धीरे भगवान्के उदारविराट्भावमें लवलीन हो जाता है जिससे गुणकीर्त्तनपरायण एतादृश भक्तको पराभक्तिका स्वरूप उपलब्ध हो जाता है। यही गुणकीर्त्तनासक्तिका महान् भाव व उदार परिणाम है। महर्षि वेदव्यास, महर्षि वाल्मीकि आदि गुणकीर्त्तनासक्त भक्तोंकी जीवनी पुराणशास्त्रमें इस भावका ज्वलन्त दृष्टान्त है। अनुरागके षष्ठभावका नाम आत्मनिवेदनासक्ति है। इस भावके उदय होनेसे भक्त भगवान्में अपना सर्वस्व समर्पण करके उन्हींके परमभावमें दिवानिशि निमग्न रहते हैं। उस समय भक्तके शरीर, मन, प्राण, समस्त इन्द्रियाँ तथा आत्माके द्वारा जो कुछ चेष्टा होती है, सभी श्रीभगवान्के प्रीतिसम्पादनार्थही होती है। श्रीभगवत्प्रीतिसम्पादनसे अतिरिक्त समस्त कार्यकलाप आत्मनिवेदनासक्त भक्तको वृथाही मालूम पड़ता है।

यथा श्रीमद्भागवतमें—

सा वाग् यया तस्य गुणान् गृणीते
करौ च तत्कर्मकरौ मनश्च ।
स्मरेद् वसन्तं स्थिरजङ्गमेषु
शृणोति तत्पुण्यकथाः स कर्णः ॥
शिरस्तु तस्योभयलिङ्गमानमेत्
तदेव यत्पश्यति तद्धि चक्षुः ।
अङ्गानि विष्णोरथ तज्जनानां
पादोदकं यानि भजन्ति नित्यम् ॥

वाक्य यथार्थमें वही हैं जिनसे श्रीभगवान्का गुणगान किया जाय, हाथ यथार्थमें वही हैं जिनसे भगवत्कार्यका अनुष्ठान हो, मन यथार्थमें वही है जिसके द्वारा स्थावर जङ्गम समस्त ससारमें विराजमान श्रीभगवान् परमात्माका स्मरण हो, कर्ण यथार्थमें वही हैं जिनसे श्रीभगवान्की पुण्यकथाओंको सुना जाय, मस्तक यथार्थमें वही है जो स्थावर जङ्गम समस्त वस्तुओंको उन्हींका लिङ्ग मानकर प्रणामावनत हो, चक्षु यथार्थमें वही हैं जिनसे मुकुन्दका मधुररूप निरीक्षण किया जाय, समस्त शारीरिक अङ्ग प्रत्यङ्ग वास्तवमें तभी सार्थकताको प्राप्त हो सकते हैं जब वे श्रीभगवान्के तथा भगवद्भक्त सज्जनोंके पादोदकसे पवित्र हो जावें । इस प्रकारसे आत्मनिवेदनभावपरायण भक्त समस्त शरीर, समस्त इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार तथा आत्माके द्वारा श्रीभगवान्में एकान्तनिष्ठ होकर उन्हींके चरणकमलमें सर्वस्व समर्पण करते हैं। महर्षि शाण्डिल्यके मतमें इस प्रकार आत्मरतिही भगवद्भक्तिका श्रेष्ठ लक्षण है। यथा नारदसूत्रमें—

आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः ।

अविच्छिन्न भावसे आत्मामें रतिही भगवद्भक्तिका परम लक्षण है । इस प्रकार श्रीभगवान्में परमारति व आत्मसमर्पणभावके उदय होनेसे भक्त श्रीभगवान्की कृपासे अनायास भवसिन्धुमें पार हो जाते हैं। यथा गीतामें—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥

तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

जो मेरे भक्त समस्त कर्म मुझमेंही समर्पण करके मत्परायण होकर अनन्यभावसे ध्यानयोगके द्वारा मेरी उपासना करते हैं, भगवद्भावनिमग्नहृदय उन भक्तोंको मैं शीघ्र ही संसार सिन्धुके पार कर देता हूँ। मदेकचित्त, मद्भक्त, मेरेमें यजनशील व प्रणामपर भक्त अवश्य मुझे प्राप्त करते हैं। आत्मनिवेदनासक्तिके द्वारा ऊपर लिखित सभी भावोंके उदय होनेसे भक्त शीघ्रही आत्मरूप व आत्मरति होकर पराभक्तकी पदवीको प्राप्त कर लेते हैं। सर्वस्व समर्पण होनेसे जीवभाव सुलभ अहङ्कार उनका आमूल उन्मूलित हो जाता है और भक्तहृदय अनन्त भगवान्के अनन्तामृतमय प्रेममें निमग्न होकर पराभक्तिके परमानन्दमय पदमें सम्यक् प्रतिष्ठित हो जाता है। यही आत्मनिवेदनासक्तिका मधुर लक्षण व अलौकिक परिणाम है। राजाओंमें बलि, महर्षियोंमें नारद आत्मनिवेदनासक्तिके अपूर्व दृष्टान्त हैं।

अनुरागके अन्तिमभावका नाम तन्मयासक्ति है। दास्य, सख्य आदि भावोंके परिपाकमें जिस समय भक्त भगवान्के चरणकमलोंका ध्यान करते करते उन्हींमें अपने अपने अन्तःकरणको लय करके श्रीभगवान्के साथ अभिन्न भावसे उन्हींमें तन्मय होकर प्रेम करते हैं तभी वह अनुराग तन्मयासक्ति कहलाती है। यह आसक्ति अनुरागका चरमभाव और रागात्मिका व पराभक्तिका सन्धिरूप है। इस भावके उदय होनेसे भावपयोधिनिमग्न व आत्मसत्ताकी पृथक्ताको विस्मृत होकर कभी भक्त अपनेहीको प्रणाम करते हैं और कभी अपनी स्थितिका अनुभव करके श्रीभगवान्को प्रणाम करते हैं। यथा योगवासिष्ठमें—

नमस्तुभ्यं परेशाय नमो मह्यं शिवाय च।
प्रत्यक् चैतन्यरूपाय मह्यमेव नमो नमः॥
मह्यं तुभ्यमनन्ताय मह्यन्तुभ्यं शिवात्मने।
नमो देवादिदेवाय पराय परमात्मने॥

हे परमपुरुष परमात्मन्! तुम्हें नमस्कार और प्रत्यक् चैतन्यरूप मुझको भी नमस्कार। अनन्तशिवरूप देवादिदेव मुझको और तुमको नमस्कार। इस प्रकारसे तन्मय होकर भक्त अपनेको और परमात्माको नमस्कार करते रहते हैं और भावनिमग्न हो आत्मरूप हो जाते हैं। यथा श्रीमद्भागवतमें—

भक्तिं हरौ भगवति प्रवहन्नजस्र-
मानन्दबाष्पकलया मुहुरर्द्यमानः।
विक्लिद्यमानहृदयः पुलकाचिताङ्गो
नात्मानमस्मरदसाविति मुक्तलिङ्गः॥

श्रीभगवान्के प्रति भक्तिप्रवाहको प्रवाहित करके अजस्रानन्दपरिप्लुत-हृदय व पुलकिताङ्ग होकर भक्त अपनी पृथक् सत्ताको भूल जाते हैं और यही मुक्तिप्रद तन्मयभावका लक्षण है। इस भावका लक्षण मुकुन्दप्रिया गोपियोंके चरित्रमें कभी कभी देखनेमें आता है। जैसा कि पूर्व समुल्लासमें रासलीला प्रसङ्गमें—

इत्युन्मत्तवचो गोप्यः।

इत्यादि प्रमाणोंके द्वारा बताया गया है। श्रीभगवान्ने भी निज मुखसे कहा है—

ता मा विदन् मय्यनुषङ्गबद्ध
धियः स्वमात्मानमदस्तथेदम्।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये
नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे॥

मेरे प्रेममें समासक्तचित्त होकर गोपियाँ अपनेको, परिजनोंको और इह लोक परलोकको भी भूल जाया करती थीं। जिस प्रकार मुनिगण समाधिमें निमग्न होकर अपनी पृथक्सत्ता विस्मृत हो जाते हैं और नदियाँ भी समुद्रमें विलीन होकर नामरूपसे च्युत हो जाया करती हैं। यह सब भाव तन्मया सक्तिका ही दृष्टान्तरूप है। जैसे कान्तासक्तिकी अधिकारिणी व्रजगोपिकाओंमें कभी कभी इस प्रकारकी तन्मयासक्तिका भाव प्रकट हुआ था, इसी प्रकार अन्यान्य आसक्तियोंके अधिकारी भक्तोंमें भी समय समय पर यह सर्वोच्च भाव प्रकाशित होकर वह भक्तको पराभक्तिके अधिकारकी ओर अग्रसर करता है। यह अधिकार

इतना उच्च है कि इसके दृष्टान्तके लिये हरिमें हर और हरमें हरिकी तन्मयासक्तिके उदाहरणके अतिरिक्त और कोई उदाहरण नहीं दिया जा सकता। हरि हरमें और हर हरिमें अभिन्न रूपसे एक प्राणताके साथ जो निशिदिन रत रहते हैं यह उन दोनोंमें तन्मयभावका ही लक्षण है। यथा देवी भागवतमें—

शृणु कान्ते प्रवक्ष्यामि यं ध्यायामि सुरोत्तमम्।
आशुतोषं महेशानं गिरिजावल्लभं हृदि॥
कदाचिद्देवदेवो मां ध्यायत्यमितविक्रमः।
ध्यायाम्यहं च देवेशं शङ्करं त्रिपुरान्तकम्॥
शिवस्याहं प्रियः प्राणः शङ्करस्तु तथा मम।
उभयोरन्तरं नास्ति मिथः संसक्तचेतसोः॥

हरि कह रहे हैं "मैं निशि दिन अपने हृदयमें आशुतोष गिरिजावल्लभ देवादिदेव हर का ध्यान करता हूँ। कभी कभी देवदेव महादेव भी मेरा ध्यान करते रहते हैं और कभी मैं भी त्रिपुरान्तक शूलपाणिका ध्यान करता रहता हूँ। मैं शिवका प्राण हूँ और शङ्कर भी मेरे प्राण हैं, तन्मयभावमें अन्योन्यासक्त हम दोनोंमें कोई भी भेद नहीं है। यही तन्मयासक्ति का अपूर्व व अलौकिक दृष्टान्त है। हरमें हरि और हरिमें हरकी जो स्वाभाविकी तन्मयासक्ति हो सकती है इसका वैज्ञानिक रहस्य यह है। ब्रह्मके सच्चिदानन्द भावोंमेंसे आनन्द-भाव व्यापक है। अन्तःकरणमें आनन्दका अनुभव और पुष्पादि जड़ पदार्थोंमें आनन्दका अनुभव ये दोनों ही आनन्दसत्ताके व्यापक होनेका प्रमाण हैं। वह परमानन्दसत्ता चित्‌में सत् की सहायतासे और सत्‌में चित्‌की सहायतासे अनुभवमें आती है। आनन्दसत्ता व्यापक होनेसे ब्रह्माजीकी उपासना शास्त्रमें निषिद्ध है। चित् सत्ता प्राधान्यसे हरिरूप और सत्‌सत्ता प्राधान्यसे हर रूप होनेके कारण हरमें हरि और हरिमें हरकी तन्मयासक्ति होकर ब्रह्मानन्दका अनुभव स्वभावसिद्ध है। इसी कारण हरमें हरि और हरिमें हरकी तन्मयासक्तिके सिवाय इस भावका सर्वोच्च दृष्टान्त और कुछ भी नहीं हो सकता है।

गुरुदेवके उपदेश द्वारा विधिनिषेध मानते हुए साधनराज्यमें वैधीभक्तिकी सहायतासे अग्रसर होते होते साधक भक्त जितना भक्तिराज्यमें अग्रसर होता जाता है उतनी ही विधिनिषेधमें उसकी शिथिलता होती जाती है। संसारमें भी

देखा जाता है कि मित्रके साथ मित्रकी या प्रेमीके साथ प्रेमिकाकी जितनी प्रीति अधिक गाढ़ी होती जाती है उतना विधिनिषेधका पर्दा भी उठता जाता है। इसी प्रकार वैधीभक्तिका साधक विधिनिषेधवाली वैधीभक्तिकी साधना करते करते अपने प्रियमत इष्टदेवके साथ जितनी प्रीतिको बढ़ाता जाता है उतना ही उसमेंसे विधिनिषेधका भाव नष्ट होता जाता है। उसके अनन्तर साधकके सम्मुख अनुरागका द्वार खुल जाता है। जिस प्रकार प्रियतमकी प्रियतमामें और प्रियतमाकी प्रियतममें सच्ची प्रीति होनेसे परस्परके सब भाव और परस्परके सब अङ्ग सुन्दर व आनन्दपर अनुभव होनेपर भी परस्परको किसी किसी अङ्ग व भावका सैन्दर्य्य व आनन्द अधिकतर अनुभव होता है, ठीक उसी प्रकार वैधीभक्तिका साधन जब अनुरागके सच्चे द्वारमें प्रवेश करता है तब उस समय दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, वात्सल्यासक्ति, कान्तासक्ति, गुणकीर्तनासक्ति आत्मनिवेदनासक्ति व तन्मयासक्ति इनमेंसे किसी भावकी माधुरी साधकको अधिकरूपसे मोहित करती है। मनुष्यके अन्तःकरणके प्रकृति वैचित्र्यके कारण ही कोई भक्त किसी भावमें व कोई भक्त किसी भावमें अधिक आनन्द अनुभव करता है। उस समय वैधीभक्तिसे रागात्मिकाभक्तिमें पहुँचा हुआ साधक जिस भावमें अधिक आनन्द अनुभव करता है उसी भावको उन्नत करता हुआ वह उन्नतभक्त उसी आसक्तिकी पराकाष्ठाको प्राप्त करता हुआ अपने अन्तःकरणको रससागरमें निमग्न करता है। वैधीभक्तिसे रागात्मिका भक्तिके उदयका यही रहस्य है। विष्णूपासक, सूर्योपासक, देवीउपासक, गणपति-उपासक और शिवोपासक सम्प्रदायोंके त्रिलोक पवित्रकारी भक्तगण ऐसी ही रागात्मिका भक्तिको जगत्में अनादिकालसे प्रकट करते आये हैं। और अन्तमें वे ही विष्णुलोक, सूर्यलोक, देवीलोक आदि लोकोंमें पहुंचकर सालोक्य, सारूप्य आदि चतुर्विध मुक्ति प्राप्त करते आये हैं।

सनातन धर्मके सर्वाङ्ग सम्पूर्ण विज्ञानके अनुसार भक्ति विज्ञानकी भी पूर्णताका पूज्यपाद महर्षियोंने वर्णन किया है। वह पूर्णता अन्य उपधर्मोंमें नहीं पायी जाती है। यद्यपि सर्वलोकहितकारिणी भक्ति सब धर्म व उपधर्मोंके लिये समान रूपसे हितकारी है, यद्यपि वैधीभक्तिका वर्णन सब उपधर्मोंमें किसी न किसी प्रकारसे पाया जाता है और किसी किसी उपधर्ममें रागात्मिका भक्तिके भी आंशिक लक्षण मिलते हैं, परन्तु दार्शमिक विज्ञानके अभाव और मधुरतामय सगुण उपासनाके अभावसे उन उपधर्मोंमें रागात्मिका भक्तिके सब

रसोंका विकाश नहीं हो सकता है। और दार्शनिक विज्ञानके अभावसे पराभक्ति की पूर्णता तो उक्त उपधर्मोंमें होना असम्भव ही है। इस विषयका विस्तारित वर्णन अगले अध्यायोंमें किया जायगा।

इस प्रकार श्रीभगवान्में प्रेमासक्तिकी पूर्णता होनेसे भक्तान्तःकरणमेंसे धीरे धीरे ध्याताध्यानध्येयरूपी त्रिपुटिका नाश होजाता है और तदनन्तर भक्त भगवद्रूप होकर सर्वत्र विराजमान अपरिच्छिन्न आनन्दमय सच्चिदानन्द सत्ताकी उपलब्धि करनेमें समर्थ हो जाता है। यही अवस्था पराभक्तिकी है। यथा दैवीमीमांसादर्शनमें:—

"स्वरूपद्योतकत्वात्पूर्णानन्ददा परा"

आनन्दमय परमात्माके अखण्ड स्वरूपकी प्रकाशक होनेके कारण पराभक्ति पूर्ण आनन्दप्रदा है:—

"रसस्वरूप एवायं भवति भावनिमज्जनात्"

भाव समुद्रमें निमग्न होकर भक्त रसरूप अर्थात् आनन्दमय भगवान्के साथ तद्रूपताको प्राप्त होजाते हैं। प्रेमासक्तिके विपाकमें इस भावका उदय कैसे होजाता है एतत्प्रसङ्गमें उक्त दर्शनमें कहा है:—

"परालाभो ब्रह्मसद्भाविकातन्मयासक्त्युन्मज्जननिमज्जनात्"

ब्रह्मसद्भावप्रद तन्मय भाव समुद्रमें उन्मज्जन निमज्जन द्वारा पराभक्ति का उदय होता है। श्रीभगवान्के चरणकमलोंका ध्यान एकान्तरति होकर करते करते क्रमशः साधकचित्तमेंसे तन्मयता द्वारा ध्याताध्यानध्येयरूपी त्रिपुटिका नाश होजाता है। रागात्मिका भक्तिकी दशामें साधक रागात्मिका भक्तिके पृथक् पृथक् भावोंको पृथक् पृथक् अनुभव करते हैं। यद्यपि रागात्मिका दशामें भक्त भाव-समुद्रमें उन्मज्जन निमज्जन करने लगते हैं परन्तु जिस भावके वे विशेष पक्षपाती होजाते हैं उसकी विशेषता उनके अन्तःकरणमें बनी रहती है। परन्तु पराभक्ति की सर्वोत्तम दशामें भगवत्स्वरूपकी उपलब्धिके होजानेसे रसोंकी पृथक्ताका पक्षपात भक्तके हृदयसे तिरोहित होजाता है। तब वह भक्त सकल रसोंमें समान आनन्द अनुभव करने लगते हैं और किसी समय व किसी अवस्थामें भी उनके अन्तःकरणसे परमात्माके स्वरूपका अभाव नहीं होता है। अब किस प्रकारसे ऐसी अद्वितीय सच्चिदानन्दभावबोधिनी पराभक्तिका उदय होता है इसका वर्णन किया जाता है।

यथा श्रीमद्भागवतमें—

सञ्चिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दं-
वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम् ।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल-
ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम् ॥
यच्छौचनिःसृतसरित्प्रवरोदकेन
तीर्थेन मूर्द्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत् ।
ध्यातुर्मनः शमलशैलनिसृष्टवज्रं
ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम् ॥
एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो
भक्त्या द्रवद्धृदय उत्पुलकः प्रमोदात् ।
औत्कण्ठ्यबाष्पकलया मुहुरर्द्यमान-
स्तच्चापि चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते ॥
मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं
निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथार्चिः ।
आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेक-
मन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः ॥
सोऽप्येतया चरमया मनसो निवृत्त्या
तस्मिन् महिम्न्यवसितः सुखदुःखबाह्ये ।
हेतुत्वमप्यसति कर्त्तरि दुःखयोर्यत्
स्वात्मन् विधत्त उपलब्धपरात्मकाष्ठः ॥

श्रीभगवान्‌के भक्तका कर्त्तव्य है कि एकान्तरति होकर उनके चरणकमलों का ध्यान करे जो चरण ध्वज अङ्कुश व कमलके चिन्होंसे परिशोभित हैं और जिनमें विराजमान रक्तवर्ण तथा सुषमापूर्ण नभ मण्डल की ज्योतिसे भक्तजनों का हृदयान्धकार पूर्णरूप से दूर हो जाता है। केवल इतना ही नहीं, अधिकन्त उन चरणों की ऐसी लोकोत्तर महिमा है कि उनके धोनेसे निकली हुई

तीर्थरूपा गङ्गाको सिरपर धारण करके शिव सर्वश्रेष्ठ व मङ्गलमय होगये हैं; और श्रीभगवान् के ये चरणकमल उनके ध्यानपरायण जनोंके अन्तःकरणस्थित पापरूप पर्वतके तोड़नेके लिये वज्ररूप है। इस प्रकार भगवच्चरणकमलों का ध्यान करते करते भक्त की क्या दशा होती है ? इसके उत्तरमें परवर्त्ती श्लोकमें कहा है कि ध्याताध्यानध्येयभावसे मुकुन्दचरणारविन्दमें निरत होकर ध्यान करते करते भक्तहृदयमें भावसिन्धु उद्वेलित होने लगता है, वे गलदश्रुलोचन व रोमांचकलेवर होकर अत्यन्त तीव्रताके साथ मनोमधुकरको चरणारविन्दके मकरन्दपानमें निमग्न कर दिया करते हैं। इस प्रकार तीव्रध्यानके परिपाकसे क्या होता है सो परवर्त्ती श्लोकमें कहा है। यथा–तीव्रध्यानके परिपाकमें मन की पृथक् सत्ता नष्ट होकर निर्वाणप्राप्त प्रदीप की तरह साधकका अन्तःकरण निर्विषय हो एकदम परमात्मामें लय हो जाता है और इस दशामें भक्त त्रिगुणमयी मायासे निर्मुक्त होकर सर्वत्र विराजमान, अद्वितीय, अखण्ड, सच्चिदानन्द सत्ता की उपलब्धि करने लगते हैं। इस प्रकारसे सुखदुःखातीत द्वन्द्वातीत व गुणातीत भक्त माया रहित परब्रह्मस्वरूपमें परमास्थितिको प्राप्त हो जाते हैं। उनके आत्माका देह, मन आदि के साथ कुछ भी अभिमान या अध्यास अवशेष नहीं रह जाता है। वे ब्रह्मरूप ही बन जाते हैं। यही रागात्मिका भक्तिके अन्तमें पराभक्तिपदवीप्रतिष्ठित सिद्ध भक्तके आनन्दमय सच्चिदानन्द स्वरूपमें अवस्थिति और भक्ति साधनका चरम फल है। इस दशामें भक्त निर्विकल्प समाधिमें स्थित होकर अलौकिक सुखदुःखरहित परमानन्द का उपभोग करते हैं। यथा उपनिषद्में—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥

समाधिके द्वारा निर्मल अन्तःकरण आत्मामें विलीन होकर जो परमानन्द का उपभोग करता है उसका वर्णन वाक्यके द्वारा नहीं हो सकता है, केवल स्वान्तःकरणमें ही उसकी एकान्त अनुभूति होती है। और भी गीतोपनिषद्में—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिंस्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

पराभक्ति दशामे स्वरूपस्थित होकर भक्त जिस आनन्दकी उपलब्धि करते हैं वह आत्यन्तिक अर्थात् दुःखलेशविहीन नित्यानन्द है जो इन्द्रियोंसे अतीत और सूक्ष्मबुद्धिके द्वारा ही अनुभवनीय है। इस आनन्द पर प्रतिष्ठित होनेसे महात्मा पुरुष कभी किसी समय अपनी तात्त्विक स्थितिसे विचलित नहीं होते, प्रारब्धजनित गुरुतर कष्ट आने पर भी उनके अन्तःकरण पर उसका कोई भी प्रभाव नहीं होता, और उस परम वस्तुको प्राप्तकरके अन्य किसी वस्तुको उससे अधिक स्पृहणीय नही समझते। उस समय उनकी दृष्टि कैसी होती है? इसके उत्तरमें श्रीभगवान्ने कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

सर्वत्र अद्वितीयदर्शी एतादृश योगयुक्तात्मा पूर्णभक्त परमात्माको सकल भूतोंमें और सकलभूतोंको परमात्मामें देखते हैं और आनन्दमय परमात्माको सर्वत्र देखकर सकल अवस्थामें ही समाधिसुलभ परमानन्द प्राप्त करते हैं। उनके लिये लौकिक जगत्के समस्त पदार्थ ही परमात्मामें अवस्थित होनेके कारण दिव्य भावयुक्त व परमानन्दप्रद हो जाते हैं। श्रीभगवान् शङ्कराचार्यजीने इसी अवस्थामें अपूर्व दर्शनका वर्णन किया है—

सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनं सर्वेऽपि कल्पद्रुमाः।
गाङ्गं वारि समस्तवारिनिवहः पुण्याः समस्ताः क्रियाः॥
वाचः प्राकृतसंस्कृताः श्रुतिगिरो वाराणसी मेदिनी।
सर्वावस्थितिरस्य वस्तुविषया दृष्टे परे ब्रह्मणि॥

भगवद्भक्तिकी परावस्थामें सर्वव्यापक परमात्माके दर्शन हो जानेसे भक्तकी दृष्टिमें समस्त जगत् ही नन्दनवनकी तरह आनन्दरूप भासमान होने लगता है, इनके लिये समस्त वृक्ष ही कल्पवृक्ष, समस्त जल ही गङ्गा-जल, समस्तकार्य ही पुण्यकार्य, प्राकृत संस्कृत समस्त वाक्य ही श्रुतिवाक्य, समस्त विश्व ही वाराणसी और समस्त स्थिति ही ब्रह्ममयी स्थिति हो जाती है। पराभक्तिकी यह दशा, ज्ञानीकी परज्ञान दशा, वैराग्यवान्की परवैराग्य

दशा व योगीकी निर्विकल्प समाधि दशाके तुल्य ही है। क्योंकि सभी अवस्था अन्तमें एक ही भावमें आकर पर्यवसानको प्राप्त होती है। इस विषयमें देवीभागवतमें लिखा है—

परानुरक्त्या मामेव चिन्तयेद् यो ह्यतन्द्रितः।
स्वाभेदेनैव मां नित्यं जानाति न विभेदतः॥
अहङ्कारादिरहितो देहतादात्म्यवर्जितः।
इति भक्तिस्तु या प्रोक्ता पराभक्तिस्तु सा स्मृता।
यस्यां देव्यतिरिक्तन्तु न किञ्चिदपि भाव्यते॥
इत्थं जाता परा-भक्तिर्यस्य भूधर तत्त्वतः।
तदैव तस्य चिन्मात्रे सद्रूपे विलयो भवेत्॥
भक्तेस्तु या परा काष्ठा सैव ज्ञानं प्रकीर्त्तितम्।
वैराग्यस्य च सीमा सा ज्ञाने तदुभयं यतः॥

परानुरक्तिके साथ अभिन्नभावसे भगवच्चिन्तापरायण होकर साधन करनेसे पराभक्तिका उदय होता है जिसमें अहङ्कार नाश, देह तादात्म्यभाव विलय तथा सर्वत्र विराजमान अद्वितीय ब्रह्मसत्ताका अनुभव होने लगता है। इस प्रकार पराभक्तिको प्राप्त करके साधक चिन्मय भगवान्‌में लय हो जाते हैं। यही ज्ञान की चरम सीमा और यही वैराग्यकी भी चरम सीमा है।

इस प्रकारसे सच्चिदानन्दभावमें ज्ञानी भक्त जीवन्मुक्ति दशामें आत्मरति होकर प्रारब्धक्षय पर्यन्त संसारमें अवस्थान करते हैं। और तत्पश्चात् प्रारब्धावसानमें विदेहमुक्ति लाभ करते है। उस समय उनकी प्रकृति विराट् प्रकृतिमें और उनकी आत्मा व्यापक परमात्मामें मिलकर एक हो जाती है। यथा उपनिषद्‌में—

यथा नद्यः स्पन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

जिस प्रकार समुद्रवाहिनी तरङ्गिणी नामरूपसे च्युत होकर समुद्रमें मिल जाती है उसकी पृथक् सत्ता नही रहती है उसी प्रकार ज्ञानी भक्त प्रकृतिजनित नाम व रूपको त्याग कर विदेहमुक्ति दशामें परात्पर परब्रह्ममें अपनी पृथक् सत्ताको भूलकर विलीन हो जाते है। उनके लिये ससारमें जन्ममरणचक्र चिर-

कालके वास्ते वन्द हो जाता है। अनन्त दुःखमय संसारमें पुनः उनको आना नहीं पड़ता है। यही सकल साधनाका लक्ष्य और भक्ति मार्गका चरम परिणाम है।

उपासना काण्डके निम्न अधिकारसे लेकर उच्चतम अधिकार तक भक्ति किस प्रकारसे परमावश्यकीय है, किस प्रकारसे भक्तिके विना उपासनाका कोई अङ्ग भी पूर्णरीत्या साधित नही हो सकता है और विना प्राणके जिस प्रकार शरीर नही रह सकता है उसी प्रकार विना भक्तिके उपासना वन ही नहीं सकती ये सब भली भाँति ऊपर दिखा चुके हैं। अब उपासनाके शरीररूप योगका वर्णन किया जाता है। शरीरके विना जिस प्रकार शरीरी आत्माका भोग असम्भव है उसी प्रकार योगकी शैलीके विना उपासनाका कोई साधन वन ही नहीं सकता है। इसी कारण योगको उपासनाका शरीर कहा है। आवरण विक्षेप आदि भावोंसे अन्तःकरण युक्त रहनेसे परमात्माका स्वरूप प्रकट नहीं हो सकता है। इस कारण सर्वव्यापी परमात्मा जीवके अन्तःकरणमें विराजमान रहने पर भी उससे दूर हो जाते हैं। अथवा यह कहिये कि अन्तःकरणरूप जलाशय सदसद्वृत्तियोंसे तरङ्गायित व आलोडित रहनेके कारण परमात्मारूपी सूर्यका यथार्थ स्वरूप उस जलाशयमें दिखाई नहीं पड़ता। जब साधककी सुकौशल क्रिया द्वारा उस जलाशयरूपी अन्तः करणकी वृत्तिरूपी ऊर्म्मि एकवार ही शान्त हो जाती है तभी सूर्य प्रतिविम्ब अथवा अपना मुँह, दर्शक उसमें देख सकता है। अतः योगशास्त्रमें कहा है—

"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"

"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्"

चित्तवृत्ति निरोधके सुकौशलपूर्ण क्रियाओंको योग कहते हैं। योगक्रिया द्वारा क्रमशः अन्तःकरण की वृत्तियाँ शान्त होती होती जब एकवारही शान्त हो जाती हैं उस अवस्था का नाम योगयुक्त अवस्था है। उसी अवस्थामें द्रष्टा अर्थात् परमात्मा अपने यथार्थ स्वरूपमें प्रकट हो जाते हैं। हम यह दिखा चुके हैं कि चित्तवृत्तियोंके चाञ्चल्यके कारण सर्वव्यापक तथा जीव-हृदयविहारी परमात्मा जीवके हृदयसे छिप जाते हैं, यही उनका जीवसे दूर हट जाना है। जिन जिन साधनोंसे इस प्रकारसे दूर हटे हुए परमात्मासे अनाथ हुआ जीव उनके निकट होकर सनाथ हो जाता है उसी को उपासना कहते हैं। अर्थात्

उप-समीप, आस्यते-प्राप्त होता है अनया-इस साधनके द्वारा, इति उपासना। अतः जिन जिन क्रियाओं के अवलम्बनसे परमात्माके निकट होनेमें जीव समर्थ होता है उन्हींको उपासना कहते हैं और जब चित्तवृत्तिनिरोध होते होते चित्तवृत्तिनिरोधकी पूर्णावस्थामें परमात्मा अन्तःकरणमें प्रकट होकर जीवके निकटस्थ हो जाते है तो यह मानना ही पड़ेगा कि उपासना यज्ञमें सर्वथा सर्वरूपसे सहायक योग उपासनाका शरीर रूप है।

योगका विषय विस्तारितरूपसे इस वृहत् ग्रन्थके अनेक अध्यायोंमें आवेगा। इस कारण यहाँ केवल दिग्दर्शनार्थ कुछ कुछ विषय कहे जाते हैं। चित्तवृत्तनिरोधकरनेवाली सुकौशलपूर्ण जितनी क्रियाएँ हैं उन्हींको पूज्यपाद महर्षियोंने अनेक गवेषणा करके निश्चय कर दिया है कि चित्तवृत्तिनिरोधकरनेवाली क्रियाशैली को चारभागमें विभक्त कर सकते हैं और चित्तवृत्तिओंको निरोध करनेके मार्गको आठ सोपान अथवा आठ मार्ग-विभागमें विभक्त कर सकते हैं। यह संसार नामरूपात्मक है अर्थात् परिदृश्यमान संसारका कोई भी अङ्ग नामरूपसे बचा हुआ नहीं है। इसी कारण नाम रूपमें फंस कर ही जीव बद्ध होता है। चित्तकी वृत्तियांभी नामरूपके ही अवलम्बनसे अन्तः करण को चञ्चल किया करती है। अतः जहां मनुष्य गिरता है उसी भूमि को पकड़के उठना चाहिये। अस्तु नामरूपके अवलम्बनसे चित्तवृत्ति निरोधकी जितनी क्रियाएं हैं उनको मन्त्रयोगके अन्तर्गत करके महर्षियोंने वर्णन किया है। हठ योग का ढङ्ग कुछ और ही है। स्थूलशरीर सूक्ष्मशरीरका ही परिणाम है। इस कारण स्थूलशरीरका प्रभाव सूक्ष्म शरीर पर बराबर समानरूपसे पड़ता है। अतः स्थूलशरीरके अवलम्बनसे सूक्ष्मशरीर पर प्रभाव डालकर चित्तवृत्ति निरोध करने की जितनी शैलियाँ हैं उनको हठयोग कहते हैं। लययोगका ढंग कुछ और ही विचित्र है। जीवशरीररूपी पिण्ड और समष्टिसृष्टिरूपी ब्रह्माण्ड ये दोनों समष्टिव्यष्टि सम्बन्धसे एकही हैं। अतः दोनोंको एक समझकर दोनोंमें व्यापक जो पुरुषभाव व प्रकृतिशक्ति है उसी अपने शरीरस्थ प्रकृतिशक्ति को अपने शरीरस्थ पुरुषभावमें लय करनेकी जो शैली है और उसके अनुयायी जितने साधन हैं उनको लययोग कहते हैं। राजयोगका अधिकार सबसे बढ़ कर है। मनकी क्रिया मनुष्यको फँसाती है और बुद्धिकी क्रिया मनुष्यको मुक्त करनेमें सहायक होती है; यही कारण है कि अज्ञानसे जीव बन्धनको प्राप्त होता है और ज्ञानसे मुक्त होता है। अतः बुद्धिक्रियारूपी विचार द्वारा

चित्तवृत्ति निरोधकी जो शैली है उसको राजयोग कहते हैं। इस वृहत् ग्रन्थमें मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोगके अलग अलग अध्याय दिये जायँगे। इस कारण इन क्रियाशैलियोंका विस्तारित वर्णन यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है।

योगमार्गके आठ सोपानरूप आठ अंगोंमेंसे चार वहिरङ्ग और चार अन्तरंग कहाते है। यम, नियम, आसन और प्राणायाम ये चार वहिरङ्ग हैं। और प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि ये चार अन्तरङ्ग हैं। वहिर् और अन्तरङ्ग को मिलानेवाला प्रत्याहार अङ्ग है। जीव वहिरिन्द्रिय और अन्तरिन्द्रियमें फँस कर बद्ध रहता है इस कारण वहिरिन्द्रिय और अन्तरिन्द्रियसे वीतराग करानेके जो अभ्यास हैं उनको यथाक्रम यम व नियम कहते हैं। इन दोनोंकी क्रियाशैली विभिन्न आचार्योंके मतानुसार विभिन्न प्रकारकी है। इस प्रकारसे यम व नियमके साधनोंसे उपासनाकाण्डका साधक योगसाधनाका अधिकारी बनता है। और तृतीय सोपानमें वह अपने शरीरको योग उपयोगी करता है। मीमांसाका यह सिद्धान्त है कि चाञ्चल्यसे वन्धन और धैर्य्यसे मुक्ति होती है। अतः शरीरको धैर्य्ययुक्त करनेकी जो शैली है उसको आसन कहते है। शरीरको धैर्य्ययुक्त करनेके अनन्तर प्राणको धैर्य्ययुक्त करनेकी जो शैली है उसे प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम चतुर्थ अंग है। प्राणायाम अंगके साधनके अनन्तर साधकको योगके अन्तरङ्ग साधनका अधिकार प्राप्त होता है क्योंकि मन व वायु दोनों कारण व कार्यरूपसे एक ही हैं। प्रत्याहारसाधनके द्वारा साधक अपनी वहिर्दृष्टिको वहिर्जगत्‌से हटाकर अन्तर्जगत्में लेजाता है। कूर्म जिस प्रकार अपने अङ्गोंको समेट लेता है उसी प्रकार प्रत्याहाररूपी पञ्चम अङ्गके साधनसे उन्नत साधक वहिर्विषयसे अपनी विषयवती प्रवृत्तिको अन्तर्राज्यमें खींचकर वहिर्जगत्‌से अन्तर्जगत्में पहुंच जाता है। यही योगका पञ्चम अङ्ग है। अन्तर्जगत्में पहुंच कर सूक्ष्म आन्तर्राज्यके किसी विभागको अलम्वन करके आन्तर्राज्यमें ठहरे रहनेकोही धारणा कहते हैं। इस प्रकारसे षष्ठ अङ्गरूपी धारणा साधन द्वारा योगी जब अन्तर्राज्यको जय कर लेता है तब वहिर् व अन्तर्राज्यके द्रष्टा परमात्माके सगुण अथवा निर्गुण रूपके ध्यान करनेकी शक्ति योगीको प्राप्त होती है। उस समय ध्याता, ध्यान व ध्येयरूपी त्रिपुटीके सिवाय और कुछ नहीं रहता है। यही योगका सप्तम अङ्ग है। तत्पश्चात् ध्याताध्यानध्येयरूपी त्रिपुटीका जब विलय होजाता है और ध्याता ध्यानमें

मिलकर दोनों ध्येयमें लय हो जाते हैं उसी द्वैतभावरहित वृत्तिनिरोधकी अन्तिम अवस्थाको समाधि कहते हैं । यही योगका अष्टम अङ्ग है। मन्त्र-योग, हठयोग, लययोग और राजयोग इन चारों क्रियासिद्धांशोंकी जो क्रियाशैली पूज्यपाद महर्षियोंने कही हैं वे सब इन्हीं आठ अगोंकी सहायतासे निर्णीत हुई है । भेद इतनाही है कि किसीमें किसी अंगका विस्तार है और किसीमें किसी अंगका सङ्कोच है। इस प्रकारसे साधक एकके बाद दूसरा सोपान, दूसरेके बाद तीसरा सोपान इस प्रकारसे सातों सोपान अतिक्रम करता हुआ अष्टम सोपानरूपी सविकल्प समाधिमें पहुँच जाता है । और तदनन्तर निर्विकल्प समाधिमें पहुँच कर स्वरूप-उपलब्धि करनेमें समर्थ होजाता है। निर्विकल्प समाधिप्राप्त योगी शारीरिक सब कर्म करता हुआ भी कुछ भी नहीं करता। तब वह चाहे स्वरूप स्थित रहे, चाहे व्युत्थान दशाको प्राप्त होकर, कर्ममें प्रवृत्त हो सब दशामें निर्विकल्प भावमें स्थित रहनेके कारण अद्वैत भावमें स्थित रहता है। इसी दशाको जीवन्मुक्त दशा कहते हैं। इसीको अद्वैतस्थिति, इसीको परज्ञानकी दशा और इसीको परा-भक्तिकी दशा भी कहते हैं। विभिन्न विभिन्न विचारके अनुसार ये सब पर्याय-वाचक शब्द हैं।' उपासनाकी प्राणरूपिणी भक्ति और उपासना के शरीररूपी योगका यही अन्तिम लक्ष्य है।

चतुर्थ समुल्लासका प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।



मन्त्रयोग।

चित्तवृत्तिका निरोध करके आत्मसाक्षात्कार तथा श्रीभगवान्का सान्निध्यलाभ करनेके लिये जितनी साधन प्रणालियाँ हो सकती हैं उन सबोंको चार भागोंमें विभक्त किया है। यथा योगतत्त्वोपनिषद्में:—

योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारतः।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगकः॥

योगके क्रियासिद्धांश चार भागमें विभक्त होते हैं। यथाः—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग व राजयोग। इन चारोंमेंसे अधिकार-विचारानुसार मन्त्रयोग प्रथम है। इस ग्रन्थके उपासना यज्ञ नामक अध्यायमें पहले ही बताया गया है कि अतिसूक्ष्म इन्द्रियातीत ऋतम्भरा-प्रज्ञाबोध्य परम तत्त्वके प्राप्त करनेके लिये प्रकृतिपरायण मानवीय चित्त एकाएक अधिकार युक्त नहीं हो सकता है। इसलिये मन्त्रयोग, हठयोग व लययोग साधनद्वारा धीरे धीरे स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर चित्तवृत्तिको नियोजित करके अन्तमें राजयोग साधनद्वारा अद्वितीय निराकार देशकालापरिच्छिन्न परब्रह्मसत्तामें जीवात्माको विलीन किया जाता है। यही अधिकार-भेदानुसार चारों योगोंका साधन क्रम है जो नीचे क्रमशः बताया जाता है।

महर्षि नारद, पुलस्त्य, गर्ग, वाल्मीकि, भृगु, बृहस्पति आदि मुनिगण मन्त्रयोगके आचार्य हुए हैं। उनका सिद्धान्त यह है:—समस्त दृश्यजगत् भावका ही विकाशमात्र है। प्रलयावस्थाके अनन्तर प्रकृतिके गर्भमें स्थित जीवोंका संस्कार जब सृष्टिके अनुकूल होता है उसी समय परमात्माके अन्तःकरणमें

"एकोऽहं बहु स्याम् प्रजायेय"

मैं एक हूं, बहुत हो जाऊँ, प्रजाओंकी सृष्टि करूं इस प्रकारका भाव स्वतः ही उत्पन्न होता है और इसी भावका परिणाम नाम रूपात्मक यह दृश्य संसार है। दृश्य संसारके नामरूपात्मक होनेका कारण यह है कि प्रत्येक भाव हीं नाम व रूपके द्वारा संसार में प्रकट होता है। जिस किसीके चित्तमें जो भाव हो, वह उसीके अनुसार शब्द द्वारा तथा रूपकल्पना द्वारा उसी दृश्यभावको

प्रकट करता है। प्रेमका भाव प्रेममूलक शब्द व प्रेममयी मूर्त्तिके द्वारा संसारमें प्रकट होता है। वीरताका भाव वीरताव्यंजक शब्द व वीररूपके द्वारा प्रकट होता है इत्यादि इत्यादि व्यष्टिभावके विचार द्वारा यह सिद्धान्त निश्चय होता है कि जिस प्रकार व्यष्टि जगत्में प्रत्येक भावका प्रकाश नाम व रूपके द्वारा देखा जाता है उसी प्रकार समष्टि सृष्टिमें भी परमात्माके चित्तका सिसृक्षा-भाव नामरूपात्मक जगत्रूपसे प्रकट होता है। जगत्परिणामिनी व सिसृक्षा-मूलिका उनकी यह इच्छाशक्ति ही माया है अर्थात् संसार-सृष्टि करनेवाली उनकी इच्छाशक्तिका नाम ही माया है। यही माया नामरूपमयी होकर समस्त दृश्य संसारको प्रकट करनी है। इसी लिये श्रुति कहती है:—

"नामरूपे व्याकरवाणि" "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरा नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते" "आकाशो ह वै नामरूपयो र्निर्वहिता"

परमात्मामें नामरूपमयी मायाकी उपाधि होनेसे ही दृश्यजगत्का विकाश होता है। अतः सिद्धान्त हुआ कि परमात्मासे भाव, भावसे नामरूप और उसका विकार व विलासमय यह संसार है। इसलिये जिस क्रमके अनु-सार सृष्टि हुई है उसके विपरीत मार्गसे ही लय होगा, यह निश्चय है। अर्थात् परमात्मासे भाव, भावसे नामरूप द्वारा जब सृष्टि हुई है जिससे समस्त जीव संसार-बन्धनमें आ गये हैं तो यदि मुक्ति लाभ करना हो तो प्रथम नामरूपका आश्रय लेकर, नामरूपसें भावमें और भावसे भावग्राही परमात्मामें चित्तवृत्तिका लय होने पर तब मुक्ति होगी। इसलिये नारदादि महर्षियोंने नाम व रूपके अवलम्बनसे साधनकी विधियाँ बताई हैं जिसका नाम मन्त्रयोग है। यथा मन्त्रयोगसंहिता योगशास्त्रमें:—

नामरूपात्मिका सृष्टिर्यस्मात्तदवलम्बनात्।
बन्धनान्मुच्यमानोऽयं मुक्तिमाप्नोति साधकः॥
तामेव भूमिमालम्ब्य स्खलनं यत्र जायते।
उत्तिष्ठति जनः सर्वोऽध्यक्षेणैतत्समीक्ष्यते॥
नामरूपात्मकैर्भावैर्बध्यन्ते निखिला जनाः।
अविद्याग्रासिताश्चैव तादृक् प्रकृतिवैभवात्॥
आत्मनः सूक्ष्मप्रकृतिं प्रवृत्तिं चाऽनुसृत्य वै।

नामरूपात्मनोः शब्दभावयोरवलम्बनात् ।
यो योगः साध्यते सोऽयं मन्त्रयोगः प्रकीर्तितः ॥

सृष्टि नामरूपात्मक होनेके कारण नामरूपके अवलम्बनसे ही साधक सृष्टिके बन्धनसे अतीत होकर मुक्तिपद प्राप्त कर सकता है। जिस भूमिपर मनुष्य गिरता है उसी भूमिके अवलम्बनसे पुनः उठ सकता है। नामरूपात्मक विषय जीवको बन्धनयुक्त करते हैं, नामरूपात्मक प्रकृति-वैभव जीवको अविद्यासे ग्रास किये रहते हैं, अतः अपनी अपनी सूक्ष्म प्रकृति व प्रवृत्तिकी गतिके अनुसार नाममय शब्द व भावमय रूपके अवलम्बनसे जो योगसाधन किया जाय उसको मन्त्रयोग कहते हैं।

मनुष्य भावोंका दास है। भावशून्य होकर मनुष्यका अन्तःकरण एक मुहूर्त भी स्थिर नहीं रह सकता है। वैदिक दर्शनोंका यह सिद्धान्त है कि भावशुद्धिके द्वारा असत्कार्य भी सत् होजाता है और भावमालिन्यके हेतु सत्कार्य भी असत् होजाता है। उदाहरणरूपसे कहा जा सकता है कि मनुष्यहत्या एक असत् कार्य है, परन्तु यदि वह धर्मयुद्धके लिये या राजा अथवा साधुजनोंकी रक्षाके लिये हो तो वह धर्मकार्य कहलावेगा। अर्थात् मनुष्यहत्या रूप कार्य असत् होने पर भी भावशुद्धिके कारण सत् हो जाता है। इसी प्रकार आश्रयदान एक पुण्यकार्य है। परन्तु कोई मनुष्य यदि किसी पापीका पाप जानता हुआ भी उसे आश्रय व प्रश्रय दे तो उससे उसका वह आश्रय तथा अभयदानरूप सत्कार्य भी असत्भावके कारण पापोंमें गिना जावेगा। इस प्रकार सनातनधर्ममें भावशुद्धिका प्राधान्य यथेष्ट वर्णित है। भावतत्त्वके समझनेके लिये इस प्रकार समझना चाहिये कि भोग्य विषयको देखकर इन्द्रियका सम्बन्ध अनुमान किया जाता है। इन्द्रियकी क्रियाको देखकर अन्तःकरणकी वृत्तिका अनुमान हो सकता है और तब अन्तःकरणकी वृत्तिके मूलमें जो भाव रहता है सो अनुभूत होता है। स्त्रीरूप विषयको प्रथम दर्शनेन्द्रियने देखा, फिर उससे अन्तःकरणमें नाना वृत्तियोंका उदय हुआ परन्तु उस द्रष्टाका भाव यदि मलिन रहा तो वह उस स्त्रीरूप विषयको इन्द्रियभोग्य मान लेगा और यदि उसके अन्तःकरणमें भावकी शुद्धता रही तो वह उस स्त्रीरूप विषयको मातृरूपमें अथवा जगज्जननीकी प्रतिकृतिरूपमें देखनेमें समर्थ होगा। इसी प्रकार सनातनधर्ममें भावका यथार्थ स्वरूप गृहीत होकर भावशुद्धिके बहुतसे उपाय निश्चित हुए हैं।

अविद्याग्रस्त मनुष्योंके चित्तमें वैषयिक भावका प्राधान्य होनेके कारण वे सदा ही अपने अपने भावोंके अनुकूल संसारके लौकिक रूप व नाममें फँसे रहते हैं, अतः उनके चित्तसे लौकिक भावोंको दूर करके दिव्य भावोंका उदय करनेके लिये लौकिक नाम व रूपके वदले दिव्य नाम व दिव्य रूपोंकी साधनविधि मन्त्रयोगमें वताई गई है। मन्त्रयोगमें स्थूल मूर्त्तिकी पूजा हुआ करती है। शास्त्र-में स्थूलमूर्त्तिमयी प्रतिमा आठ प्रकारकी कही गई है। यथा-श्रीमद्भागवतमेंः—

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती।

मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता॥

श्रीभगवान्‌की प्रतिमा आठ प्रकारकी हुआ करती है। यथाः—पाषा-णमयी प्रतिमा, काष्ठनिर्मित प्रतिमा, लोहनिर्मित प्रतिमा, लेपन द्वारा वनाई हुई प्रतिमा, तुलिकासे चित्रित प्रतिमा, वालुका द्वारा निर्मित प्रतिमा, अन्तः-करणमें ही कल्पित प्रतिमा और विविध प्रकारकी मणियोंके द्वारा निर्मित प्रतिमा। केवल पुराणमें ही नही वेदमें भी श्रीभगवान्‌की इस प्रकार पाषा-णादिमयी मूर्ति वनानेकी आज्ञा है। यथा-अथर्ववेदमेंः—

"एह्यश्मानमातिष्ठाश्मा भवतु ते तनुः"

हे भगवन्! आप इस पाषाणमयी मूर्तिमें विराजमान हो जाँय, आप-का शरीर यही पाषाण हो। ऋग्वेदमें भी—

"कासीत्प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत्परिधिः"

यथार्थ ज्ञान कौन है, प्रतिमा कौन है, समस्त जगत्‌का कारण कौन है, घृतके समान संसारमें सार वस्तु कौन है और समस्त प्रकृतिकी परिधिमें विद्यमान कौन है-इत्यादि रूपसे प्रतिमामें भगवद्भावकी स्थितिका वर्णन पाया जाता है। अतः सिद्ध हुआ कि मन्त्र योगमें विहित मूर्तिपूजा सर्वथा वेदादि-शास्त्रानुमोदित है।

'जीविकार्थे चापण्ये'

इस सूत्रके भाष्य द्वारा महाभाष्यकारने भी प्राचीन कालमें मूर्तिपूजा प्रचलित थी ऐसा प्रमाण कर दिया है। क्योंकि इस सूत्रका यही तात्पर्य है कि जो मूर्ति जीविका निर्वाहके लिये है विक्रयार्थ नहीं है उसमें कन् प्रत्ययका लोप होता है। अतः व्याकरणके प्रमाणसे मूर्तिपूजाका प्रचलन सिद्ध हुआ। आज दिन भी भारतवर्षमें देवमूर्ति वनाकर जीविका निर्वाह करनेवाले वहुत हैं।

उनके विषयमें ही यह सूत्र है। अब आकारविहीन, ज्ञानस्वरूप, अद्वितीय परमात्माकी इस प्रकार नश्वर स्थूलमूर्तिमें उपासना कैसे सम्भव हो सकती है सो बताया जाता है। अनेक पाश्चात्य व एतद्देशीय अर्वाचीन पुरुषोंने हिन्दु-जातिकी मूर्तिपूजाके तत्त्वको न समझ कर उसकी पाषाणपूजक, जड़ोपासक, पौत्तलिक आदि कह कर निन्दा की है। किसी किसीने तो वेदसे भी मन्त्रोंको उठाकर उनका मिथ्या तथा अप्रासंगिक अर्थ करके अपनी अज्ञानताका परिचय प्रदान किया है। उदाहरण रूपसे समझ सकते हैं कि:—

'न तस्य प्रतिमास्ति यस्य नाम महद् यशः"

यह जो वेद का प्रमाण अर्वाचीन पुरुष उठाते हैं वहाँ पर प्रसङ्ग मिलाने से निश्चय होता है कि वहाँ "प्रतिमा" शब्दका अर्थ पाषाणादिमयी प्रतिमा नहीं है परन्तु 'उपमा' है अर्थात् पूरे मन्त्रका अर्थ यह है कि जिस परमात्माका नाम व यश महत् है उसके साथ किसीकी तुलना नहीं हो सकती है। इसी प्रकार केनोपनिषद्के कई एक मन्त्रोंका भी अर्थ अर्वाचीन पुरुषोंने अप्रासङ्गिक रूपसे किया है। यथाः—

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यन्ति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदं उपासते ॥

जो आँखसे नहीं देखा जाता है और जिसके रहनेसे आँखमें दृष्टिशक्ति आती है उसे ब्रह्म जानो, जिस मूर्ति आदिमें उपासना की जाती है वह ब्रह्म नहीं है इत्यादि। इन मन्त्रोंका अर्थ तो अर्वाचीन पुरुषोंने किया है परन्तु कटाक्ष करनेमें प्रसङ्गका विचार ठीक नहीं किया है। इन मन्त्रोंमें जो उपास्य वस्तु ब्रह्म नहीं है ऐसा कह कर उपासनाकी निन्दा की गई है सो निर्गुण ब्रह्मोपासनाके विषयमें है, सगुण ब्रह्मोपासनाके विषयमें नहीं है। क्योंकि निर्गुण ब्रह्म मन, वाणी, चक्षु, कर्ण आदि इन्द्रियोंसे अतीत होनेके कारण मूर्त्ति आदिके द्वारा उनकी उपासना नहीं हो सकती है। सगुण ब्रह्म ईश्वर ही भावगम्य होनेके कारण भावद्योतक नाम व रूपकी सहायतासे उनकी उपासना होती है। इसलिये निर्गुण ब्रह्मोपासना विषयक मन्त्रोंका अर्थ सगुणोपासनाके सम्बन्धसे करके मूर्तिपूजा आदिकी निन्दा करना केवल वेद व शास्त्रका अपलाप करना मात्र है। और सबसे अधिक विचारकी बात यह है कि हिन्दुधर्ममें नश्वर पाषाणमयी मूर्तिकी पूजा होती ही नहीं, तब इसके

मराडनमें प्रयत्न करनेका प्रयोजन क्या है ? ऊपर जो आठ तरहकी प्रतिमाका वर्णन वेदादि शास्त्र-प्रमाणसे किया गया है हिन्दुजाति उन सब पाषाणादिमयी प्रतिमाओंकी पूजा नही करती है, परन्तु पाषाणादिमयी प्रतिमाओंमें पूजा करती है अर्थात् निराकार परमात्माकी सृष्टिस्थितिप्रलयकारिणी अनंत लीलाओंके अनन्त भावोंमेंसे कुछ भावोंको लेकर उन्हीके अनुसार तथा उन्हीं भावोंके प्रकाशक रूप पाषाण, काष्ठ, धातु तथा मणि आदि उपकरणोंसे बनाकर उन भावोंकी और परमात्माकी सर्वव्यापिनी शक्तिको प्रतिमारूपी आधारके द्वारा प्रकटित करके उस शक्तिकी पूजा करती है। अब निराकार भगवान्की इन सब पाषाणादि प्रतिमाओंके अवलम्बनसे किस प्रकारसे भावद्वारा स्थूलपूजा हो सकती है और इस प्रकारकी साकार भावमयी मूर्त्तिओंकी पूजाका प्रयोजन भी क्या है सो नीचे बताया जाता है।

आर्यशास्त्रके सिद्धान्तानुसार परमात्माके तीन भाव माने गये हैं यथाः— ब्रह्म, ईश व विराट्। इन सब भावोंके यथार्थ लक्षण इस ग्रन्थके उपासनायज्ञ नामक प्रवन्धमें पृथक् पृथक् वर्णित किये गये हैं। उन सब लक्षणोंके द्वारा यह सिद्ध होता है कि परमात्माका निर्गुण ब्रह्म भाव प्रकृतिसे परे है। यथा श्रुतिः—

'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाक् गच्छति
न मनो न विद्मो न विजानीमः'

निर्गुण ब्रह्म चक्षु, वाक् आदि इन्द्रियाँ, तथा मन व बुद्धिसे भी परे हैं। जो वस्तु जिससे अतीत है वह उसके द्वारा प्राप्त नही हो सकती है। जब निर्गुण ब्रह्म प्रकृतिसे तथा मन बुद्धिसे भी अतीत हैं तो प्रकृतिकी किसी वस्तुके अवलम्बनके द्वारा भी निर्गुण ब्रह्मकी उपासना नहीं हो सकती है। अतः मन, बुद्धि तथा इन्द्रिय आदिके द्वारा निराकार निर्गुण बह्मकी उपासना करना वृथा चेष्टामात्र है। परन्तु क्या इससे यह सिद्धान्त निकालना पड़ेगा कि निराकार निर्गुण ब्रह्मकी उपासना व उपलब्धि होती ही नहीं ? सो नहीं। निर्गुण निराकार ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये उपासना भिन्न प्रकारकी है। यथा कठोपनिषदमें:—

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥
एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

महत्तत्वके परे अव्याकृत प्रकृति है और अव्याकृत प्रकृतिके परे निर्गुण निराकार परम पुरुष परमात्मा है। उनसे परे और कोई भी नहीं है। ये ही परमात्मा सकल भूतोंमें गूढ़ हैं। सूक्ष्म अतीन्द्रियदृष्टि-सम्पन्न योगिगण उनको सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा अनुभव करते हैं। और भी मुण्डकोपनिषद्में—

"तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति।"

आनन्दरूप अमृतरूप परमात्माको धीर योगिराज प्रज्ञाके द्वारा देखते हैं। वह प्रज्ञा कैसी है ? इसके उत्तरमें भगवान् पतञ्जलि कहते हैं—

"ऋतम्भरेति तत्र प्रज्ञा" "ऋतं सत्यं बिभर्तीति ऋतंभरा"

जिस प्रज्ञाके द्वारा सत्य वस्तुका अनुभव हो वही ऋतम्भरा प्रज्ञा है। उस प्रज्ञाके उदय होनेसे क्या होता है ? भगवान् पतञ्जलि लिखते हैं—

" तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी "

उससे उत्पन्न संस्कार प्रकृतिसम्भूत अन्य सभी संस्कारोंको नष्ट करता है, केवल स्थूल सूक्ष्म सर्वदर्शी ज्ञान संस्कार ही रह जाता है। तदनन्तर निर्गुण ब्रह्मकी उपलब्धि कब होती है ?

" तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः "

प्रज्ञासे उत्पन्न संस्कारका भी निरोध होकर सर्व-निरोध होनेसे निर्बीज अर्थात् निर्विकल्प समाधि होती है। इसी निर्विकल्प समाधिमें निर्गुण निराकार परब्रह्मसत्ताकी उपलब्धि होती है। इस समय विकल्परहित होनेसे ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय या ध्याता ध्यान ध्येय रूपी त्रिपुटीका पूर्ण विलय हो जाता है। और साधक अपनी प्रकृतिकी समस्त सूक्ष्मदशाको अतिक्रमकरके प्रकृतिसे अतीत परब्रह्म-भावमें विराजमान हो जाता है। अतः सिद्ध हुआ कि जबतक साधककी चित्तवृत्ति तथा बुद्धि प्रकृतिकी सीमाके भीतर है तथा ध्याता ध्यान ध्येयरूपी त्रिपुटी विद्यमान है तबतक निर्गुण निराकार ब्रह्मका पता नहीं लग सकता है। दैवीमीमांसादर्शनमें कहा है—

" ब्रह्मणोऽधिदैवाधिभूतरूपं तटस्थवेद्यम् "

" स्वरूपेण तदध्यात्मरूपम् "

ब्रह्मका अधिदैव व अधिभूत रूप तटस्थलक्षणवेद्य है और उनका अध्यात्मरूप स्वरूपलक्षणवेद्य है। तटस्थलक्षण त्रिपुटीके अन्तर्गत है और स्वरूपलक्षण

त्रिपुटीसे अतीत है। परमात्माका ईश व विराट् भाव तटस्थलक्षणके द्वारा अनुभवगम्य है, परन्तु ब्रह्मभाव तटस्थ लक्षणसे अतीत है जैसा कि ऊपर बताया गया है। शास्त्रमें तटस्थभावके अन्तर्गत त्रिपुटिके अवलम्बनसे परमात्माकी जितने प्रकारकी उपासना बताई गई है वे सब ही उनके ईश या विराट् भावके लक्ष्यसे हैं ऐसा समझना चाहिये। अब नीचे सगुणब्रह्म ईश्वरकी उपासनाके लिये भावमयी मूर्त्तिकी क्या आवश्यकता है सो बताया जाता है। श्रीभगवान्ने गीताजीमें कहा है:—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्य्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

मुझमें चित्तको अर्पण करके श्रद्धाके साथ नित्ययुक्त होकर जो मेरी उपासना करता है वह श्रेष्ठ भक्त है। जो भक्त समस्त इन्द्रियोंको संयत करके, सर्वत्र समबुद्धि तथा सर्वभूतकल्याणनिरत होकर मेरे अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापी, चिन्तासे अतीत, कूटस्थ, अचल तथा ध्रुव भावमें अपने चित्तको अर्पण करता है वह भी मुझे ही प्राप्त करता है। केवल भेद इतना ही है कि देहाभिमानी साधकके लिये देहरहित अव्यक्त ब्रह्मकी प्राप्ति बहुत ही क्लेशसे होती है क्योंकि जहाँ देहका अभिमान है वहाँ निराकारकी भावना अत्यन्त कठिन होनेसे वह दुःखसे प्राप्त होती है। इन श्लोकोंपर विचार करनेसे निश्चय होगा कि प्रथम श्लोकमें परमात्माकी भावमयी साकार मूर्त्तिमें मनःसंयोगके लिये श्रीभगवान्ने आज्ञा की है और इस प्रकार साकार पूजा तभीतकके लिये बताई है जबतक साधकका देहाभिमान दूर न हो और पूर्ण वैराग्यप्राप्ति तथा इन्द्रिय-संयमशक्ति साधकमें न आवे। और परवर्त्ती श्लोकोंमें देहाभिमानी तथा पूर्णवैराग्यहीन साधकोंके लिये निर्गुण निराकारका साधन कठिन बता

कर उसी समय निराकारकी साधनाके लिये यथार्थ काल बताया गया है, जिस समय कि साधकका देहाभिमान पूर्ण नष्ट हो जाय और उसको परम-वैराग्यकी प्राप्ति हो। वास्तवमें बात भी ऐसी ही है । निराकार निराकार कह कर चीत्कार करना और संसारको भ्रमजालमें फँसाना सहज है परन्तु देहाभिमान रहते हुए निराकारमें मनःसंयोग करना बहुत ही कठिन अपितु असम्भव ही है। इसके दो कारण हैं—प्रथम मनका स्वाभाविक चाञ्चल्य और द्वितीयतः अनादि कालसे मनका अभ्यास। अपञ्चीकृत महाभूतके विकार-से जो अन्तःकरणकी उत्पत्ति होती है उसमें मन, बुद्धि चित्त व अहङ्कार ये चार वस्तु हैं। इनमेंसे बुद्धि निश्चयकारिणी है, परन्तु मनका धर्म निरन्तर सङ्कल्प विकल्प करना ही है । अतः सङ्कल्प-विकल्पधर्मी मनके लिये सर्वदा चञ्चल रहना स्वाभाविक है । मनको शान्त करनेके लिये प्रयत्न करना उसे अपने स्वाभाविक धर्मसे च्युत करना है। इसलिये मनके वास्ते यह संग्राम जीवन-मरण संग्राम होनेसे उसे शान्त करनेका पुरुषार्थ करने पर भी वह अधिक चञ्चल होने लगता है। प्रत्येक वृत्तिकी शक्ति तभी पूरी तरहसे प्रकाशित होती है जब उस वृत्तिके दमन करनेका अवसर आवे। क्योंकि बन्धन दशामें वृत्तिके अधीन रहने पर उसकी शक्ति एतादृश प्रकाशित नहीं होती है। दमन करते समय ही वृत्तिकी समग्र शक्ति व चित्तपर अधिकारका प्रभाव मालूम होने लगता है। यही कारण है कि अन्य समयमें मन चाहे साधारण रूपसे ही चञ्चल रहे, जिस समय मनको रोकनेके लिये प्रयत्न किया जाता है उसी समय मनकी सारी शक्ति प्रकट होने लगती है जिससे चाञ्चल्य बहुत ही बढ़ कर मनको क्या जाने कहाँ कहाँ भगाता रहता है। इसी विषयको श्रीभगवान् वेद-व्यासजीने महाभारतमें वर्णन किया है। यथाः—

जलबिन्दुर्यथा लोलः पर्णस्थः सर्वतश्चलः ।
एवमेवास्य चित्तं च भवति ध्यानवर्त्मनि ॥
समाहितं क्षणं किञ्चिद्ध्यानवर्त्मनि तिष्ठति ।
पुनर्वायुपथभ्रान्तं मनोभवति वायुवत् ॥

कमलके पत्रपर स्थित जल जैसा चञ्चल रहता है उसी प्रकार ध्यानके समय मन भी चञ्चल होता है। कभी थोड़ासा शान्त होकर मन ध्यानमें निविष्ट होता है परन्तु पुनः वायुकी तरह चञ्चल होकर ध्येय वस्तुसे दूर चला जाता है।

श्रीगीताजीमें अर्जुनके मुखसेः—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याऽहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

मन अति चञ्चल, उन्मत्त और वेगवान् है, इसका दमन करना वायुको शान्त करनेकी तरह सुकठिन है। इस बातको सुनकर श्रीभगवान्ने—

"असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्"

यह बात ठीक है कि मन चञ्चल व दुर्दमनीय है ऐसा कहकर निज मुखसेही मनकी चञ्चलताका विषय प्रकट किया है। अब विचार करनेकी बात यह है कि जब साकार ध्येय वस्तुका अवलम्बन मिलनेपर भी मनकी यह दशा है कि ध्येय वस्तुमें एकाग्र न होकर जिधर किधर भटकता रह जाय और कमलदलस्थित जलकी तरह चञ्चल होता रहे तो जहाँ किसी प्रकारकी ध्येय वस्तुका अवलम्बनही नहीं है उस प्रकार निराकार उपासनामें चञ्चल मन कैसे स्थिर हो सकता है? अतः मनके पूर्ण शान्त होनेके पहले तथा जितेन्द्रियता, संयम, पूर्णवैराग्य व देहाभिमान नाश होनेके पहिले निराकारमें मनःसंयमकी चेष्टा करना उन्मत्तकी चेष्टाकी तरह प्रमादपूर्ण व निष्फल है। अर्वाचीन पुरुषोंने कहीं कहीं ऐसा कह कर साकार पूजा पर कटाक्ष किया है कि साकार मूर्त्तिके भिन्न भिन्न अङ्गोंमें चित्त धावमान होनेसे स्थिर नहीं हो सकता। यह बात ठीक है और इसीलिये शास्त्रमें यदि सभी अङ्गोंपर एकाएक चित्त स्थिर करना कठिन होवे तो किसी एक प्रिय अङ्गपर ही मनःसयोग करनेकी आज्ञा दी गई है। इसलिये अर्वाचीन पुरुषोंका यह कटाक्ष व्यर्थ है और इस कटाक्षके साथ स्वपक्षपातपुष्टिके लिये उन्होंने जो लिखा है कि निराकारमें मन खूब दौड़ता है और अन्त न पानेसे स्थिर हो जाता है यह बड़ी ही हास्यजनक बात है। क्योंकि एक बालक भी इस बातपर विचार कर सकता है कि यदि दौडकर कोई अवलम्बन प्राप्त करना हो तब तो चित्तके शान्त होनेकी कुछ आशा भी है, परन्तु जहाँ निराकार होनेसे दुर्बल मनका कोई भी अवलम्बन नहीं है और अनादि अनन्त होनेसे दौड़नेकी भी सीमा नहीं है तो निराकारमें मन शांत न होकर दौड़ताही रह जायगा जिससे अविराम दौड़नेकी अशान्ति व चाञ्चल्य ही बना रहेगा। मन कभी शान्त नहीं हो सकेगा। अतः इस प्रकार युक्ति सर्वथा भ्रमपूर्ण है।

देहाभिमान रहते हुए निराकारमें मनोनिवेशकी असम्भावनाका दूसरा कारण अनादि कालसे मनका अभ्यास है । यह दृश्य संसार मनका ही विलासमात्र है।

" मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत् किञ्चित् सचराचरम् "

अद्वितीय ब्रह्ममें द्वैतमय चराचर दृश्य जगत्का विलास मनके ही कारण है । मन ही नामरूपमय संसारको बनाकर इन्द्रियाँ व वृत्तियोंकी सहायतासे नाम व रूपमें फँसा हुआ रहता है । अविद्योपाधियुक्त जीव मनका दास होकर संसारके भिन्न भिन्न नाम व रूपमें फँस जाता है और इसीसे नवीन नवीन संस्कारोंको प्राप्त करता हुआ जन्ममृत्युचक्रमें परिभ्रमण करता रहता है । इसलिये नाम व रूपके प्रति मनकी आसक्ति अनादि अभ्यासजनित होनेके कारण अनादि है । इस अनादि रूपतृष्णाको छोड़नेके लिये प्रवल वैराग्यके विना मनुष्य कदापि समर्थ नहीं हो सकता । इसीलिये महर्षि पतञ्जलिने चित्तवृत्ति निरोधके वास्ते—

" अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः "

और श्रीभगवान्ने गीताजीमें—

" अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते "

यही अभ्यास व वैराग्यरूपी उपाय मनःस्थिर करनेके लिये वताया है । परमात्मामें चित्तस्थितिके यत्नका नाम अभ्यास और विषयका दोषदर्शन करते हुए विषयत्यागकी चेष्टाका नाम वैराग्य है । परन्तु जवतक संसारके रूपसे प्रवल वैराग्य न हो तवतक यह निश्चय है कि रूपरहित परमात्माके भावमें चित्त स्थिर कभी नहीं होगा ; क्योंकि अनादि अभ्यासके कारण रूपमें आसक्त चित्त रूपकोही चाहेगा और ससारके रूपके अवलम्वनसे ही शान्त होनेमें अभ्यस्त होनेके कारण रूपके आश्रयसे ही शान्त हो सकेगा, अन्यथा नहीं हो सकेगा । परन्तु संसारके रूपमें क्षणभङ्गुर सुख होनेके कारण नित्यानन्दप्रयासी जीव उसमें चिरशान्तिको प्राप्त हो नहीं सकता ; अधिकन्तु वैषयिक रूपमें काम लोभ, मोहादि वृत्तियोंका दास होकर और भी अवनतिको प्राप्त हो जाता है । दूसरी ओर अनादि अभ्यासके कारण रूपका अवलम्वन होना भी जरूरी है, इसलिये परमकरुणामय महर्षियोंने मन्दमति मायावद्ध जीवोंकी वैषयिक तृष्णाको घटाकर भगवद्भावमें साधकको निमग्न करनेके लिये निराकार सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी अनन्तलीलाविलासमयी 'भावमयी मूर्त्तिका विधान

साधनकी प्रथम दशामें मन्त्रयोगके अधिकारियोंके वास्ते किया है। श्रीभगवान्‌की लीलामयी भावमयी मधुर मूर्त्तिमें चित्तको अर्पण करनेसे, उनके किसी अङ्गमें अथवा सर्वाङ्गमें ही प्रेमके द्वारा चित्तको आसक्त करनेसे, विषयासक्त चित्त धीरे धीरे संसारके रूपोंको छोड़ देगा और सांसारिक काममोहादि वृत्तियाँ नष्ट होकर भगवान्‌के रूपमें आसक्ति द्वारा केवल श्रद्धा भक्ति व सात्विक प्रेम ही वह प्राप्त करेगा। इस तरहसे आध्यात्मिक उन्नति करता हुआ, पूर्ण वैराग्य प्राप्ति होनेसे जब उसकी नामरूपासक्ति बिलकुल छूट जायगी, तब वह राजयोगोक्त रूपरहित, अद्वितीय, सर्वव्यापी परब्रह्म भावमें निमग्न होकर निःश्रेयसपद प्राप्त करेगा। यही श्रीभगवान्‌की साकार मूर्त्तिकी पूजाका प्रयोजन है। इसलिये मन्त्रयोगका सिद्धान्त है जैसा कि पहले बताया गया है—

तामेव भूमिमालम्ब्य स्खलनं यत्र जायते।

जिस प्रकार जिस भूमिपर मनुष्य गिरता है उसीको पकड़कर उठ सकता है, वायु या आकाशको पकड़कर नहीं उठ सकता, उसी प्रकार जब नाम व रूपको पकड़कर ही जीव बन्धन दशाको प्राप्त हो गया है तो नाम व रूपके द्वाराही वह उन्नतिको प्राप्त करेगा। यह नाम व रूप बन्धनदायी वैषयिक नाम व रूप नहीं, किन्तु यह नाम व रूप मुक्ति प्रदानकारी श्रीभगवान्‌का दिव्य नाम व दिव्य रूप है। इसीलिये शास्त्रमें अधिकारीनिर्णय प्रसङ्गमें कहा गया है:—

निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्त्तुमनीश्वराः।
ये मन्दास्तेऽनुकम्पन्ते सविशेषनिरूपणैः॥
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात्।
तदेवाविर्भवेत् साक्षादपेतोपाधिकल्पनम्॥

साधारण अधिकारी निर्गुण, निराकार परब्रह्मकी उपासना करनेमें अशक्त होते हैं, उनके लिये सगुण साकार मूर्त्तिपूजाका विधान किया जाता है। सगुण साकार पूजाके द्वारा चित्तके वशीभूत होनेपर उपाधिरहित निर्गुण परब्रह्मकी साधनाका अधिकार साधक प्राप्तकर सकते हैं। तथा च—

चिन्मयस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्याशरीरिणः।
साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूपकल्पनम्॥

चिन्मय, अप्रमेय, निर्गुण व निराकार ब्रह्मकी रूपकल्पना साधकके कल्याणके लिये ही की जाती है। मन्त्रयोगसंहितामें लिखा है:—

आकारो न हि विद्यते किमपि वा रूपं परब्रह्मणो
रूपं तत्परिकल्प्यते जनगणैः किञ्चिज्जगद्रूपिणः।
ध्यायद्भिर्निजवृत्तिमार्गचलितैर्देवं परं रूपिणम्
मन्त्रं वा सततं जपद्भिरिह तैर्मुक्तिः परा लभ्यते॥

परब्रह्म निराकार हैं, उनका कोई रूप नहीं है। रूपरहित और विराट्‌रूपी परमात्माके रूपकी कल्पना साधकगण भाव द्वारा किया करते हैं। अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार भगवद्रूपका ध्यान व वीजमन्त्रके जपसे योगी शीघ्रही मुक्ति पदको प्राप्त कर लेते हैं।

अब नीचे भावके अनुसार सगुणोपासनामें रूपकी प्रतिष्ठा प्रतिमा आदि द्वारा किस प्रकारसे होती है सो बताया जाता है। अर्वाचीन पुरुषोंने भावका यथार्थ तत्त्व न समझ कर अनेक मिथ्या काल्पनिक दोषारोप भावपर किये हैं। यथा:—"तुम मृत्तिकामें सुवर्ण रजतादि, पाषाणमें हीरा पन्ना आदि और धूलिमें मैदा शक्कर आदिकी भावना कर वैसा क्यों नहीं बनाते?" इत्यादि इत्यादि। अर्वाचीन पुरुषोंका इस प्रकारका प्रलाप भावतत्त्वके न समझनेका ही फल है। जिन भावोंके अनुसार पाषाणादिमें भगवन्मूर्त्तिकी प्रतिष्ठा होती है वे भाव मिथ्या मानसिक कल्पनामय नहीं हैं कि धूलिमें मैदा आदि की झूट मूट भावना कर ली जाय। वे सब भाव श्रीभगवान्‌की सृष्टिस्थितिप्रलयकारिणी अनन्त लीलाओंके भावोंमेंसे महर्षियोंकी समाधिशुद्ध बुद्धिके द्वारा अनुभूत सत्य व दिव्य भाव हैं और इन्हीं सत्य व दिव्य भावोंका परिप्रकाश जिन रूपोंके द्वारा हो सकता है, सगुणोपासनाकी प्रतिमाओंमें उन्हीं रूपोंकी प्रतिष्ठा की गई है। अब नीचे भावोंके अनुसार कुछ रूपोंका तात्पर्य वर्णन किया जाता है। वेदमें:—

"विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचम्" "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" "तामग्निवर्णां दुर्गां देवीं शरणमहं प्रपद्ये" "गणानां त्वा गणपतिं हवामहे" "त्र्यम्बकं यजामहे" "यो भूतानामधिपती रुद्रस्तंतिचर" आदि।

इन विविध मन्त्रोंके द्वारा सगुणोपासनामें आराध्य पञ्चमूर्त्तियोंका वर्णन किया गया है और साथ ही साथ—

"उपासनानि सगुणब्रह्मविषयमानसव्यापाराणि"

ऐसा कह कर उपासना राज्यमें प्रतिमापूजनकी महिमा व परमावश्यकता बताई गई है। इन्हीं पञ्चमूर्त्ति तथा अन्यान्य मूर्त्तियोंकी जो विचित्र प्रतिमाएँ बनवा कर पूजी जाती हैं उन सबोंके पृथक् पृथक् रूप वर्णनमें भावकी पृथक्ता ही कारण है सो निम्नलिखित प्रबन्धसे स्पष्ट हो जायगा। शास्त्रमें शेषशायी भगवान्की ध्यानयोग्य मूर्त्ति इस प्रकारसे वर्णित हैः—

ध्यायन्ति दुग्धाब्धिभुजङ्गभोगे
शयानमाद्यं कमलासहायम्
प्रफुल्लनेत्रोत्पलमञ्जनाभं
चतुर्मुखेनाश्रितनाभिपद्मम्।
आम्नायगं त्रिचरणं घननीलमुद्य-
च्छ्रीवत्सकौस्तुभगदाम्बुजशंखचक्रम्
हृत्पुण्डरीकनिलयं जगदेकमूल-
मालोकयन्ति कृतिनः पुरुषं पुराणम्॥

इस ध्यानमें शेषशायी भगवान्की निम्नलिखित मूर्त्ति बताई गई है। यथाः—भगवान् क्षीरसमुद्रमें भुजङ्ग अर्थात् अनन्त नागपर सोये हुए हैं, कमला अर्थात् लक्ष्मीरूपिणी प्रकृति उनकी पादसेवा कर रही है, उनके नाभिकमलसे चतुर्मुख ब्रह्माजीकी उत्पत्ति हुई है, उनका रङ्ग घननील है, उनके गलदेशमें कौस्तुभमणिविभूषित माला लम्बायमान है, उनके चार हाथ हैं, जिनमें शङ्ख, चक्र, गदा व पद्म सुशोभित हैं, वे जगत्के आदि कारण तथा भक्तजनहृत्सरोजविहारी हैं, इनके ध्यान तथा इनकी भावमयी मूर्त्तिमें तन्मयता प्राप्त करनेसे भक्तका भवभ्रम दूर होता है। अब निराकार भगवान्की प्रकृतिके साथ अनन्त लीलाओंमेंसे कौन कौन भावोंको लेकर शेषशायी भगवान्की यह मूर्त्ति बताई गई है सो विचार करने योग्य है। यह सब रूप वर्णन कविकल्पना या अलङ्कार नहीं है परन्तु दिव्य भावोंकी ही विकाशरूप दिव्यमूर्त्ति है। क्षीरका अनन्त समुद्र सृष्टि उत्पत्तिकारी अनन्त संस्कार समुद्र है जिसको कारणवारि करके भी

शास्त्रमें वर्णन किया है । कारणवारि जल नहीं है किन्तु संसारोत्पत्तिके कारण अनन्त संस्कार हैं । इसका पूर्ण वर्णन वेदके अध्यायमें पहले ही किया गया है, अतः पुनरुक्ति निष्प्रयोजनीय है । संस्कारोंको क्षीर इसलिये कहा गया है कि क्षीरकी तरह इनमें उत्पत्ति व स्थितिविधानकी शक्ति विद्यमान है । ये सब संस्कार प्रलयके गर्भमें विलीन जीवोंके समष्टि संस्कार हैं । भुजङ्ग अर्थात् अनन्त नाग, अनन्त आकाशका रूप है, जिसके ऊपर श्रीभगवान् सोये रहते हैं । श्रीभगवान् अनन्त आकाशमें संस्कारोंके भीतर निद्रित रहते हैं । उनके सोनेके लिये अनन्त आकाश इसलिये चाहिये कि वे स्वयं अनन्त रूप हैं सान्त अर्थात् देशकालवस्तुपरिच्छिन्न नहीं हैं । अनन्तदेवकी सहस्र फणा महाकाशकी सर्वव्यापकताका प्रतिपादन करती है, क्योंकि शास्त्रमें 'सहस्र' शब्द अनन्ततावाचक है । आकाश ही सबसे सूक्ष्म भूत है, आकाशकी व्यापकतासे ही ब्रह्मकी व्यापकता अनुभव होती है और आकाशसे परे ही परम पुरुषका भाव है इस कारण महाकाशरूपी अनन्त शय्यापर भगवान् सोये हुए हैं । संस्कारोंके बीचमें श्रीभगवान्‌के सोये रहनेका कारण यह है कि उनके रहे विना संस्कारके द्वारा पुनः सृष्टि नहीं हो सकती । क्योंकि संस्कार जड़ हैं और श्रीभगवान् चेतन हैं, चेतनकी शक्तिसे ही जड़में कार्यकारिणी व फलप्रदायिनी प्रेरणा उत्पन्न होती है । श्रीभगवान् प्रलयके बाद अपना चेतन बीज संस्कारोंमें अर्पण करते हैं और उसीसे पूर्वकल्पसञ्चित संस्कारानुसार सृष्टि होने लगती है । यथा मनुसंहितामें:—

अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ।

पहले जल अर्थात् संस्कारराशिको उद्बुद्ध करके उसमें बीज अर्थात् अपनी चेतनशक्तिका सन्निवेश किया । कमला अर्थात् प्रकृति उनकी पादसेवा कर रही है । इस भावमें प्रकृतिके साथ श्रीभगवान्‌का सम्बन्ध बताया गया है । श्वेताश्वतर उपनिषदमें लिखा है:—

"मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्"

प्रकृति ही माया और परमात्मा उस प्रकृतिके प्रेरक मायी हैं । मायोपहित चैतन्य परमात्मा मायाके द्वारा सृष्टि करते हैं, परन्तु मायाके अधीन नहीं हैं, जीव ही मायाके अधीन हैं । माया परमेश्वरकी दासी बनकर उनकी अधीन होकर उनकी प्रेरणाके अनुसार सृष्टि, स्थिति, प्रलय करती है । इसी दासी भाव अर्थात्

अधीनता भावके बतानेके अर्थ शेषशायी भगवान्‌की पादसेविकारूपसे मायाकी मूर्त्ति बताई गई है।

उनके नाभिकमलसे चतुर्मुख ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई। शेषशायी भगवान्‌में प्रलयकालमें सृष्टि स्थिति प्रलयकारिणी ब्रह्मविष्णुरुद्रशक्ति प्रच्छन्न रहती है और सृष्टिके समय उन्हींसे धीरे धीरे लीनशक्ति प्रकट होती है। उन्हीमेंसे सृष्टिकारिणी शक्ति ब्रह्मा है, जो कि श्रीभगवान्‌के नाभिकमलसे प्रकट हुई है।

"यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं"

"हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं"

इन वचनोंसे श्रुतिने भी ब्रह्माजीकी उत्पत्ति बताई है। ब्रह्माजीकी उत्पत्तिके विज्ञानके विषयमें वेद व पुराणके प्रबन्धोंमें पहले भी बहुत कुछ कहा जा चुका है। शरीरके अन्यान्य अङ्गोंमेंसे नाभिके साथ सृष्टिकार्यका सम्बन्ध अधिक है। इसलिये परमात्माकी नाभिसे ही सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माजीका उत्पन्न होना विज्ञान सिद्ध है। कमल अव्याकृतसे व्याकृतिके अभिमुखीन प्रकृतिका रूप है और उसीसे ब्रह्माकी उत्पत्ति होती है। यथा मुण्डकोपनिषद्‌में—

"अन्नात्प्राणः"

अन्न अर्थात् व्याकृतावस्थ प्रकृति, प्राण अर्थात् समष्टि प्राण हिरण्यगर्भ ब्रह्मा, इस प्रकारसे श्रीभगवान् शङ्कराचार्यजीने अर्थ किया है जैसा कि पहले ही वेदके अध्यायमें बताया गया है। महाभारतके शान्तिपर्वमें कमलके विषयमें लिखा है:—

ततस्तेजोमयं दिव्यं पद्मं सृष्टं स्वयम्भुवा।
तस्मात् पद्मात्समभवद्ब्रह्मा वेदमयोनिधिः॥
मानसस्येहया मूर्तिर्ब्रह्मत्वं समुपागता।
तस्यासनविधानार्थं पृथिवी पद्ममुच्यते॥
कर्णिका तस्य पद्मस्य मेरुर्गगनमुच्छ्रितः।
तस्य मध्ये स्थितो लोकान् सृजते जगतः प्रभुः॥

तदनन्तर श्रीभगवान्‌ने एक तेजोमय दिव्य कमलकी सृष्टि की जिसमें हाथमें वेदोंको लेकर ब्रह्माजी प्रकट हुए। श्रीभगवान्‌के सृष्टिकार्यजनित सङ्कल्पसे ही ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई और उनके आसनरूपसे पृथिवीकोही पद्म कहा

गया है। यहाँ पर पृथिवी शब्द व्याकृतावस्थ ब्रह्माण्डका बोधक है, जिसका—

"तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्"

इस प्रकारसे मनुजीने अपनी संहितामें वर्णन किया है। गगनविस्तारी मेरु पर्व्वत ही इस पद्मकी कर्णिका है और उसी पद्ममें विराजमान होकर ब्रह्माजी समस्त संसारकी सृष्टि करते हैं। यही श्रीभगवान्‌के नाभिकमलसे चतुर्मुख ब्रह्माजीकी उत्पत्तिका भाव है।

श्रीभगवान्‌के शरीरका रङ्ग घननील है। आकाशका रङ्ग नील है। निराकार ब्रह्मका शरीर निर्द्देश करते समय शास्त्रमें उनको आकाशशरीर कहा है, क्योंकि सर्वव्यापक अति सूक्ष्म आकाशके साथ ही उनके रूपकी कुछ तुलना हो सकती है। यथा श्रुतिमें—

"आकाशशरीरं ब्रह्म" "आकाशसलिङ्गात्" इत्यादि।

अतः आकाशशरीर ब्रह्मका रङ्ग नील होना विज्ञानसिद्ध है। उनके गलदेशमें कौस्तुभमणिविभूषित माला लम्बायमान है—श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है:—

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

श्रीभगवान्‌की सत्ताको छोड़कर कोई भी जीव पृथक् नहीं रह सकता, समस्त जीव सूत्रमें मणियोंकी तरह परमात्मामें ही ग्रथित हैं। समस्त जीव मणि हैं, परमात्मा सर्वजीवमें विराजमान् सूत्र हैं। गलेमें मालाकी तरह जीव परमात्मामें ही स्थित है। इसी भावको बतानेके लिये उनके गलेमें माला लम्बायमान है। सब मालाकी मणियोंके बीचमें उज्ज्वलतम कौस्तुभमणि नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव कूटस्थ चैतन्य है। ज्ञानरूप व मुक्तस्वरूप होनेहीसे कूटस्थरूपी कौस्तुभकी इतनी ज्योति है। मालाकी अन्यान्य मणियाँ जीवात्मा और कौस्तुभ कूटस्थ चैतन्य है। यही कौस्तुभ व मणिसंग्रथित मालाका भाव है। श्रीभगवान् चतुर्भुज हैं— गीतामें कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

अधिकारानुसार जो साधक जिस प्रकारसे श्रीभगवान्‌की भक्ति करते उनको श्रीभगवान् अधिकारानुसार धर्म, अर्थ, काम अथवा मोक्षफल प्रदान

करते हैं। इसी चतुर्वर्ग फलप्रदानके अर्थ ही श्रीभगवान्के चार हाथ हैं। यही चतुर्भुज मूर्तिका भाव है और धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष, इस चतुर्वर्गके परिचायक शंख, चक्र, गदा व पद्म हैं। इस प्रकारसे क्षुद्र मूर्त्तिके अन्दर उनके विश्वरूपकी कल्पना की गई है। अतः इन सब वर्णनोंके द्वारा सिद्धान्त हुआ कि किस प्रकारसे सृष्टिस्थितिप्रलयलीलामय अनन्त भावोंके अनुसार निराकार भगवान्की रूपकल्पना होती है और उन्हीं रूपोंके अनुसार प्रतिमा बना कर भक्त निज निज अधिकारानुसार श्रीभगवान्की पूजा करके मुक्तिभूमिमें अग्रसर हो सकता है। जिन भावोंके अनुसार रूपकी प्रतिष्ठा होती है, भक्त उसी रूपका ध्यान करते करते उन्हीं भावोंमें अपना चित्त विलीन कर सकता है और भावसे चित्तविलय करके भावग्राही भगवान्का दर्शन कर सकता है। शेषशायी भगवान्के साथ सर्वशक्तिमान्, जगन्माता द्वारा सेवित, तत्त्वातीत और जीवको चतुर्वर्ग फल देनेवाले भगवान्का सम्बन्ध रहनेसे उनके भावोंमें चित्त विलीन करके भक्तलोग शीघ्र ही प्रकृतिसे अतीत ब्रह्मपदको प्राप्त कर सकते हैं।

जिस प्रकार समस्त विश्वव्यापिनी प्रकृतिके भावोंके अनुसार भगवान्की मूर्त्तिका वर्णन होता है उसी प्रकार प्रकृतिके परिच्छिन्न भावोंके अनुसार भी देव देवियोंकी रूपकल्पना होती है। इस प्रकार रूपकल्पनामें प्रकृतिके जिस भावपर उस देवताकी चेतनशक्ति कार्यकारिणी है उसी भावके अनुसार उस देवता या देवीकी मूर्त्ति बनाई जाती है। दृष्टान्तरूपसे ब्रह्माजीकी मूर्त्तिका विज्ञान समझ सकते हैं। ब्रह्माजी प्रकृतिके अन्तर्गत राजसिक भावपर अधिष्ठान करते हैं, इसलिये ब्रह्माजीका रङ्ग लाल है क्योंकि रजोगुणका रङ्ग लाल है। यथा श्वेताश्वतर उपनिषद्में—

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्"

त्रिगुणमयी प्रकृति लोहित, शुक्ल व कृष्णवर्णा है। रजोगुण लोहित, सत्त्वगुण शुक्ल और तमोगुण कृष्णवर्ण है, समष्टि अन्तःकरण ब्रह्माजीका शरीर है जैसा कि वेद व पुराणके अध्यायमें कहा गया है। इसलिये ब्रह्माजीके चार मुख हैं क्योंकि मन, बुद्धि, चित्त व अहङ्कार ये अन्तःकरणके चार अंग हैं। क्रियाकालमें ज्ञानकी अप्रधानता रहने पर भी ज्ञान की सहायता विना क्रिया ठीक ठीक नहीं चल सकती है। इसलिये ज्ञानके रूप नीरक्षीर-विवेकी हंसको ब्रह्माजीने वाहन कर रक्खा है। और वाहन होनेके कारण उसीकी सहायतासे

कार्य्य भी करते हैं इत्यादि इत्यादि । ब्रह्माजीकी मूर्तिके भावोंको विचार कर देखनेसे पता लग जायगा कि प्रकृतिके राजसिक भावकी लीलाके अनुसार ही ब्रह्माजीकी मूर्त्ति-कल्पना की गई है। योगशास्त्रमें शिवजीका रूप निम्न-लिखित भावसे वर्णन किया गया है । यथा—

ध्यायेन्नित्यं महेशं रजतगिरिनिभं चारुचन्द्राऽवतंसम् ।
रत्नाकल्पोज्ज्वलांगं परशुमृगवराऽभीतिहस्तं प्रसन्नम् ॥
पद्मासीनं समन्तात् स्तुतममरगणैर्व्याघ्रकृत्तिं वसानम् ।
विश्वाद्यं विश्वबीजं निखिलभयहरं पञ्चवक्त्रं त्रिनेत्रम् ॥

इस ध्यानमें शिवजी रजतगिरिके समान श्वेतवर्ण तथा चन्द्रकला विभूषित हैं। वे उज्ज्वलाङ्ग, प्रसन्नचित्त व चतुर्हस्तमें परशु, मृग, वर व अभयके धारण करनेवाले हैं। व्याघ्रचर्माम्बरधारी देवादिदेव परमात्मा समस्त देवताओंके आराध्य हैं और संसारके आदि कारण भवभयनिवारण, पञ्चमुख व त्रिनेत्र हैं। शिवजीका यह भाव सृष्टिस्थितिप्रलयकारी ईश्वरका भाव है जो सृष्टिके साथही साथ जीवको आत्यन्तिक प्रलयके द्वारा भवभयनाशन मुक्तिपद प्रदान भी करते हैं। इस शिवरूप परमात्माके तमोगुणमय संहार भावको धारण करके रुद्रमूर्त्ति भी प्रकट होती है जो प्रलयके समय समस्त ब्रह्माण्ड का नाश करती है। अतः शिवरूपमें एक शान्तिमय ईश्वरभाव और दूसरा संहारकारी रुद्रभाव विराजमान है और शास्त्रमें जो शिवरूपका स्वतन्त्र स्वतन्त्र भाव व मूर्ति बताई गई है वह सब इन्हीं दो भावोंके अनुसार है जो कि नीचे क्रमशः बताया जायगा। उनके ईश्वरभावमें जैसा कि ऊपर बताया गया है समस्त प्रकृतिका विलास उन्हींकी कृपासे उन्हींके ऊपर प्रकाशित है। इसलिये शिवजी श्वेतगिरितुल्य मूर्तिमान्, पञ्चवक्त्र, त्रिनेत्र व चन्द्रशेखर हैं। प्रकृतिका समस्त विलास उन्हींके शरीरमें होनेसे उनका रङ्ग श्वेत है। क्योंकि जहां पर प्राकृतिक समस्त वर्णोंका समवेत विकाश होता है वहां श्वेतवर्ण ही होता है। उनका पञ्चमुख स्वरूप प्राकृतिक पञ्चतत्त्वोंका रूप है; जिसके विलासके द्वारा अपूर्व शोभामय ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति होती है; इसलिये शिवजीके पञ्चास्यों-का हास्य ही प्रकृतिकी ब्रह्माण्डविकाशमयी दिव्यछटा है। उनके दो नेत्र पार्थिवाग्नि व दिव्याग्नि हैं, तृतीय नेत्र सूर्य या ज्ञानाग्नि है क्योंकि सूर्यात्मा बुद्धिका अधिदेव है। इसलिये इसी ज्ञाननेत्रके द्वारा मदन भस्म हुआ था, चतुर्थ ज्योति-

का स्थान चन्द्रकला है जो ज्योतिका भी आधार और मनका भी अधिदैव होनेसे संसारका प्रकाशक है। इस प्रकारसे उनके ईश्वरभावके द्वारा समस्त संसार का प्रकाश होता है। यथा श्रुति—

"तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"

उनकी ही दीप्तिके अनुसार समस्त ज्योतिष्मान् पदार्थोंकी दीप्ति है और उनकी ही ज्योतिसे समस्त संसार आलोकित है। उनके ईश्वर भावोंमें त्रिशूल त्रिगुणका रूप है जिसके ऊपर विश्ववाराणसी स्थित है। जब तक शिवकी सत्ता त्रिगुणमयी प्रकृतिके अन्दर प्रकट रहेगी तबतक वाराणसीका नाश नहीं हो सकता। उनके चार हाथोंमें परशुमृगवराभीति-मुद्राके द्वारा चतुर्वर्गफल-दान शक्ति सूचित की गई है। यथा—जिस हस्तमें मृग है उसी हस्तमें काम अर्थात् सकल मनोरथपूर्णकारी मृगमुद्रा है। जिस हस्तमें परशु है उसी हस्तमें अर्थ है जो कि शत्रुनाश व दिग्विजयकी मुद्रा है। जिस हस्तमें वर है उसीमें धर्म है क्योंकि विना धर्मके वरणीय सुखकी प्राप्ति असम्भव है, और जिस हस्तमें अभय है उसी हस्तमें मोक्ष है क्योंकि विना मोक्षके आत्यन्तिक भयनाश अर्थात् भवभयनाश नही हो सकता है। इस प्रकार उपरि उक्त ध्यानके द्वारा शिवजीका ईश्वरभाव बताया गया है। शिवजीके अन्य दो भाव नीचे बताये जाते हैं, जिनमेंसे एकमें प्राकृतिक प्रलय और दूसरेमें आत्यन्तिक प्रलय अर्थात् मुक्तिका भाव बताया गया है। इस भावमे शिव त्रिशूलधारी, भुजङ्ग-भूषण, भस्मविभूषित, श्मशानवासी कपालमाली, श्वेतकाय, हरिप्रिय, व्याघ्रा-म्बरधारी व भिखारी हैं। ये सब इनके रूप प्राकृतिक प्रलय तथा आत्यन्तिक प्रलयके भावानुसार प्रकट होते है। अर्थात् जिस समय ब्रह्माकी शतायुके अवसानमें एक ब्रह्माण्डका नाश हो जाता है वही प्राकृतिक या महाप्रलयका काल है। उस समय ईश्वरकी तामसिक शक्ति रुद्ररूप या कालरूप धारण करके संसारको नष्ट कर देती है। द्वितीय अर्थात् आत्यन्तिक प्रलय मुक्ति को कहते हैं। जिस समय जीव ब्रह्ममें विलीन होकर अपनी पृथक् सत्ताको छोड़ देता है। इस प्रलयके साथ महाकालरूपी परमात्माका सम्बन्ध रहता है, यह भी शिवजी-का एक भाव है। शिवका त्रिशूल सृष्टिनाशकारी रुद्रभावमे नियतिका चिन्ह है जो सर्वथा अबाधित, सर्वनाशकारी व अतिप्रबलपराक्रान्त है, जिसके तेजसे समस्त संसारको प्रलयकालमें कालके गर्भमें निमग्न होना पड़ता ही है। परन्तु शिवजीके आत्यन्तिक प्रलयकारी अर्थात् मुक्तिप्रदाता महाकालभावमें यही

त्रिशूल आध्यात्मिक, आधिदैविक व आधिभौतिक दुःखरूपी त्रिविध शूलका रूप है क्योंकि इन्हीं त्रिविध शूलोंके द्वारा पीड़ित होकर ही जीव मुक्तिके वास्ते महाकालरूपी शिवजीकी शरण लेता है। यथा सांख्यकारिकामें—

"दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातकेहेतौ"

आध्यात्मिक, आधिदैविक व आधिभौतिक इन तीनों प्रकारके दुःखोंके द्वारा पीड़ित होकर ही जीव त्रिविध दुःखनाशन मुक्तिके लिये जिज्ञासा करता है। रुद्रभावमें भुजङ्गभूषण, भस्मलेपन, श्मशानवास, कङ्कालमाल, नरकपाल आदि नाशका रूप प्रकाश करनेवाला है। जब रुद्रके द्वारा संसारका नाश होता है तो उनका अलङ्कार सुवर्णरजतादि निर्मित न होकर अत्यन्त तमोगुणी व प्राणनाशकारी सर्पही होना चाहिये। इसलिये रुद्रमूर्ति भुजङ्गभूषण है और यह भी इसमें दूसरा भाव है कि सर्प जैसा क्रूर व हिंस्र जीव भी कालके द्वारा वशीभूत रहता है जिससे कालकी सर्वग्रासकारी अमोघ गति सिद्ध होती है। प्रलयकालमें समस्त संसारका नाश होकर भस्म ही शेष रह जाता है तथा प्रत्येक जीवका अन्तिम परिणाम भस्म ही है और इसी परिणामके कर्त्ता रुद्रजी हैं इसलिये उनका शरीर भस्मविलेपित है, चन्दनचर्चित नहीं है। समस्त संसारको नष्ट करके श्मशान बनानेवाले रुद्रजीके लिये श्मशानवास विज्ञानसिद्ध होगा, अट्टालिकावास विज्ञान-विरुद्ध होगा। इसलिये रुद्र श्मशानवासी हैं। उनका कङ्कालमालाधारण व नरकपालधारण भी नाशके ही भावको सूचित करता है। अब इन सब वर्णनोंके साथ महाकालरूपी मुक्तिप्रदाता शिवजीका क्या सम्बन्ध है सो बताया जाता है। महाकालका भुजङ्गभूषण प्रकृतिविलयका लक्षण प्रकट करता है। महाकालमें अपनी सत्ताको विलीन करके जीव जिस समय मुक्तपद प्राप्त करता है उस समय उसकी द्वन्द्वबहुल प्रकृति शान्त हो जानेसे धर्म अधर्म, पाप पुण्य, सत्त्वगुण, तमोगुण आदि समस्त विरुद्ध वृत्तियाँ उसमें लय होकर एकाकार भावको प्राप्त हो जाती हैं, इसीकी सूचनाके वास्ते महाकाल भुजंग भूषण हैं अर्थात् महाकालकी प्रकृतिमें प्रबल तमोगुणका रूप सर्प भी अपनी हिंसावृत्तिको भूलकर सत्त्वगुणके साथ शोभायमान है यही इसका भावार्थ है। जगदम्बा गृहिणी, व कुबेर भाण्डारी होने पर महाकालरूपी शिवजीका श्मशानवास, भस्मविभूषण, भिक्षापात्र हस्तमें लेकर भिक्षार्थ पर्यटन, त्याग व वैराग्यभावकी सूचना करता है क्योंकि त्याग व वैराग्यका ही

सम्बन्ध मुक्तिके साथ है। समस्त संसारकी विभूतिको छोड़कर जो मुमुक्षु भिक्षापात्र हस्तमें लेकर संन्यासी बन सकते हैं वे ही मुक्तिके अधिकारी हो सकते है और महाकालके प्रिय बन सकते हैं। ये ही भाव इनके द्वारा प्रकट किये गये हैं। यथा श्रुति—

"न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः" "पुत्रैषणाया वित्तैषणाया लोकैषणायाः व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति"

कर्म, प्रजा या धनके द्वारा नही परन्तु त्यागके द्वारा ही मुक्ति प्राप्त होती है। पुत्रकी इच्छा धनकी इच्छा व यशोलिप्साको त्याग करके ही मनुष्य संन्यास अवलम्बन कर सकता है। कालरूप रुद्र व्याघ्राम्बरधारी है, परन्तु महाकाल दिग्वसन अर्थात् नग्न है। चाहे कितना ही बलशाली जीव हो, काल सभीको ग्रास करता है और सभीकी खाल खींचकर उसे मृत्युके ग्रासमें डालता है। इसी भावके प्रकाश करनेके अर्थ रुद्र व्याघ्राम्बरधारी है। क्योंकि हिंस्र पशुओंमें शेर सबसे बलवान् है परन्तु उसकी भी खाल खींच कर रुद्रने अपना वस्त्र बनाया है। अन्य वेशमें महाकालके शरीरमें कोई वस्त्र नहीं है जिसका यह तात्पर्य है कि महाकालरूपी परमात्मा देशकालके द्वारा अपरिच्छिन्न व अनन्तकोटि ब्रह्माण्डमें सर्वव्यापक है। जो वस्तु असीम व सर्वव्यापक है उसे वस्त्रके द्वारा ससीम व आवृत नही कर सकते। इसलिये महाकाल दिग्वसन हैं परन्तु कालका सम्बन्ध एक एक ब्रह्माण्डके साथ रहनेके कारण कालकी सीमा ब्रह्माण्डकी आयुके द्वारा परिच्छिन्न है इसलिये कालरूप रुद्र वसन परिधान करते हैं। महाकालका तृतीय नेत्र जिसका वर्णन पहिले ही कर चुके हैं ज्ञाननेत्र है। इसलिये उसकी स्थिति कूटस्थ चैतन्यके स्थानके ऊपर ललाटदेशमें है। ज्ञाननेत्रका स्वरूप बतानेके वास्ते ही उसी नेत्रके द्वारा मनसिजदहनका वृत्तान्त शास्त्रमें प्रसिद्ध किया गया है। शास्त्रमें कामकी तीन दशाएँ बताई गई हैं। यथा-संस्कार दशा, चिन्त्यमान दशा और भुज्यमान दशा। जिस दशामें काम-सम्बन्धीय स्थूलक्रिया तथा सङ्कल्प विकल्परूपसे उसकी चिन्ता भी नहीं रहती है, कामकी वह दशा संस्कार दशा कहलाती है। कामकी चिन्त्यमान दशामें कामका सङ्कल्प विकल्प होता रहता है और तृतीय अर्थात् भुज्यमान दशामें भोगरूपसे कामकी स्थूल क्रिया होती है। इन तीन दशाओंमें कामके द्वाराही ज्ञान आवृत होता है और किस तरहसे होता है सो श्रीगीताजीमें लिखा है यथा—

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥

जिस प्रकार धूमके द्वारा अग्नि, मलके द्वारा आदर्श (काच) व गर्भचर्मके द्वारा गर्भ आवृत होता है उसी प्रकार ज्ञानियोंके नित्यशत्रु और अग्निकी तरह अतृप्त कामके द्वारा ज्ञान आवृत होता है। इसमें प्रधान दृष्टान्त संसार दशागत काम-के लिये है। अर्थात् जिस धूमके द्वारा अग्नि आवृत होने पर भी दाहादि कार्य कर सकता है, उसी प्रकार चित्तमें सूक्ष्मरूपसे निहित काम ज्ञानको वाह्यरूपसे अधिक आवृत नहीं कर सकता है। द्वितीय दृष्टान्त चिन्त्यमानदशागत काम-के लिये है। अर्थात् जिस प्रकार दर्पणके मलयुक्त होनेपर उसकी प्रतिविम्व-ग्रहणशक्ति मात्र नष्ट होती है किन्तु स्वरूपकी हानि नही होती है उसी प्रकार कामकी चिन्त्यमान अवस्थामें ज्ञान पर आवरण आजानेपर स्वरूपकी हानि नहीं होती है। तृतीय दृष्टान्त भुज्यमान दशागत कामका है। अर्थात् जिस प्रकार चर्मावृत गर्भ हस्तपदादि प्रसारण पूर्वक स्वकार्य नहीं कर सकता है और स्वरूपतः उपलब्ध भी नहीं होता है उसी प्रकार कामकी बाह्य भोगदशामें ज्ञान सम्पूर्णरूपसे आच्छन्न हो जाता है। इन तीनों प्रकारके कामके नाशके लिये योगदर्शनमें कहा है।

"ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः"
"ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः"

सूक्ष्मरूपमें अन्तःकरणमें निहित कामादि ज्ञान द्वारा अविद्याके नाशके साथही नष्ट होते हैं, और स्थूल वृत्तिरूपमें प्रकाशमान काम ध्यानके द्वारा नष्ट होता है। भगवान्के चरणकमलोंके ध्यानमे दिवानिशि चित्त निविष्ट रहने-से कामक्रिया व कामचिन्ता नष्ट हो जाती है। परन्तु अन्तःकरणमें निहित काम-का सूक्ष्म संस्कार ध्यान द्वारा नष्ट नही हो सकता है। इसलिये ध्यान द्वारा कामकी चिन्ता व क्रिया बन्द होने पर भी संस्कार भीतर रहनेसे जड़से काम नष्ट नही हो सकता है, इसलिये कामके पदार्थ सामने आने पर पुनः कामका उदय हो जाता है। इसका आमूल नाश संस्कारतकके नाशके द्वारा ही हो सकता है और संस्कारका नाश संस्कारके कारणरूप अविद्याके नाशके द्वारा

और अविद्याका नाश विवेकख्याति अर्थात् ज्ञानके द्वारा होता है। इसलिये ज्ञान नेत्रके द्वारा ही मदन भस्म होकर आमूल नाशको प्राप्त हो सकता है। यही ज्ञान स्वरूप शिवजीका तृतीय नेत्र है। शास्त्रमें सत्त्वगुणका रंग श्वेत, रजोगुणका लाल और तमोगुणका कृष्ण बताया गया है। यथा श्वेताश्वतरमें—

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः"

सत्त्वरजस्तमोगुणानुसार श्वेतलोहितकृष्णवर्णा, जन्मरहित व अद्वितीय प्रकृति रूपयुक्त अनेक प्रजाओंकी सृष्टि करती है परन्तु क्या कारण है कि शिवजी तमोगुणके अधिष्ठाता होनेपर भी श्वेतवर्ण हैं और विष्णु सत्त्वगुणके अधिष्ठाता होनेपर भी कृष्णवर्ण हैं? इसका तात्पर्य यह है कि जो चेतनशक्ति क्रिया व फल दोनोंको प्रदान करती है उसके भीतर जिस भावका प्रकाश रहता है बाहर ठीक उसके विपरीत भावका प्रकाश रहेगा। इसीलिये सत्त्वाधिष्ठाता विष्णुके भीतर सत्त्वगुणका प्रकाश रहनेके कारण बाहर तमोगुणका विलास है और इसी लिये विष्णुजीका रङ्ग घननील है। इसी प्रकार तमोधिष्ठाता शिवजीके भीतर तमोभावका प्रकाश रहनेके कारण बाहर सत्त्वगुणका प्रकाश है और इसलिये शिवजी श्वेतवर्ण हैं। परन्तु रजोगुणमें केवल क्रिया शक्ति रहनेके कारण तथा फलप्रदानशक्ति न रहनेके कारण रजोगुणके अधिष्ठाता भीतर बाहर दोनों तरफ एक प्रकृतिके हैं और इसलिये रजोगुणके अधिष्ठाता ब्रह्माजीका रंग लाल है। प्रत्येक चेतनशक्तिकी पूजा फललाभके लिये होती है। इसलिये रजोगुणमें केवल क्रियाशक्ति रहनेसे और फलदानशक्ति न रहनेसे रजोगुणकी अधिष्ठाता चेतनशक्तिकी पूजा नहीं हो सकती है। यही कारण है कि ब्रह्माजीकी पूजा नहीं होती है। शास्त्रमें सत्त्वगुण व तमोगुणको अन्योन्यमिथुनवृत्तिक कहा गया है। दो वस्तुओंकी प्रकृतिमें परस्पर सम्बन्ध हो तो उन्हें अन्योन्यमिथुनवृत्तिक कहा जाता है। प्रकाश व अन्धकार, ज्ञान व अज्ञान, स्वर्ग व नरक, ऊर्ध्वगति व अधोगतिके विचारसे सत्त्वगुण व तमोगुणकी प्रकृति एकही है। केवल एक प्रकृति ही नहीं, दोनोंमें शक्ति भी तुल्यरूप है। अर्थात् जीवको उन्नत करनेकी जितनी शक्ति सत्त्वगुणमें है, जीवको अवनत करनेकी उतनी ही शक्ति तमोगुणमें है। इसलिये सत्त्वगुण व तमोगुणमें अन्योन्यमिथुन सम्बन्ध है। यही कारण है कि सत्त्वगुणके अधिष्ठाता विष्णु व तमोगुणके अधिष्ठाता शिवजीमें परस्पर तन्मयासक्ति का भाव विद्यमान है। हरिहरका जो अपूर्व प्रेमसम्मेलन शास्त्रमें बताया गया है उसका यही कारण है। यथा देवीभागवतमें—

शिवस्याहं प्रियः प्राणः शङ्करस्तु तथा मम ।
उभयोरन्तरं नास्ति अन्योन्यासक्तचेतसोः ॥

शिव विष्णुके प्राण हैं और विष्णु भी शिवके प्राण हैं,- परस्परासक्तचित्त हरिहरमें कोई भेद नही है । सबसे प्रथम जो विष्णु भगवान्की एक शेषशायी मूर्त्तिका वर्णन किया गया है वह विष्णु भगवान्की सप्त प्रधान मूर्त्तियोंमेंसे एक मूर्त्तिका वर्णन है, इसी प्रकार श्रीविष्णु भगवान्की अन्यान्य मूर्त्तियोंका भाव भी समझना उचित है और श्रीमहादेवकी मूर्त्तिका एक ही रूप वर्णन करके और और मूर्त्तियोंका कुछ कुछ रहस्य कह दिया गया है जिससे जिज्ञासुओंको साधारण ज्ञानकी प्राप्ति हो सके । हरिहर विज्ञानका विस्तारित रहस्य भक्ति व योगके अध्यायमें वर्णित हुआ है ।

शिवजी पृथिवी तत्त्वके अधीश्वर हैं इस लिये पृथिवी तत्त्वकी सर्वश्रेष्ठ विकाशभूमि हिमालयका सर्वोच्च शिखर कैलास शिवजीका स्थान है, ऐसा शास्त्रमें पाया जाता है । शिवप्रकृतिमें द्वंद्वराहित्य होनेसे, गुणातीत ईश्वर में सकल गुणोंका लय होनेसे, कैलासनिवासी जीवगण हिंसाशून्य होते हैं । और सिंह, मृग, सर्प, नकुल आदि परस्पर विरुद्धप्रकृतियुक्त जीवगण भी विरोध व हिंसा भूलकर शान्तिके साथ विचरण करते हैं । शिवजीका वाहन वृषभ धर्मका रूप है, क्योंकि धर्मका ही आश्रय करके संसारमें शिवसत्ताके द्वारा समस्त कार्य होता है । पशुजातिमें सत्त्वगुणका पूर्ण विकास गौमें ही है और सत्त्वगुणकी पूर्णतामें ही धर्मका पूर्ण विकाश है । इसलिये शिववाहन वृषभ है । यही सब प्रकृतिलीलामूलक भावोंके अनुसार सगुण शिवोपासनापरायण भक्तकी सहायताके लिये शिवमूर्त्तिका रहस्य है । इस प्रकार भाववैचित्र्यपूर्ण शिवमूर्त्तिके अतिरिक्त शिवलिङ्ग पूजाकी विधि भी शास्त्रमें पाई जाती है । यथा याज्ञवल्क्य संहितामें—

प्रशस्तं नार्मदं लिङ्गं पक्वजम्बूफलाकृति ।
मधुवर्णं तथा शुक्लं नीलं मरकतप्रभम् ॥

नर्मदा नदीसे प्राप्त पक्वजम्बूफलकी तरह आकारयुक्त, मधुवर्ण तथा शुक्ल या नील मरकत मणितुल्य शिवलिङ्ग पूजनमें प्रशस्त है । मत्स्यसूक्तमें—

दृष्ट्वा लिङ्गं महेशस्य स्वयम्भूतस्य पार्वति ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः परे ब्रह्मणि लीयते ॥

स्वयम्भू महादेवके लिङ्गका दर्शन करनेसे भक्त लोग समस्त पापसे मुक्त होकर परब्रह्मपदमें विलीन होजाते हैं। स्कन्दपुराणमें—

आकाशं लिङ्गमित्याहुः पृथिवी तस्य पीठिका।
आलयः सर्वदेवानां लयनाल्लिङ्गमुच्यते॥
लिङ्गत्वाल्लिङ्गमित्युक्तं सदेवासुरकिन्नरैः।
प्रयच्छामि दिवं देवि यो मल्लिङ्गार्चने रतः॥
त्यक्त्वा सर्वाणि पापानि निर्गदो दग्धकल्मषः।
मन्मना मन्नमस्कारो मामेव प्रतिपद्यते॥

आकाशरूप ब्रह्म लिङ्ग है और पृथिवी रूपिणी जगदम्बा उसकी पीठिका है। लिङ्ग समस्त देवताओंका आलय है और जीव भावका लय इसके द्वारा होनेसे इसका नाम लिङ्ग है। लिङ्गपूजापरायण भक्त समस्त पापसे मुक्त होकर परब्रह्मको प्राप्त करते हैं। लिङ्गपुराणमें—

मूले ब्रह्मा तथा मध्ये विष्णुस्त्रिभुवनेश्वरः।
रुद्रोपरि महादेवः प्रणवाख्यः सदाशिवः॥
लिङ्गवेदी महादेवी लिंगं साक्षान्महेश्वरः।
तयोः संपूजनान्नित्यं देवी देवश्च पूजितौ॥

लिङ्गके मूलमें ब्रह्मा, मध्यमें विष्णु और उपरि भागमें ओंकाररूप सदाशिव विराजमान हैं। लिङ्गकी वेदी जगज्जननी जगदम्बा है और लिङ्ग साक्षात् परमात्मा है। अतः लिङ्ग पीठकी व लिङ्गकी पूजासे प्रकृति व परमात्माकी पूजा हुआ करती है। लिङ्गके विश्वाधार होनेके विषयमें स्कन्दपुराणमें लिखा है—

सर्वे लिंगमया लोकाः सर्वे लिंगे प्रतिष्ठिताः।
तस्मादभ्यर्चयेल्लिंगं यदीच्छेच्छाश्वतं पदम्॥
ब्रह्मा हरश्च भगवान् विश्वेदेवा उमा हरिः।
लक्ष्मीर्धृतिः स्मृतिः प्रज्ञा विधिर्दुर्गा शची तथा॥
रुद्राश्च वसवः स्कन्दो विशाखः शाख एव च।
नैगमेशश्च भगवान् लोकपाला ग्रहास्तथा॥

सर्वे नन्दिपुरोगाश्च गणा गणपतिः प्रभुः ।
पितरो मुनयः सर्वे कुवेराद्याश्च सत्तमाः ॥
आदित्या वसवः साध्या अश्विनौ च भिषग्वरौ ।
विश्वेदेवाः समरुतः पशवः पक्षिणो मृगाः ॥
ब्रह्मादिस्थावरं यच्च सर्वं लिंगे प्रतिष्ठितम् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन स्थापयेल्लिंगमैश्वरम् ॥

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ये तीन प्रधान शक्तियाँ, उमा, लक्ष्मी, शची आदि देवियाँ, इन्द्रादि समस्त लोकपाल तथा समस्त देवगण, समस्त पितृगण तथा मुनिगण, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर आदि भिन्न भिन्न लोकस्थ जीवगण, पशु, पक्षी, मृग यहां तक कि ब्रह्मादि स्थावर पर्यन्त चराचर समस्त सृष्टिही लिङ्गमें अवस्थित है। अतः परमात्माके इस लिङ्गकी स्थापना शाश्वत ब्रह्मपद प्राप्तिके लिये भक्तजन अवश्य ही करें तथा इसकी पूजाके द्वारा सर्वसिद्धि प्राप्त करें। लिङ्गपुराणमें लिङ्गके स्वरूपके विषयमें अपूर्व वर्णन मिलता है। यथा—

अलिंगो लिंगमूलन्तु अव्यक्तं लिंगमुच्यते ।
अलिंगः शिव इत्युक्तो लिंगं शैवमिति स्मृतम् ॥
प्रधानं प्रकृतिश्चेति यदाहुर्लिंगमुत्तमम् ।
गन्धवर्णरसैर्हीनं शब्दस्पर्शादिवर्ज्जितम् ॥
अगुणं ध्रुवमक्षय्यमलिंगं शिवलक्षणम् ।
गन्धवर्णरसैर्युक्तं शब्दस्पर्शादिलक्षणम् ॥
जगद्योनिं महाभूतं स्थूलं सूक्ष्मं द्विजोत्तमाः ॥
विग्रहो जगतां लिंगमलिंगादभवत् स्वयम् ॥
सप्तधा चाष्टधा चैव तथैकादशधा पुनः ।
लिंगान्यलिंगस्य तथा मायया विततानि तु ॥
लिङ्गवेदी महादेवी लिंगं साक्षान्महेश्वरः ।
लयनाल्लिंगमित्युक्तं तत्रैव निखिलं सुराः ॥

अलिङ्ग लिङ्गका मूल है, लिङ्ग अव्यक्त है अलिङ्ग शिव है। और लिङ्ग शैव है।

इसका तात्पर्य यह है कि प्रकृतिसे अतीत तथा गुणरहित परब्रह्म अलिङ्ग है वही शिव है। लिंग शैव है अर्थात् अव्यक्त प्रकृतिके साथ युक्त शिव है अर्थात् मायोपहित चैतन्य सगुण ब्रह्म ईश्वर है। इसी लिङ्ग व अलिङ्गके लक्षणका परवर्त्ती श्लोकोंके द्वारा वर्णन किया गया है। यथा—रूप रस आदि पञ्चतन्मात्राओंसे रहित, निर्गुण, ध्रुव, क्षयरहित, शिवसत्ता अलिङ्ग है और रूपरसादि पञ्चतन्मात्राओंसे युक्त जगद्योनि, स्थूल सूक्ष्म तथा कारण प्रकृतिसम्बद्ध सृष्टिमें विग्रह रूपसे प्रकट सत्ता ही लिङ्ग कहलाता है जो अलिङ्गसे ही प्रकट हुआ है। अलिङ्गसे प्रकट यह लिङ्ग मायाके द्वारा सप्त, अष्ट तथा एकादशरूपसे संसारमें व्याप्त है। लिङ्गकी वेदी महादेवी जगदम्बा है और लिङ्ग साक्षात् महेश्वर है। समस्त जीवोंका लयस्थान होनेसे लिङ्ग नाम है। इसी लिङ्गमें समस्त देवताओंकी स्थिति है। जिस समय मूलप्रकृति परमब्रह्मसे अलग दिखाई देती है उसी अवस्थाको व्यक्तावस्था कहते हैं और उसी समयमें यह लिङ्गमय जगत् अलिङ्ग ब्रह्ममें भासमान होता है। इस कारण व्यक्तावस्थामें पुरुषसत्ता लिङ्गरूपसे और प्रकृतिसत्ता पीठरूपसे अर्च्चनीय होती हैं। यह अवस्था सर्वशक्तिमान् सगुण ब्रह्मकी है। परन्तु यह अवश्य समझने योग्य है कि यद्यपि सगुण ब्रह्ममें प्रकृति पुरुष दोनोंकी स्वतन्त्र स्वतन्त्र सत्ता अनुमेय है परन्तु लिङ्गमें प्रकृति-अप्रधान व पुरुषकी प्रधानता रक्खी गई है। लिङ्ग व लिङ्गपीठकके ऊपर वर्णित लक्षणोंके द्वारा सिद्धान्त हुआ कि जगदाधार परमात्माकी सगुण पुंसत्ताको ही स्थूल लिङ्गरूपसे प्रकट किया है और जगज्जननी प्रकृतिकी स्त्रीसत्ताको ही लिङ्गपीठ रूपसे बताया गया है। रूप भावके अनुसार ही होता है इसलिये जगदुत्पत्तिकारण परमात्माके उत्पत्तिभावको किसी स्थूलरूपमें प्रकट करना हो तो मनुष्य स्थूलसंसारमें उत्पत्तिका कारण जो लिङ्गका आकार है उसी रूपमें उसको प्रकट करेगा क्योंकि मनुष्यकी चित्तवृत्ति उसके सिवाय उत्पत्तिके लिये और किसी रूपकी कल्पना नहीं कर सकती। इसी विचारके अनुसार जगदुत्पत्तिकारिणी प्रकृतिका भी उत्पत्तिभाव तल्लिङ्गरूपसे लिङ्गपीठ बनाकर स्थूलरूपसे मनुष्य प्रकट कर सकता है अन्यथा नहीं कर सकता। यही लिङ्ग व लिङ्गपीठके एतादृशरूपका तात्पर्य है। अब इस लिङ्गकी पूजामें क्या क्या भाव रहता है सो बताया जाता है। यह बात पहले ही कही गई है कि मंत्रयोगका यह सिद्धांत है कि जिससे सृष्टिकी उत्पत्ति होती है उसीके अवलम्बनसे जीव लयकी ओर अग्रसर हो सकता है। जब जगद्-

योनि परमात्माके लिङ्गकी सत्ता द्वारा तथा जगत्प्रसविनी प्रकृतिकी सत्ताके द्वारा समस्त विश्वका विकाश हुआ है और वेही दो सत्ताएँ लिङ्ग व लिङ्ग वेदी रूपसे प्रथमाधिकारीके लिये प्रतिष्ठित की गई हैं तो यह बात विज्ञान-सिद्ध है कि लिङ्ग व वेदीमें इसी व्यापक भावके साथ पूजा करनेसे चित्तवृत्ति स्थूल लिङ्गकी सहायतासे उसकी भूप्रकाश्य व्यापक परमेश्वर सत्तामें धीरे धीरे विलीनताको प्राप्त करेगी जिससे साधक अनन्त-विस्तारमयी मायाकी लीलासे मुक्त होकर कार्य्यब्रह्मकी सहायतासे कारणब्रह्ममें स्थितिलाभ कर सकेगा । यही लिङ्ग पूजाका उद्देश्य व लक्ष्य है । इसी महान् लक्ष्यकी साधक होनेसेही लिङ्गपूजाकी इतनी महिमा शास्त्रमें वर्णित की गई है । रामायणके उत्तरकाण्डमें शिवभक्त राक्षसराज रावणके शिवलिङ्गपूजा करनेके विषयका प्रमाण मिलता है, यथा—

यत्र यत्र स यातिस्म रावणो राक्षसेश्वरः ।
जाम्बूनदमयं लिंगं तत्र तत्र स्म नीयते ॥
वालुकावेदिमध्ये तु तल्लिगं स्थाप्य रावणः ।
अर्च्चयामास गन्धैश्चा पुष्पैश्चाऽमृतगन्धिभिः ॥

लिङ्गपूजाके मूलमें और भी एक गूढ़ रहस्य विद्यमान है । मन्त्रयोगमें भावकी मुख्यताके अनुसार साधनपद्धति निर्णीत होनेसे लिङ्ग पूजामें भी भावकी महिमाका अपूर्व विलास देखनेमें आता है । यह बात पहलेही कही गई है कि भावकी शुद्धि होनेसे अत्यन्त निन्दनीय वस्तु भी अच्छे स्वरूपमें कल्याणप्रद होकर प्रकट हो सकती है और भावकी अशुद्धि रहनेसे अच्छी वस्तु भी अपने स्वरूपसे च्युत हो जाती है । संसारमें स्त्री व पुरुष परस्पर भोग्य व भोक्ताके सम्बन्ध द्वारा बद्ध होकर अधोगतिको प्राप्त करते हैं । उनमें एकके वास्ते दूसरेका रूप व लिङ्ग बन्धनका कारण होता है और यह अभ्यास अनादि होनेसे शीघ्र छूट भी नहीं सकता है । अतः अनादि संस्कारके कारण जो बात छूट नहीं सकती उसमें भावके परिवर्त्तनसे, उसके द्वारा उत्पन्न चित्तका विकार दूर कर देना, सहज उपाय होगा । अतः कार्य्यब्रह्म कारणब्रह्मका ही रूप होनेसे समस्त संसारके पुरुषोंको शिवरूप समझ कर तथा समस्त संसारकी स्त्रियोंको प्रकृति रूप समझकर उनके लिङ्ग तथा रूपमें शिवशक्ति रूप दिव्य-भावका अभिनिवेश चित्तमें उदय करके समस्त संसारको उपासनाका आधार

बनानेकी यदि चेष्टा की जाय तो एतादृश भावशुद्धिकी प्रक्रिया द्वारा मायाकी मोहिनी शक्ति संसारसे नष्ट हो जायगी और स्त्री पुरुष परस्परमें आसक्त न होकर परस्परको ही दिव्यभावसे देखकर मुक्तिपद प्राप्त करेंगे, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। लिङ्ग व लिङ्गवेदीकी पूजाके द्वारा इस भावकी प्रतिष्ठा होती है जिसके फलसे हर पार्वतीको घट घटमें आराधना करके जीव दुर्लभ मुक्तिपदको प्राप्त तथा संसार सिन्धुसे मुक्त हो सकता है। यही लिङ्गपूजाके मूलमें गम्भीर रहस्य है जिसको बुद्धिमान् विचारशील उपासक समझ सकेंगे।

शिवोपासनामें प्रायः लिङ्ग पूजाकी ही विशेषता है। इस कारण लिङ्गका रहस्य कुछ कहना आवश्यक समझा गया। उसी प्रकार विष्णुकी उपासनामें जिस मूर्त्तिकी पूजा अधिक प्रचलित है उसी मनोमुग्धकारी मूर्त्तिका कुछ संक्षेप रहस्य भी वर्णित किया जाता है, जिसका ध्यान निम्नलिखित रूप है, यथा—

उद्यत्कोटिदिवाकराभनिश शंख गदां पंकजं
चक्रं बिभ्रतमिन्दिरावसुमतीसंशोभिपार्श्वद्वयम्।
कोटीरांगदहारकुण्डलधरं पीताम्बरं कौस्तुभो-
द्दीप्तं विश्वधरं स्ववक्षसि-लसच्छ्रीवत्सचिन्हं भजे॥

उदय होते हुए अनेक सूर्योंके समान जो दीप्यमान है, शङ्ख गदा कमल व चक्रको धारण करते हैं, जिनके दोनों पार्श्वोंमें लक्ष्मी और वसुमती बैठी हैं, जो अङ्गद, हार, कुण्डल आदि भूषणोंसे भूषित हैं और पीतवस्त्र धारण किये हैं, जो कौस्तुभमणिसे सुशोभित हो रहे हैं जिनमें सकल त्रिलोक स्थित हैं और जिनके वक्षस्थलमें श्रीवत्सचिह्न शोभा दे रहा है उनका भजन करता हूँ। इस ध्यानमें विष्णुजीकी कान्ति जो कोटि सूर्य्यके तुल्य कही गई है इसका कारण यह है कि विष्णु सत्त्वगुणके अधिष्ठाता होनेके कारण चित्सत्ताके साथ विष्णुका विशेष सम्बन्ध है और चित्सत्ताका रूप शास्त्रमें कोटिसूर्य्यकी तरह बताया गया है। श्रीविष्णुकी अन्यान्य शरीर-शोभा तथा बहुमूल्य अलंकार आदि ब्रह्माण्डकी स्थितिदशाके साथ उनका सम्बन्ध प्रकट करते हैं। इससे पहले शिवमूर्तिके रहस्य वर्णन प्रसंगमें बताया गया है कि शिव भावमें तमोगुण व ब्रह्माण्डनाशका सम्बन्ध रहनेसे भुजंग, भस्म आदि शिवजीका अलङ्कार है और श्मशानवास, व्याघ्राम्बर धारण आदि भी नाशको ही सूचित

करते हैं। परन्तु विष्णुमूर्त्तिके साथ ब्रह्माण्डकी स्थितिका सम्बन्ध होनेसे स्थिति दशाकी भावनीय विलासकलासे विष्णुका शरीर अलंकृत रहता है। ब्रह्माण्डकी स्थितिदशामें सर्वत्र सुजला, सुफला, शस्यश्यामला वसुमती शोभायमाना रहती है और सर्वत्र ही ब्रह्माण्डकी यौवन दशा विलसित रहा करती है। यही कारण है कि विष्णुका शरीर यौवनसुलभसुषमामण्डित तथा अमूल्य रत्नयुक्त अलङ्कारोंसे व पीतवस्त्रसे सुसज्जित है और लक्ष्मी तथा वसुमती उनकी दासीरूपिणी हैं। उनके चतुर्हस्त आदि अंग प्रत्यङ्ग तथा वर्णका तात्पर्य पहलेही लिखा गया है। विष्णुमूर्तिके साथ अकाशतत्त्वका अधिदैव सम्बन्ध रहनेसे आकाशचर खगपति गरुड़ विष्णुका वाहन है। इन सब भावानुसार विष्णुजीकी मूर्त्ति बनाई जाती है।

शक्तिके रूपोंमें दुर्गा देवीका रूप माना गया है। उन्हीं दुर्गादेवीके रूपका भाव समझानेके लिये इस प्रकार समझना चाहिये कि महिषासुररूप तमोगुणको सिंहरूपी रजोगुणने परास्त किया है। और ऐसे सिंहके ऊपर आरोहण की हुई सिंहवाहिनी माता दुर्गा हैं जो कि शुद्ध सत्त्वगुणमयी ब्रह्मरूपिणी सर्वव्यापिनी व दशदिग्रूपी दशहस्तोंमें शस्त्र धारण पूर्वक पूर्ण शक्तिशालिनी हैं। उनकी एक ओर बुद्धिके अधिष्ठाता गणपति तथा धनकी अधिष्ठात्री लक्ष्मी देवी और दूसरी ओर बलके अधिष्ठाता कार्त्तिकेय तथा विद्याकी अधिष्ठात्री सरस्वती देवी विराजमान हैं। अतः बुद्धि धन विद्या व बल संयुक्ता सर्वशक्तिमयी सगुण ब्रह्मरूपिणी दुर्गा देवी जगज्जननी महामाया हैं। प्रकृतिकी अनन्त शोभा, अनन्त विलास व दिगन्तव्यापिनी अनन्त शक्तिके अनुसार ही उनकी मूर्त्ति बनाई जाती है और कहीं चतुर्हस्तमें, कही दशाहस्तमे, कही विविध अलङ्कार व अस्त्र शस्त्रोंके द्वारा विविध भावोंकी सहायतासे उनकी विभूतिका वर्णन किया जाता है। संसारकी सृष्टि, स्थिति और प्रलय विधानके जिये प्रकृतिका नाना रूपमें विकाश होता है और तदनुसार दश महाविद्या आदि अनेक भावोंमें उनका रूपवर्णन ध्यान व पूजा होती है जिसमेंसे सगुण पञ्चोपासनामें प्रचलित ध्यान यह है—

सिंहस्था शशिशेखरा मरकतप्रख्या चतुर्भिर्भुजैः।
शंखं चक्रधनुःशरांश्च दधती नेत्रैस्त्रिभिः शोभिता॥
आमुक्तांगदहारकंकणरणत्काञ्चीक्वणन्नूपुरा।

दुर्गा दुर्गतिहारिणी भवतु नो रत्नोल्लसत्कुण्डला ॥

जो सिंहारूढ़ा है, जिसके शिरोभागमें चन्द्रमा विराजमान है, जो मरकतके समान हरितवर्णकी है, चारों भुजाओंमें शङ्ख, चक्र, धनु और शर धारण की हुई है, जो तीन नयनोंसे सुशोभित है, जो अगद, हार, कङ्कण, काञ्ची नूपुर इत्यादि भूषणोंसे भूषित है, ऐसी दुर्गा हम लोगोंकी दुर्गतिहारिणी हो। इस ध्यानमें-पूर्ववर्णनसे जो कुछ रूपवैचित्र्य बताया गया है सो प्रकृतिकी अनन्त लीलाओंके अनुसार भाववैचित्र्यके अनुसार ही है जिसको भावुकजन अपने हृदयके भावराज्यमें सत्य अनुभव करेंगे। यही भाववैचित्र्यके अनुसार देवीकी स्थूल मूर्तिका तात्पर्य है।

विष्णुरूपके प्रधान सात भेद, शिवरूपके प्रधान पाँच भेद और शक्ति-रूपके प्रधान २४ भेद तन्त्रोंमें कहे हैं, जिन २४ भेदोंमेंसे दश प्रधान भेद दश महाविद्या कहलाते हैं। उक्त दश महाविद्याओंमें कालीरूप प्रथम है। इसी कारण कालीरूपका रहस्य कुछ कहा जाता है। इसी प्रकार सब रूपोंका रहस्य विचित्रतासे पूर्ण है जो श्री गुरुदीक्षासे जाने जाते हैं।

कालीरूपके विषयमें महानिर्वाण तन्त्रमें लिखा है—

कालसंग्रहणात्काली सर्वेषामादिरूपिणी।
कालत्वादादिभूतत्वादाद्या कालीति गीयते ॥
त्वमेव सूक्ष्मा त्वं स्थूला व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी।
निराकारापि साकारा कस्त्वां वेदितुमर्हति ॥
साकारापि निराकारा मायया बहुरूपिणी।
त्वं सर्वादिरनादिस्त्वं कर्त्री हर्त्री च पालिका॥
ध्यानं तु द्विविधं प्रोक्तं सरूपारूपभेदतः।
अरूपं तव यद्ध्यानं अवाङ्मनसगोचरम् ॥
अव्यक्तं सर्वतो व्याप्तमिदमित्थविवर्जितम्।
अगम्यं योगिभिर्गम्यं कृच्छ्रैर्बहुसमाधिभिः ॥
मनसो धारणार्थाय शीघ्रं स्वाभीष्टसिद्धये।
सूक्ष्मध्यानप्रबोधाय स्थूलं ध्यानं वदामि ते ॥

अरूपायाः कालिकायाः कालमातुर्महाद्युतेः।
गुणक्रियानुसारेण क्रियते रूपकल्पना॥

कालके साथ सम्बन्ध तथा आदिस्वरूपा होनेसे आद्या काली यह नाम है। काली सूक्ष्मरूपा और स्थूलरूपा भी हैं, व्यक्ता तथा अव्यक्तरूपिणी, निराकारा और साकारा भी हैं। काली सबकी आदि, अनादि रूपिणी व समस्त संसारकी सृष्टिस्थितिप्रलयकारिणी हैं। निराकार व साकार भेदसे उनका ध्यान द्विविध है। उनके रूप रहित स्वरूपका ध्यान योगी लोग आयाससाध्य समाधि दशामें कर सकते हैं। वह स्थूल इन्द्रियोंका अगम्य, वाक्य व मनसे अतीत, अव्यक्त, सर्वव्यापी व अनिर्द्देश्य है। इस प्रकारके निराकार स्वरूपका ध्यान अति कठिन होनेसे मनकी धारणा व शीघ्र अभीष्टसिद्धिके लिये सूक्ष्मध्यानमें अधिकारप्राप्तिके अर्थ स्थूल ध्यानका विधान किया जाता है। कालमाता, महाज्योतिष्मती, रूपरहिता कालिकाकी ध्यानयोग्य रूपकल्पना उनके गुण तथा सर्गस्थितिभंगविधायिनी क्रियाओंके अनुसार होती है। यथा महानिर्वाण तन्त्रमें—

मेघांगीं शशिशेखरां त्रिनयनां रक्ताम्बरं बिभ्रतीम्,
पाणिभ्यामभयं वरं च विकसद्रक्तारविन्दस्थिताम्।
नृत्यन्तं पुरतो निपीय मधुरं माध्वीकमद्यं महा-
कालं वीक्ष्य विकाशिताननवरामाद्यां भजे कालिकाम्॥

जिनका अङ्ग मेघके सदृश कृष्णवर्ण है, जिनके ललाटमें चन्द्र है, जो त्रिनयना तथा रक्तवस्त्र परिधानकारिणी हैं, जिनके एक हस्तमें वर व अन्य हस्तमें अभय हैं, जो फुल्ल रक्त कमल पर स्थित हैं और जो मधुपाननिरत महाकालको सामने नृत्य करते हुए देख कर हास्य करती है, इस प्रकार आद्याशक्ति स्वरूपिणी कालीका ध्यान करें। इस ध्यानमें वर्णित रूपोंके निम्नलिखित भाव महानिर्वाणतन्त्रमें लिखे हैं—

श्वेतपीतादिको वर्णो यथा कृष्णे विलीयते।
प्रविशन्ति तथा काल्यां सर्वभूतानि शैलजे॥
अतस्तस्याः कालशक्तेर्निर्गुणाया निराकृतेः।
हिताय प्राप्तयोगानां वर्णः कृष्णो निरूपितः॥

नित्यायाः कालरूपायाः अव्ययाया शिवात्मनः।
अमृतत्वाल्ललाटेऽस्याः शशिचिह्न निरूपितम्॥
शशिसूर्याऽग्निभिर्नित्यैरखिल कालिका जगत्।
सम्पश्यति यतस्तस्मात्कल्पितं नयनत्रयम्॥
ग्रसनात्सर्वसत्वानां कालदन्तेन चर्वणात्।
तद्रक्तवासोरूपेण भाषितं सकलं जगत्।
समये समये जीवरक्षणं विपदः शिवे।
प्रेरणं सर्वकार्येषु वरश्चाऽभयमीरितम्॥
रजोजनितविश्वानि विष्टभ्य परितिष्ठति।
अतो हि कथितं भद्रे रक्तपद्मासनस्थिता॥
क्रीडन्तं कालिकं कालं पीत्वा मोहमयीं सुराम्।
पश्यन्ती चिन्मयी देवी सर्वसाक्षिस्वरूपिणी॥
एवं गुणानुसारेण रूपाणि विविधानि च।
कल्पितानि हितार्थाय भक्तानामल्पमेधसाम्॥

जिस प्रकार श्वेत, पीत आदि सभी वर्ण कृष्णवर्णमें लय हो जाते हैं उसी प्रकार महाशक्तिरूपिणी कालीके गर्भमें सभी जीव लयप्राप्त होते हैं। इसी भावको प्रकट करनेके लिये कालीका वर्ण कृष्ण निरूपित किया गया है। नित्या, कालरूपा, अव्यया व शिवात्मारूपिणी माताके अमृतरूपा होनेसे सुधाधार चन्द्रका चिह्न ललाटमें रक्खा गया। शशि, सूर्य व अग्निरूपी त्रिनेत्रके द्वारा प्रकृतिमाता विश्वसंसारका निरीक्षण करती हैं इसलिये उनके तीन नेत्र हैं। समस्त जीवको काली ग्रास करती हैं और कालदन्तसे चर्वण करती हैं इसलिये ग्रस्त जीवोंकी रक्तराशि ही उनका वस्त्ररूप है। समय समय पर विपत्तियोंसे जीवोंकी रक्षा तथा सकल कार्यप्रेरणाके कारण वर व अभय उनके हस्तमें है। रजोगुणसे उत्पन्न विश्वको आवृत करके विराजमान रहती है इसलिये माता रक्तपद्मासनस्था करके वर्णित की गई हैं। मोहमयी मदिराको पान करके काल नृत्य करता है और चिन्मयी माता साक्षीरूपसे कालकी लीलाको देख हास्य करती हैं यही उनके हास्यमय मुखविकाशका कारण है।

इस प्रकारसे साधारण अधिकारीके कल्याणके लिये गुणोंके अनुसार जगज्जननी प्रकृतिकी विविध रूपकल्पना की गई है। भावान्तरमें कालीको मुण्डमालिनी, दिगम्बरी, मुक्तकेशी, करालवदनी, पीनोन्नतपयोधरा, चतुर्हस्ता, शवरूप-महादेवके उपरिभाग स्थित महाकालके साथ विपरीतरतातुरा बताया गया है, जिसके अनुसार ध्यान है :—

करालवदनां घोरां मुक्तकेशीं चतुर्भुजां ।
कालिकां दक्षिणां दिव्यां मुण्डमालाविभूषिताम् ॥
महामेघप्रभां श्यामां तथा चैव दिगम्बरीम् ।
घोरदंष्ट्रां करालास्यां पीनोन्नतपयोधराम् ॥
सृक्कद्वयगलद्रक्तधाराभिः स्फुरिताननाम् ।
घोररावां महारौद्रीं श्मशानालयवासिनीम् ॥
बालार्कमण्डलाकारां लोचनत्रितयान्विताम् ।
शिवाभिर्घोररावाभिश्चतुर्दिक्षु भयानकाम् ॥
महाकालेन च समं विपरीतरतातुराम् ।
दन्तुरां दक्षिणव्यापिमुक्तालम्बिकचोच्चयाम् ॥
शवरूपमहादेवहृदयोपरिसंस्थिताम् ।
सुखप्रसन्नवदनां स्मेराननसरोरुहाम् ॥
एवं सञ्चिन्तयेत् कालीं सर्वकामार्थसिद्धिदाम् ॥

इस ध्यानमें कालीकी सृष्टिस्थितिसंहारकारिणी तथा परमपदप्रदायिनी महाशक्तिके भावका वर्णन किया गया है। उनका करालवदन मुण्ड-मालाभूषण, घोरदन्त, शोणितसिक्त मुखमण्डल, भीषणरव, रौद्री मूर्त्ति, श्मशानालयनिवास, चतुर्दिशाओंमें शिवा आदिकी भीषण ध्वनिसे उत्पन्न भयानक भाव, आदि समस्तही उनकी संहार मूर्त्तिको प्रकट करता है। संसारमें धर्मकी रक्षाके हेतु असुरनाशकारिणी तथा युगान्तमें प्रलयकारिणी श्यामा ऐसे ही रूपसे संहार करती है। पक्षान्तरमें उनका पीनोन्नतपयोधर, मुक्तकेश, सुख-प्रसन्नवदन, हास्यमय मुखपङ्कज, वराभयकर स्थिति व मुक्ति प्रदानके भावकी सूचना करता है। आद्या शक्ति समस्त संसारकी जननी व पालनकर्त्री है इस-

लिये पीनोन्नतपयोधरा है। उनका प्रसन्न वदन भी स्नेहमयी माताके वात्सल्य-भावकी सूचना करता है। उनके हस्तकी वरमुद्रा जगत्पालनशीलताका परिचय प्रदान करती है और अभयमुद्रा भवभयनाशकारिणी मुक्तिप्रदान-शक्तिकी सूचना करती है। उनका हास्यमय मुखपङ्कज मुक्त पुरुषकी दृष्टिमें सात्विक प्रकृतिका ज्योतिर्मय, प्रफुल्लतामय मधुर विकाश है। उनका दिगम्बर रूप मुक्त पुरुषकी दृष्टिमें अनादि अनन्त प्रकृतिका देशकालानवच्छिन्न व्यापक स्वरूप है। आद्याशक्ति मुक्तकेशी क्यों है? संसारका मायाजालही उनका केशपाश है जो महामायाके पृष्ठपर दोदुल्यमान रहा करता है। केशपाश दोदुल्यमान है इसलिये मायामुग्ध जीव सदा ही चञ्चल व परिणामस्वभाव हैं। पक्षान्तरमें मुक्तात्मागण मायामें बद्ध व चञ्चल न होकर स्थिर रहते हैं इस लिये अद्या शक्ति मुक्तपुरुषोंके लिये मुक्तकेशी अर्थात् मुक्तबन्धना है। यह उनके मुक्तकेशी होनेका तात्पर्य है। सद्भाव और चिद्भावके ओतप्रोत विकाशके द्वारा ही विश्व संसारकी स्थिति बनी रहती है। उनमेंसे चिद्भाव ज्ञान प्रधान होनेके कारण उसमें क्रियाशक्तिका अभाव है परन्तु सद्भावमें क्रियाशक्तिका आधिक्य है। सृष्टि स्थिति संहार दशामें क्रियाशक्तिका प्राधान्य रहनेसे सद्भाव मुख्य रहता है और चिद्भावकी गौणता रहती है। चिद्भावके केवल ईक्षण मात्र से ही सद्भावकी क्रिया होती है। यही कारण है कि प्रकृतिकी संहारलीलामें चिद्भावप्रधान शिव शवरूप होकर उनके चरणतलमें पड़े हुए केवल ईक्षणमात्र कर रहे हैं और सद्भावमयी आद्याशक्ति काली रणरङ्गिणी होकर क्रियाशक्तिका अपूर्व विलास प्रदर्शन कर रही है। पक्षान्तरमें मुक्तात्माकी प्रकृति स्वकीय वेगानुसार स्वयं ही कार्य करती है, उसमें मुक्तात्माकी इच्छा या प्रेरणाकी अपेक्षा नहीं रहती है इसी भावको प्रकट करनेके लिये मुक्तात्मा शिव प्रकृतिरूपिणी कालीके चरणतलमें शवरूप होकर सोये हुए हैं और विराट् प्रकृति उसके ऊपर विराजमान होकर अनन्त लीलाओंको दिखा रही है। प्रलयदशा के अनन्तर विराट् प्रकृति-गर्भमें विलीन अनन्त जीवसंस्कारराशि जिस समय क्रियोन्मुख होती है उसी समय निर्गुण भावापन्न परमात्मामें सगुण भावका उदय होता है। परब्रह्म निष्क्रिय व इच्छारहित होनेसे उनकी तरफसे कोई भी स्वतः प्रेरणा सृष्टिके लिये नहीं होती है। प्रकृतिकी ही समष्टि जीव-संस्कारानुसार अन्तर्निगूढ़ प्रेरणा स्त्री पुरुष भाव रहित नपुंसक ब्रह्ममें सृष्टिकारी पुंभावका विकाश

करा देती है। अतः सृष्टिकार्यमें प्रकृति ही प्रधाना है और ईश्वरकी अप्रधानता है। इसी भावको मुख्य रखकर श्रीगीताजीमें वर्णन है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥
कार्यकारणकर्त्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥

प्रकृति व पुरुष दोनों ही अनादि हैं और विकार व गुणसमूह प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं। प्रकृति ही कार्य व कारणकी हेतुरूपिणी है और पुरुष सुखदुःख भोगके हेतु हैं। अध्यात्म रामायणमें लिखा है—

रामो न गच्छति न तिष्ठति नानुशोच-
त्याकाङ्क्षते त्यजति नो न करोति किञ्चित्
आनन्दमूर्तिरमया परिणामहीनो-
मायागुणाननुगतो हि तथा विभाति॥

परमात्मामें गमन, अनुशोचन, आकाङ्क्षा, त्याग आदि क्रियाशीलताका कोई भी लक्षण नहीं है, मायाके द्वारा परिणाम भी उनमें नहीं होता है, केवल त्रिगुणमयी मायाके गुणानुसार तत्तद्भावापन्न प्रतीत मात्र होते हैं। वास्तवतः माया ही सृष्टि स्थिति संहार कार्यको गुणपरिणामानुसार करती रहती है। अर्थात् शिव परमब्रह्म निष्क्रिय हैं। प्रकृतिकी इस प्रकार प्रधानता व पुरुषकी गौणता बतानेके अर्थही कालीको महाकालके साथ विपरीतरतातुरा कहा गया है जिसमें शिव शवरूप होकर नीचे विराजमान हैं, और आद्या शक्ति महाकालके ऊपर चढ़ कर समस्त क्रियाओंको कर रही है। पक्षान्तरमें विपरीतरति मोक्ष प्रदानकारी भाव की सूचना करती है, क्योंकि यह बात विज्ञानसिद्ध है कि जब शिवसत्ता प्रकृतिके भीतर जानेसे संसार की उत्पत्ति होती है तो प्रकृति सत्ता शिवके भीतर प्रवेश करनेसे संसार का लय हो जायगा। इसलिये मुक्त पुरुष अपनी प्रकृतिको अपने भीतर लय करके ही विदेहमुक्ति लाभ कर सकते हैं। प्रकृतिकी विपरीतरतिमें प्रकृति महाकाल पर लीला करती हुई अन्तमें महाकालमें ही लय हो जाती है जिससे संसारमें जीवको मुक्तिपद प्राप्त हो जाता है। यही विपरीतरतिका मोक्षप्रद अध्यात्म भाव है और अन्यान्य

शास्त्रोंमें दूसरे रहस्य भी ऐसे वर्णित हैं कि सदा शिवरूपी परमब्रह्म निष्क्रिय अर्थात् तत्त्वातीत होकर शवरूप प्रतीयमान होते हैं और सर्वशक्तिमयी महामाया काली महाकालको अपने अधीन करके विपरीतरता रूपसे महाकालके आनन्दको देखती हुई ब्रह्माण्डकी सृष्टि स्थिति लयमें स्वयंही प्रवृत्त है। यह कार्यब्रह्मका दृश्य है जो निर्गुण चिन्मय ब्रह्ममें भासमान होता है। अतः इसी प्रकार देवी मूर्त्तिके सब भावों पर विचार करनेसे सिद्धान्त होगा कि उनकी सारी मूर्त्ति गुणक्रियानुसार अनन्तभावों का ही विकाश मात्र है।

भगवान् सूर्यके रूपके विषयमें योगशास्त्रमें ध्यान है यथा—

भास्वद्रत्नाऽऽढ्यमौलिः स्फुरदधररुचा रञ्जितश्चारुकेशो,
भास्वान्यो दिव्यतेजाः करकमलयुतः स्वर्णवर्णः प्रभाभिः।
विश्वाकाशावकाशे ग्रहगणसहितो भाति यश्चोदयाद्रौ,
सर्वानन्दप्रदाता हरिहरहृदयः पातु मां विश्वचक्षुः॥

उत्तम रत्नसमूह जिनके मस्तकको शोभा दे रहे हैं, जो चमकते हुए अधर ओष्ठकी कान्तिसे शोभित होरहे हैं, जिनके सुन्दर केश हैं, जो भास्वान् अलौकिक तेजसे युक्त हैं, जिनके हस्तोंमें कमल हैं, जो प्रभाके द्वारा स्वर्णवर्ण हैं, जो ग्रह वृन्दके सहित आकाश देशमें उदय पर्वत पर शोभा पाते हैं, जिनसे समस्त मानवलोग आनन्द प्राप्त करते हैं हरि और हर जिनके हृदयमें स्थित हैं, ऐसे विश्वचक्षु भगवान् सूर्यदेव मेरी रक्षा करें। इस ध्यानमें सारे रूपोंके द्वारा ब्रह्मके ज्योतिर्मय प्रभावका वर्णन किया गया है। श्रीपरमात्मा सूर्यात्मारूपसे सूर्यमें विराजमान हैं और उनकी परम ज्योतिका स्थूल दृश्य सूर्य है। इसी भावको प्रकट करनेके अर्थ ही सूर्यध्यानमें इस प्रकार ज्योतिर्मय रूपका वर्णन किया गया है। सूर्य किरणमें हरित, पीत, लाल, नील आदि सप्तवर्णोंके समन्वय हेतु ही सूर्यकिरण श्वेतवर्ण हैं। इसलिये सप्तवर्णके रूपसे सप्ताश्वको सूर्यका वाहन कहा गया है। क्योंकि ज्योतिर्मय कारणब्रह्मसे जब कार्यब्रह्म का आविर्भाव होगा उस समय सप्त रंग ही प्रथम परिणाम होता है इसी कारण व्यक्तावस्थाका द्योतक वाहन और अव्यक्तरूपी ज्योतिर्मय सगुण ब्रह्मका द्योतक सूर्यध्यान है। और हाथका कमल मुक्ति का प्रकाशक है, अर्थात् जीवको मुक्ति देना जिसके हाथमें है। अरुण का उदय सूर्योदयसे पूर्व होता है इसलिये सप्ताश्ववाही रथके सारथि सूर्यके सन्मुख विराजमान अरुण हैं। इसी प्रकारसे

सूर्य भगवान्‌की मूर्त्तिकी प्रतिष्ठा भास्वान् भावोंके अनुसार की गई है ।

शास्त्रमें गणपतिकी मूर्त्तिके विषयमें निम्नलिखित ध्यान बताया गया है—

खर्वं स्थूलतनुं गजेन्द्रवदनं लम्बोदरं सुन्दरं,
प्रस्यन्दन्मदगन्धलुब्धमधुपव्यालोलगण्डस्थलम् ।
दन्ताघातविदारितारिरुधिरैः सिन्दूरशोभाकरं,
वन्दे शैलसुतासुतं गणपतिं सिद्धिप्रदं कर्म्मसु ॥

जिनकी आकृति खर्व है, शरीर स्थूल है, मुख गजेन्द्रका है, उदर विशाल है, जो सुन्दर है, जिनके गण्डस्थलसे मदधारा प्रवाहित हो रही है और भ्रमरगण गन्धलोभसे चञ्चल होकर गण्डस्थलमें एकत्रित होरहे हैं, जिन्होंने अपने दन्तोंके आघातसे शत्रुओंको विदीर्ण करके उनके रुधिरसे सिन्दूर-शोभाको धारण किया है और जो समस्त कर्मोंमें सिद्धि प्रदान करते हैं ऐसे पार्वती-तनय गणेशजीको नमस्कार है । शास्त्रमें गणपतिको ब्रह्माण्डके सात्विक सुबुद्धि राज्य पर अधिष्ठात्री देवता कहा गया है यथा—

बुद्धिर्गणेशो मम चक्षुरर्कः शिवो ममात्मा मम शक्तिराद्या ।
विभेदबुद्ध्या मयि ये भजन्ति मामङ्गहीनं कलयन्ति मूढाः ॥

गणपति परमात्माके बुद्धिरूप हैं, सूर्य चक्षुरूप हैं, शिव आत्मारूप और आद्या प्रकृति जगदम्बा शक्तिरूप हैं । जो मूढ़ इस रहस्यको न जानकर भेद बुद्धिसे मेरी भजना करता है वह मुझे अङ्गहीन करता है । इस श्लोकमें गणपति श्रीभगवान्‌की बुद्धिरूपसे वर्णित किये गये हैं । गायत्रीमें जोः—

" धियो यो नः प्रचोदयात् "

कह कर बुद्धिके प्रेरकरूपसे परमात्माका ध्यान किया गया है उसी भावसे गणपतिका सम्बन्ध है ।

गणपतिके ध्यानमें जिस प्रकार रूप बताया गया है तदनुसार भावोंपर संयम कर देखनेसे साधकको ज्ञात होगा कि ब्रह्माण्डव्यापिनी सुबुद्धिके अधिष्ठातृत्व विचारसेही ऐसा रूप बनाया गया है । जो बुद्धि अद्वैतमय परमात्मामें समस्त संसार-प्रपञ्चका विस्तार करे वह कुबुद्धि है और जो बुद्धि संसारकी द्वैतताको नष्ट करके अद्वितीय ब्रह्मभावकी प्रतिष्ठा करे वही सुबुद्धि है । गणेशजी सुबुद्धिके देवता होनेके कारण खर्वकाय व स्थूलतनु हैं ।

सुबुद्धिके द्वारा मायामय संसारप्रपञ्चका विस्तार खर्व होकर अद्वितीय भावमें लवलीन होता है इसलिये गणेशजी खर्वकाय हैं। सुबुद्धि भीतरसे पुष्ट होती है व सारवत्तासे युक्त होती है इसलिये गणेशजी स्थूलतनु हैं। गणेशजीके स्कन्धपर हस्तीका मुण्ड होनेका हेतु बहुत गूढ़ है। समस्त देवता प्रकृतिके भिन्न भिन्न राज्य पर विराजमान चेतन सञ्चालक-शक्ति होनेके कारण दैवीप्रकृतिसे लेकर मनुष्येतर पश्वादि प्रकृति पर्यन्त देवताओंका सम्बन्ध रहता है। उसी सम्बन्धके अनुसार भिन्न भिन्न प्रकृतिके पशुओंको तथा पक्षियोंको कहीं वाहन रूपसे, कहीं शरीरके सम्बन्धसे, उन देवताओंके मूर्त्तिस्थापनमें वर्णन किया गया है। उदाहरण स्थलपर शीतलादेवीको समझ सकते हैं। प्रकृतिके जिस अङ्गके साथ वसन्त (चेचक) रोगका सम्बन्ध है उस प्रकृतिकी अधिष्ठात्री देवी शीतला है। और उस दैवी प्रकृतिसे ठीक समभावापन्न पाशविक प्रकृतिमें गर्दभकी योनि है। इसी सम्बन्धके कारण ही शीतला खरवाहिनी है। खरकी प्रकृति दैवीराज्यमें शीतलासे सम्बन्ध रखनेके कारण जिस प्रकार शीतलाके पूजन द्वारा देशव्यापी वसन्तरोग शान्त होता है, उसी प्रकार खरविष्ठाका धूप लगानेसे भी और खरके साथ एक स्थान पर रहनेसे भी वसन्त रोगमें बहुत शीघ्र आरोग्यलाभ होता है। अन्यान्य अनेक देवदेवियोंके पशुपक्षी आदि विविध प्रकारके वाहन होनेके मूलमें भी यही विज्ञान निहित है। इस विज्ञानके अनुसार विचार करनेसे सिद्धान्त होगा कि जिस प्रकृति के अधिष्ठाता गणपति देव हैं उसी प्रकृतिसे समभावापन्न पाशविक प्रकृति बुद्धि-राज्यमें हस्तीकी है और इसीलिये समस्त पशुओंमें हस्तीकी बुद्धि तीक्ष्ण-तम है। अतः इस प्रकार प्रकृतिकी एकता होनेके कारणही बुद्धिराज्यके अधिष्ठाता गणेशजी गजेन्द्रवदन हैं। परन्तु गजेन्द्रवदन होनेपर भी दो दन्त न होकर गणेशजीका जो एकही दन्त है इसका कारण यह है कि गणेशजी सुबुद्धिके देवता हैं, कुबुद्धिके नहीं। क्योंकि कुबुद्धि चित्तवृत्तिको एकसे अनेक-की ओर प्रवाहित करती है और सुबुद्धि सर्वदा अद्वितीयताकी ओर ही जीवको उन्मुख करती है। इसी अद्वैत भावप्रवणताके कारण गणपति एकरदेश्वर कहलाते हैं। गणेशजीका लम्बोदर—सुबुद्धि की गँभीरताका सूचक है। द्वैतभावमें प्रपञ्चका विस्तार है परन्तु गाम्भीर्य नहीं है और सुबुद्धि-परिणामी अद्वैत भावमें प्रपञ्चका विस्तार नहीं है परन्तु भावकी गँभीरता

है, यही लम्बोदर होने का तात्पर्य है। गजेन्द्रवदनका मदस्राव सुबुद्धिमथित ज्ञानामृत है जिसके पान करनेके लिये मुमुक्षु मधुकर सदाही व्यग्र रहते हैं। इसी भाव का—

"प्रस्यन्दन्मदगन्धलुब्धमधुपव्यालोलगण्डस्थलम्"

यह ध्यान बताया गया है। सुबुद्धिका जो अद्वैतभावमय अमोघ अस्त्र है उसके द्वारा प्रपञ्चपरिणामिनी माया की तामसिक आसुरी शक्तियोंका समूल नाश हो जाता है। इसी भावको प्रकट करनेके लिये कहा गया है कि गणेशजीने दन्तके आघातसे समस्त शत्रुओंको मार दिया है। जहांपर सत्त्वगुणके द्वारा रजोगुण व तमोगुण नष्ट हो जाता है वहांपर रजोगुणकी तमोगुणके साथ तुलनामें सत्त्वगुणकी माधुरी और भी बढ़ने लगती है। इसलिये दन्ताघातसे विनष्ट असुरोंकी रुधिरधाराके द्वारा गणपतिकी शोभा वृद्धिगत हुई है ऐसा वर्णन किया गया है। शैलसुता जगज्जननी आद्या प्रकृति है, उसी प्रकृतिके सात्त्विक विद्याभावसे सुबुद्धिकी उत्पत्ति होती है। इसलिये गणपति शैलसुतासुत हैं। सुबुद्धिकी सहायतासे सकल कार्यमें सिद्धि प्राप्त होती है। इसलिये गणेशजी सिद्धिदाता करके वर्णन किये गये हैं। गणेशजीका वाहन मूषक कुतर्कका रूप है। जिस प्रकार किसी वस्तुका मूल्य व आवश्यकता न समझकर सभीको काट देना मूषकका स्वभाव है, उसी प्रकार कुतर्कीका भी स्वभाव यह है कि किसी विज्ञान या शास्त्रकी गम्भीरताको न समझकर सबका खण्डन कर देवे। सुबुद्धि इस प्रकार कुतर्कको दबा रखती है, प्रबल होने नहीं देती है। इसलिये कुतर्क-रूपी मूषकको सुबुद्धिके देवता गणपतिजीने वाहनरूपसे दबा रक्खा है। गणपतिका शरीर इतना बड़ा है परन्तु उनके वाहन मूषकका शरीर इतना छोटा है, इसका तात्पर्य यह है कि गम्भीर विचारके द्वारा भगवद्विज्ञानके विषयमें तर्ककी अप्रयोजनीयता व निरर्थकता जितनीही मनुष्यको मालूम होती है उतनीही उसमें कुतर्कबुद्धिकी कमी व सुबुद्धिकी वृद्धि हुआ करती है। शास्त्रमें लिखा है—

"नैषा मतिस्तर्केणापनेया"

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केणयोजयेत्"

भगवद्विषयिणी बुद्धि तर्कके द्वारा नहीं प्राप्त होती है, जो चिन्तासे अतीत भावसमूह हैं उन्हें तर्कके द्वारा प्राप्त करनेकी स्पर्द्धा नहीं करनी चाहिये। इस प्रकार विचार व शास्त्र प्रमाणद्वारा जितनी सुबुद्धि-सुलभ श्रद्धा भक्ति

आदि वृद्धिगत होती है उतनी ही चित्तमेंसे तर्कबुद्धि कम होती जाती है। इसलिये सुबुद्धिके सञ्चालक गणेशजी जितने वृहदायतन हैं, कुतर्करूपी मूषिक भी उतना ही क्षुद्रकाय है, ऐसा भाव उक्त प्रकारके रूपके द्वारा प्रकट किया गया है। यही सब प्रकृतिलीलाजनित भावानुसार गणपतिके रूप-वर्णनका तात्पर्य है।

इस पूर्वकथित सगुण पञ्चोपासनाके विष्णु, शिव, देवी, सूर्य और गणपति इन पांचों सगुण परब्रह्मके जो प्रचलित रूप हैं उन्हींको सम्मुख रखकर मन्त्रयोगके अनुसार आध्यात्मिक रहस्यका कुछ दिग्दर्शन करनेका यत्न किया गया है। गुरुभक्तिपरायण व शास्त्रज्ञ शिष्य अपनी अपनी इष्ट मूर्त्तिका रहस्य इसी प्रकारसे समझनेमें समर्थ होते हैं। यह सब अति गूढ़ विषय हैं। परमात्मा एक, अद्वितीय, निराकार व सर्वव्यापक होने पर भी किस प्रकारसे पञ्च सगुणरूपमें प्रकट होते हैं उसके लिये शास्त्रका एक प्रमाण दिया जाता है। यथा—

विष्णुश्चिता यस्तु सता शिवः सन्
स्वतेजसार्कः स्वधिया गणेशः।
देवी स्वशक्त्या कुशलं विधत्ते
कस्मैचिदस्मै प्रणतिः सदास्ताम्॥

जो परमात्मा चित् भावसे विष्णुरूप होकर, सत् भावसे शिवरूप होकर, तेजरूपसे सूर्यरूप होकर, बुद्धिरूपसे गणेशरूप होकर और शक्तिरूपसे देवीरूप होकर जगत्का कल्याण करते हैं ऐसे परब्रह्मको नमस्कार है। तात्पर्य यह है कि सच्चिदानन्दमय, मन वाग् बुद्धिसे अतीत, निराकार, निष्क्रिय, तत्त्वातीत, निर्गुण पद कुछ और ही है। वह निर्गुण परब्रह्म भाव जब सगुण रूपसे उपासक भक्तके सम्मुख ध्याता ध्यान ध्येयरूपी त्रिपुटीके सम्बन्धसे आविर्भूत होता है तब सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवलम्बन या तो चित्भावमय होगा, या सद्भावमय होगा, या तेजोमय होगा, या बुद्धिमय होगा, या शक्तिमय होगा। चिद्भावका अवलम्बन करके जो भावना चलेगी वह विष्णुरूपमें परिणत होगी, जो सद्भाव अवलम्बन करके चलेगी वह शिवरूपमें परिणत होगी, जो दिव्य तेजोभावको अवलम्बन करके चलेगी वह सूर्यरूपमें परिणत होगी, जो विशुद्ध बुद्धि भावको अवलम्बन करके अग्रसर होगी वह गणपतिरूपमें परिणत होगी और जो अलौकिक अनन्तशक्तिका अवलम्बन करके अग्रसर

होगी वह देवीके रूपमें परिणत होगी। पाँचों रूपही सगुण ब्रह्मके परिचायक होते हुए पाँचों भावोंके अवलम्बनसे पञ्चधा बन गये हैं।

अब वैदिक कर्मकाण्डके प्रधान देवता अग्निदेवके रूपका कुछ वर्णन करके इस रूपरहस्य वर्णनको समाप्त किया जाता है।

अग्निदेवके ध्यानवर्णन प्रसङ्गमें श्रुतिने कहा है—

'ओं चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्ता सो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आविवेश॥'

नाम, आख्यात, उपसर्ग व निपात ये चार जिसके शृङ्ग हैं, भूत भविष्यत् वर्त्तमान ये तीन जिसके चरण हैं, नित्यशब्द व कार्यशब्द जिसके दो मस्तक हैं, प्रथमासे सप्तमी पर्यन्त सात विभक्ति जिसके सात हस्त हैं, हृदय कण्ठ व मस्तकमें जो अग्नि बद्ध रहता है, जो साधकोंके सम्पूर्ण मनोरथकी वृष्टि करनेवाला है, वही शब्दब्रह्मरूप महान्देव स्वरवर्णात्मक शब्दसमूहका आविर्भाव करके मनुष्यदेहमें परिव्याप्त है। इस मंत्रके द्वारा वेदमें सिद्ध किया गया है कि गुण व क्रियाके भावानुसार ही अग्निदेवताकी स्थूल मूर्तिकी प्रतिमा की जाती है। इस प्रकार अन्यान्य देवताओंकी अनेक मूर्त्तियाँ जो वेद, स्मृति, पुराणादि शास्त्रमें बहुधा प्राप्त होती हैं उनपर भी विचार करनेसे यही सिद्धान्त होगा कि अनादि अनन्त प्रकृतिके भिन्न भिन्न विभागोंकी सञ्चालनक्रियाके अनुसार ही इन सब देव व देवियोंकी मूर्त्तियां बनी हुई हैं। अतः जो पहले कहा गया था कि रूप भावका ही विकाशमात्र है और प्रतिमापूजनमें परिकल्पित समस्त मूर्त्तियाँ भावानुसार ही प्रतिष्ठित की जाती हैं सो उपर्युक्त मूर्त्तिविज्ञान प्रसङ्गोंके द्वारा सम्यक् प्रमाणित हो गया।

ऊपर जितनी मूर्त्तियोंका वर्णन किया गया है उनमेंसे विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य और गणपतिकी पञ्चमूर्त्ति सगुण पञ्चोपासना रूपसे मन्त्रयोगमें विहित की गई है। यह पञ्चमूर्त्ति देवताओंकी मूर्त्ति नहीं है परन्तु सगुण ब्रह्म ईश्वरकी ही पञ्चतत्त्वभेदानुसार पञ्चमूर्त्ति हैं। यथा योगशास्त्रमें:—

"उपासनं पञ्चविधं ब्रह्मोपासनमेव तत्"

सगुण ब्रह्मोपासनामें विहित गणपति, सूर्य, शक्ति आदि सामान्य देव देवियाँ नहीं हैं परन्तु सगुण ब्रह्म ईश्वरके ही सब रूप हैं। यथा योगशास्त्रमें—

प्रकृतेः पर एवान्यः स नरः पञ्चविंशकः।
तस्येमानि च भूतानि तेन नारायणः स्मृतः॥
सविता सर्वभूतानां सर्वान् भावान् प्रसूयते।
सवनात्पावनाच्चैव सविता तेन चोच्यते॥
ब्रह्माण्डमूलभूता या पूजिता देवतागणैः।
ईशनात्सर्वलोकस्य मता सा वै महेश्वरी॥
गुणत्रयेश्वरोऽतीततत्त्वोऽव्यक्तः सुनिर्मलः।
गणानामीश्वरो यस्मात्तस्माद् गणपतिर्मतः॥
ब्रह्मादीनां सुराणां च मुनीनां ब्रह्मवादिनाम्।
तेषां महत्त्वाद्देवोऽयं महादेवः प्रकीर्तितः॥
देवपञ्चकमित्याहुरेकं देवं सुधीवराः।
एकमेव परं ब्रह्म परमात्मपराऽभिधम्॥

जो पुरुषप्रकृतिसे अतीत और पच्चीसवाँ तत्त्व है, यह सम्पूर्ण चराचर जगत् जिसके अधीन है उसको नारायण कहते हैं। जो सम्पूर्ण प्राणी और समस्त पदार्थोंको उत्पन्न करता है और जगत्को पवित्र करता है इस कारण उसे सूर्य कहते हैं। जो इस ब्रह्माण्डकी मूलस्वरूपा है, जिसकी देवतागण पूजा किया करते हैं, जो जगत्की ईश्वरी है, इस कारण उसे महेश्वरी कहते हैं। जो त्रिगुणका स्वामी है, तत्वातीत अव्यक्त और नितान्त निर्मल है और जो गुणोंका प्रभु है अतः वह गणपति कहा जाता है। ब्रह्मादि देवतागण, मुनि और ब्रह्मवादियोंमें जो सबसे महान् है उस देवको महादेव कहते हैं। इस प्रकार एक ही परमात्मा ईश्वरके पञ्चदेवरूप पाँच भेद पूज्यपाद महर्षियोंने किये हैं। परन्तु एक ईश्वरकी इस प्रकारसे पञ्च-मूर्त्ति बनाकर पञ्चोपासनाके विधान करनेका प्रयोजन क्या है? इसके उत्तरमें योगशास्त्रमें लिखा है—

मानवानां प्रकृतयः पञ्चधा परिकीर्त्तिताः।
यतो निरूप्यते सर्गः पञ्चभूतात्मको बुधैः॥
भिन्ना यद्यपि भूतानां प्रकृतिः प्रकृतेर्वशात्।

तथापि पञ्चतत्त्वानामनुसारेण तत्त्ववित् ॥
प्रत्येकतत्त्वप्राचुर्य्यं विमृश्य विधिपूर्वकम् ।
उपासनाधिकारस्य पञ्च भेदमवर्णयत् ॥

क्षिति, अप्, तेज, मरुत् व व्योम इन पञ्च तत्त्वोंके द्वारा समस्त सृष्टि उत्पन्न होनेसे तत्त्वोंके अनुसार मनुष्य प्रकृति भी पांच प्रकारकी होती है। यद्यपि प्राकृतिक वैचित्र्यके कारण सब मनुष्योंकी प्रकृतिमें कुछ न कुछ भेद रहता है परन्तु आकाश आदि पञ्च तत्त्वके अनुसार प्रत्येक तत्त्वकी अधिकता के विचारसे मनुष्यके उपासनाधिकारको महर्षियोंने पांच भेदमें वर्णन किया है। संसारमें प्रायः ऐसा देखा जाता है कि बालकपनसे प्रत्येक मनुष्यकी किसी न किसी भिन्न भिन्न देवतामें स्वाभाविक रुचि रहती है। बालकपनसे ही स्वभावतः किसीको शिवजी अच्छे लगते हैं, किसीको विष्णुजी या कृष्णजी अच्छे लगते हैं, किसीको दुर्गाजी या कालीजी अच्छी लगती है इत्यादि। इस प्रकार बालकपनसे ही भिन्न भिन्न उपास्यदेवमें स्वाभाविकी रुचि होनेका कारण प्रकृति वैचित्र्य ही है। इसी वैचित्र्यके अनुसार ही एक ईश्वरकी पांच मूर्त्ति विहित की गई हैं। अर्थात् जिस तत्त्वके साथ जिस मूर्त्तिका अधिदैव सम्बन्ध है उस तत्त्वप्रधान प्रकृतियुक्त साधकके लिये वही मूर्त्ति ध्यानयोग्य बताई गयी है। क्योंकि प्रकृतिके अनुकूल इष्टदेव मूर्त्ति होनेसे उसमें अनायास ही साधकका चित्त आकृष्ट व एकाग्र होगा जिससे ध्यानयोगमें विशेष लाभ हो सकेगा। तत्त्वोंके साथ पञ्चदेवोंका सम्बन्ध निम्नलिखित रूपसे मन्त्रयोग संहिता तथा कापिल तन्त्रमें वर्णन किया गया है—

आकाशस्याधिपो विष्णुरग्नेश्चैव महेश्वरी ।
वायोः सूर्य्यः क्षितेरीशो जीवनस्य गणाधिपः ॥
गुरवो योगनिष्णाताः प्रकृतिं पञ्चधा गताम् ।
परीक्ष्य कुर्युः शिष्याणामधिकारविनिर्णयम् ॥
ऋतम्भराधिया ज्योतिःस्वरोदयसहायतः ।
उपासनाधिकारो वै निर्णेतुं शक्यते ध्रुवम् ॥
चित्तसंवेगवैराग्यधारणादिविनिर्णयम् ।

परीक्ष्य चाऽस्यान्तरिकान् भावांश्छिष्यस्य योगवित् ॥
तत्सम्प्रदायनियमं तेषां प्रकृतिसन्निभम् ।
करोति जीवकल्याणकल्पनाकलितान्तरः ॥

आकाशतत्त्वके अधिपति विष्णु हैं, अग्नितत्त्वकी अधिपति महेश्वरी हैं, वायुतत्त्वके सूर्य, पृथिवी तत्त्वके शिव और जलतत्त्वके गणेश हैं। योगमें पारदर्शी गुरुदेव शिष्यकी प्रकृति तत्त्वानुसार निर्णय करके उसके उपासनाधिकार अर्थात् इष्टदेवका निर्णय कर देवें। ऋतम्भरा प्रज्ञा, स्वरोदय अथवा ज्योतिष, इन तीनोंकी सहायतासे उपासनाधिकार निर्णय किया जा सकता है। ऋतम्भरा प्रज्ञायुक्त योगी साधकको देखते ही कह सकते हैं कि उसमें कौन तत्त्व प्रधान है और तदनुसार कौन इष्टदेव होना चाहिये। यदि गुरुमें ऐसा उच्चाधिकार न हो तो स्वरोदय प्रक्रियाके द्वारा भी तत्त्वका पता लग सकता है। यदि ऐसा भी न हो सके तो कुलाकुलचक्र, राशिचक्र आदि ज्योतिष चक्रोंकी सहायतासे भी तत्त्वनिर्णय व उपास्य निर्वाचन किया जा सकता है। इस प्रकारसे तत्त्वोंके अनुसार उपासनाधिकार निर्णय होनेके अनन्तर शिष्यके आन्तरिक भावोंकी परीक्षा द्वारा और उसके चित्तसंवेग, वैराग्य, धारणा आदिके निर्णय द्वारा प्रकृतिके अनुसार उसके सम्प्रदाय व ध्येयरूपविशेषके निर्णय करनेसे साधकका कल्याण होता है।

ऊपरोक्त पञ्चोपासनाविज्ञान द्वारा स्पष्ट सिद्धान्त होगा कि आजकल इन पञ्च मूर्त्तिओंको लेकर जो साम्प्रदायिक विरोध उत्पन्न हुआ है सो सर्वथा निर्मूल व अज्ञानका ही फल है। जब पञ्चदेवता एकही ईश्वरके रूप हैं, भिन्न भिन्न देवता नहीं हैं, केवल साधकके कल्याणार्थ ही तत्त्वानुसार एकको पांच रूपमें बताया गया है, तो शिव विष्णुसे बड़े हैं, विष्णु शिवसे बड़े हैं इत्यादि रूपसे भेद मानकर जो साम्प्रदायिक लोग झगड़ा करते हैं सो सर्वथा व्यर्थ है। यह विवाद यहां तक बढ़ गया है कि एक सम्प्रदायके लोग दूसरे सम्प्रदायके नामसे चिड़ते हैं, उनके इष्टदेवका नाम लेना भी पाप समझते हैं, एक दूसरेके मन्दिरमें नहीं जाते हैं और कहीं कहीं जाने भी नहीं देते हैं, परस्परके चित्तमें घोरईर्ष्यानल प्रज्वलित रहता है, जिसके फलसे इन सब सम्प्रदायोंमें आज कल धर्मके बदले अधर्मकी ही उत्पत्ति हो रही है। अतः पञ्चोपासना-सम्प्रदायोंके आचार्योंका कर्त्तव्य है कि ऊपरोक्त पञ्चोपासनाविज्ञानको भली भांति

हृदयङ्गम करके अपने अपने चित्तमें शान्ति धारण करें और अपने शिष्यवर्गोंको भी इसका तत्त्व ठीक ठीक समझाकर शान्तिमय साधन पथमें अग्रसर करें तभी भारतका यथार्थ कल्याण संसाधित होगा। पञ्चदेवोपासनामें प्रत्येक मूर्त्ति ही जगत्कारण ईश्वरकी मूर्त्ति होनेके कारण इन उपासनाओंके भाव-प्रकाशक शिवपुराण, विष्णुपुराण, गणेशपुराण आदि पञ्च पुराणोंमें शिव विष्णु आदि पञ्चमूर्त्तिको जगदादिकारण, जगद्योनि, सर्वशक्तिमान् ईश्वर रूपसे वर्णन किया गया है, यथा-शिव पुराणमें शिवही परमात्मा हैं और ब्रह्मा विष्णु-आदि उनसे उत्पन्न हुए हैं, विष्णु पुराणमें विष्णु ही परमात्मा हैं और शिव, ब्रह्मा आदि उनसे उत्पन्न हुए हैं, गणेश पुराणमें गणेश ही जगत्कारण परमात्मा हैं और ब्रह्मा विष्णु आदि उनसे उत्पन्न हुए हैं। और देवी भागवतादिमें कहा गया है कि देवीसे ही ब्रह्मा, विष्णु व महेश तीनों पुत्र रूपसे उत्पन्न हुए हैं। इत्यादि रूपसे भाव प्राधान्यानुसार सभीको ईश्वर कहा गया है जो ऊपरोक्त पञ्चोपासनाविज्ञानानुसार यथार्थ है। अतः इन सब पुराणोंको लेकर भी विवाद और ईर्षा द्वेष उत्पन्न नहीं होना चाहिये। भावके प्राधान्यानुसार इन पुराणोंका वर्णनभेद-रहस्य पुराणके अध्यायमें पहलेही वर्णित किया गया है अतः पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है।

यह बात पहिलेही कही गई है कि हिन्दूजाति पाषाणादिमयी मूर्त्तिकी पूजा नहीं करती है परन्तु पाषाण, काष्ठ, मृत्तिका आदि उपादानोंके द्वारा पूर्व वर्णित भावोंके अनुसार मूर्त्तिकी प्रतिष्ठा करके, श्रीभगवान्‌की सर्वव्यापिनी दिव्य शक्तिको उस मूर्त्तिरूपी जरियेके द्वारा प्रकट करके मूर्त्तिमें भाव व शक्तिकी पूजा करती है। भावके अनुसार मूर्त्ति कैसे बनायी जाती है सो पहले कहा गया है। अब उस भावानुसार बनी हुई मूर्त्तिमें दिव्यशक्तिका आविर्भाव किस तरहसे हो सकता है सो बताया जाता है।- कुलार्णव तन्त्रमें लिखा है—

गवां सर्वाङ्गजं क्षीरं स्रवेत् स्तनमुखाद् यथा ॥
तथा सर्वगतो देवः प्रतिमादिषु राजते ॥

जिस प्रकार गोदुग्ध गोमाताके समस्त शरीरमें व्याप्त रहने पर भी स्तनोंके द्वारा ही वह दुग्ध क्षरित होता है, उसी प्रकार श्रीभगवान्‌की शक्ति सर्वत्र व्याप्त होनेपर भी प्रतिमारूपी जरिये (medium) के द्वारा वह शक्ति

प्रकट होती है। परन्तु स्तनोंके द्वारा युक्तिसे जिस प्रकार गोदुग्ध निकाला जाता है, उस प्रकार प्रतिमाके अवलम्बनसे (medium) भगवत् शक्ति प्रकट करानेके लिये कौन कौन उपाय आवश्यकीय है सो विचार करने योग्य हैं। कुलार्णव तन्त्रमें लिखा है—

आभिरूप्याच्च बिम्बस्य पूजायाश्च विशेषतः ।
साधकस्य च विश्वासाद्देवतासन्निधिर्भवेत् ॥

ठीक ध्यान व भावके अनुसार मूर्त्तिका निर्माण होनेसे, पूर्ण विधिके अनुसार पूजा होनेसे और प्रतिमामें श्रद्धा व विश्वास पूर्ण होनेसे दैवीशक्तिका विकाश प्रतिमा द्वारा होता है। शास्त्रमें इस प्रकार शक्तिविकाशको प्राणप्रतिष्ठा कहा गया है जिसके लिये वेदमें भी अनेक मन्त्र पाये जाते हैं।

" आयान्तु वः पितरः " " अग्नऽआयाहि "

इत्यादि वेदमन्त्रोंके द्वारा देवता व पितरोंके आवाहनकी विधि प्रमाणित होती है। इस प्रकारसे दैवीशक्तिको आवाहन करके ध्यानानुसार बनी हुई प्रतिमाके सर्वांगमें प्राणका संयोग अर्थात् दैवीशक्तिकी प्रतिष्ठा करना वेदादि शास्त्रसम्मत है।

" वाचे स्वाहा " " प्राणाय स्वाहा "
" चक्षुषे स्वाहा " "श्रोत्राय स्वाहा "

इत्यादि मन्त्रोंके द्वारा प्रतिमाके चक्षुरादि अङ्गोंमें तथा हृदयमें प्राणकी प्रतिष्ठा की जाती है। यजुर्वेदमें यज्ञमूर्त्तिमें प्राणप्रतिष्ठाके अर्थ ऐसे अनेक मन्त्र बताये गये हैं, यथा—

"या ते घर्म दिव्या शुग्या गायत्र्याᳬहविर्धाने सा त
आप्यायतान्निष्ट्यायतान्तस्मै ते स्वाहा " इत्यादि ।

हे धर्ममूर्त्ति! तेरी जो दिव्यशक्ति (दिव्या शुक्) समष्टिप्राणमें (गायत्र्यां) व समष्टि शरीरमें (हविर्धाने) विद्यमान रहती है वह दिव्यशक्ति (सा ते दिव्या शुक्) इस मूर्त्तिमें आकर प्रकट हो जायँ. (आप्यायतान्निष्ट्यायतां) उसी दीप्तिको लक्ष्य करके स्वाहा मन्त्रका उच्चारण किया जाता है। सारद-तिलकमें प्राणप्रतिष्ठाके विषयमें लिखा है—

सर्वेन्द्रियाण्यमुष्यान्ते वाङ्मनःचक्षुरन्ततः ।

श्रोत्रघ्राणपदे प्राण इहागत्य सुखं चिरम्।
तिष्ठन्त्वग्निवधूरन्ते प्राणमन्त्रोऽयमीरितः॥

इसके द्वारा वाक्, मन, चक्षु, श्रोत्र, घ्राण आदि सकल इन्द्रियोंमें प्राणशक्तिकी प्रतिष्ठाके लिये प्रार्थना की जाती है। इसके अतिरिक्त प्राणके प्रयोग मन्त्र भी तन्त्रशास्त्रमें वर्णन किये गये हैं जिनके द्वारा प्रतिमामें प्राणकी स्थापना की जाती है। यथा—ङं कं खं गं घं आकाशवायुवह्निसलिलभूम्यात्मने हृदयाय नमः। ञं चं छं जं झं शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मने शिरसे स्वाहा। इत्यादि प्रयोगमन्त्र प्राणप्रतिष्ठाके लिये हैं जैसा कि—

"प्राणाय स्वाहा"

आदि वैदिक मन्त्र पहले ही बताये गये हैं। अतः वेदादि शास्त्र प्रमाणोंके द्वारा सिद्ध हुआ कि भावानुसार मूर्त्ति निर्म्मित होकर विधिके अनुसार प्रतिष्ठा और पूजा ठीक ठीक होनेसे प्रतिमामें सर्वव्यापिनी भगवत् शक्तिका विकाश होता है। इसीको कुलार्णव तन्त्रमें—

"आभिरूप्याच्च बिम्बस्य"

इत्यादि श्लोकके द्वारा वर्णित किया गया है। मूर्तिमें शक्ति प्रकट करनेका तीसरा उपाय साधकोंकी श्रद्धा व विश्वास है। जिस प्रकार स्थूल वैद्युतिकशक्तिके विकाशके लिये विज्ञानशास्त्र (Science) में यह प्रक्रिया है कि विषम शक्ति (Nigative Electricity) समशक्तिका (Positive electiicity) और समशक्ति विषमशक्तिका सदा ही आकर्षण करके प्रकट कर देती है। उसी प्रकार दैवीशक्तिके राज्यमेंभी श्रद्धा व विश्वासकी विषमदैवीशक्ति (Nigative) divine power) श्रीभगवान्‌की सम दैवीशक्ति (Positive divine power) को मूर्त्ति या प्रतिमारूपी जरिये (Medium) के द्वारा प्रकट करती है। जिसप्रकार साधारण काचमें सूर्यकी किरण पड़ने पर भी उसमें सूर्यका उत्ताप आकर्षण करनेकी शक्ति नहीं है परन्तु जब प्रकृतिके परिवर्त्तन-नियमके अनुसार वही कञ्च आतशी कञ्च बन जाता है तो उसमें सूर्यके ताप-आकर्षणकी इतनी शक्ति हो जाती है कि उत्ताप आकर्षण करके आतशी कञ्च समस्त वस्तु दग्ध कर दे सकता है। उसी प्रकार सामान्य पाषाण, मृत्तिका, काष्ठ आदिमें श्रीभगवान्‌की शक्ति प्रकट करनेकी सामर्थ्य न होने पर भी, जब उसी पाषाणादिके द्वारा भावानुसार मूर्त्ति बनाई जाती है, विधिके अनुसार

उसकी प्राणप्रतिष्ठा और पूजा की जाती है और श्रद्धा भक्ति तथा विश्वासकी विषमशक्ति उसमें एकाग्र की जाती है तो वही पाषाणादि द्वारा निर्मित मूर्ति आतशी कञ्चकी तरह श्रीभगवान्‌की जगद्विहारिणी दिव्य शक्तिको साधककल्याणार्थ प्रकट करनेमे समर्थ हो जाती है इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। इस प्रकारसे प्राणप्रतिष्ठा द्वारा प्रतिमामें दिव्यशक्तिका आविर्भाव होनेसे अनेक प्रकारका चमत्कार भी दिखता है ऐसा वर्णन सामवेदके ब्राह्मणमें पाया जाता है, यथा—

"देवतायतनानि कम्पन्ते दैवतप्रतिमा हसन्ति रुदन्ति नृत्यन्ति स्फुटन्ति स्विद्यन्त्युन्मीलन्ति निमीलन्ति" इत्यादि।

देवताओंके स्थान कांपते हैं, देव प्रतिमा हँसती है, रोती है, नाचती है, किसी देशमें स्फुटनको प्राप्त होती है, स्वेदयुक्त होती है, नेत्र खोलती है, बन्द करती है इत्यादि। यह सब प्राणप्रतिष्ठा द्वारा मूर्त्तिमें दिव्यशक्तिके विकाशका लक्षण है और यह सब लक्षण प्रकृतिके या परिवारके भिन्न भिन्न अवस्थाके साथ सम्बन्ध रखते हैं जैसा कि देशमें महामारी या घरमें किसी उत्तम पुरुषकी मृत्युके समय प्रतिमा रोया करे या स्फुटन होजाय, कांप उठे, देशमें किसी महात्माके आविर्भावके समय या घरमें किसी मङ्गलमय कार्यके होते समय प्रतिमा नाचा करे, हँसा करे इत्यादि सब प्राणप्रतिष्ठाकी महिमाका परिचायक है।

इस प्रकारसे प्रकृति और प्रवृत्तिके अनुकूल श्रीभगवान्‌की भावानुसार निर्मित किसी मूर्त्तिमें चित्तको अर्पण करके उसीकी पूजा और ध्यान धारणा आदि साधनके द्वारा साधकका चित्त धीरे धीरे सांसारिक रूपादि विषयोंसे हटता हुआ भगवान्‌में ही मधुकरकी नाईं निविष्ट हो जाता है। भगवच्चरणकमलासक्त भक्त ध्याताध्यानध्येयरूपी त्रिपुटिके अवलम्बनसे साधनकी प्रथम दशामें इस प्रकार साधन करता हुआ रूपकी सहायतासे भावमें तन्मय होनेका प्रयत्न करता है। उस समय भक्तके एकाग्रचित्तमें यदि भावग्राही भगवान्‌के भावानुसार प्रकाशित रूपके दर्शनार्थ तीव्र लालसा और संवेग उत्पन्न हो तो सर्वशक्तिमान् भगवान् उन्हीं भावोंके अनुसार स्थूल मूर्त्ति धारण करके भक्तको दर्शन भी देते हैं, यथा श्रीमद्भागवतमें—

त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज
आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम् ।
यद् यद् धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय ॥

हे नाथ ! तुम भावयोगके द्वारा परिभावित होकर भक्तके हृदयसरोजमें अपनी मधुर मूर्त्तिको प्रकाशित करते हो और जिन जिन भावोंसे भक्त तुम्हारी भावना करता है उन्हीं भावोंके अनुसार मूर्त्ति धारण करके तुम भक्तके ऊपर कृपा करके उसे दर्शन देते हो । इस प्रकारसे श्रीभगवान्‌की मधुरमूर्त्तिका दर्शन करके साधकका नयन तथा मन परितृप्त और प्रफुल्लित हो जाता है । वह उस रूपको देखते देखते आनन्दमें मग्न होकर रूपके द्वारा भगवद् भावमें तन्मय होता हुआ भावसमाधिको प्राप्त करता है । यही मूर्त्तिपूजाका चरमफल और मन्त्रयोगकी यही भावसमाधि है । इस प्रकार भावसमाधिप्राप्त योगीका चित्त संसारसे विलकुल ही उपरत होकर पूर्ण वैराग्ययुक्त और निर्मल हो जाता है और तभी साधक योगीको राजयोगोक्त देश काल और वस्तुके द्वारा अपरिच्छिन्न, निराकार, निर्गुण ब्रह्मध्यानमें अधिकार प्राप्त होता है । वह राजयोगके षोड़श अङ्गोंका साधन नियमित रूपसे करता हुआ अन्तमें सर्वत्र विराजमान, अद्वितीय परब्रह्मसत्तामें अपने आत्माको विलीन करके निर्विकल्प समाधि और स्वरूपोपलब्धि दशाको प्राप्त कर लेता है और इस प्रकारसे जीवन्मुक्त महात्मा प्रारब्धक्षयपर्यन्त संसारमें ब्रह्मानन्दमें निमग्न रहकर प्रारब्धक्षयान्तमें विदेह मुक्ति लाभ करते हैं । यही सब साधनोंकी अन्तिम दशा है । यदि भावसमाधिके अनन्तर राजयोग साधनके पहले ही साधका शरीर त्याग हो जाय तो भगवान्‌की जिस मूर्त्तिके अवलम्बनसे महाभावसमाधि प्राप्त हुई थी उस देवताके लोकको भक्त देहान्तमें प्राप्त करते हैं । षष्ठलोकके अन्तर्गत इस प्रकार विष्णुलोक, शिवलोक, देवीलोक आदि आराध्यदेवलोक प्राप्त करके वहाँपर बहुत दिनोंतक निवास करते हैं और तदनन्तर उच्च ज्ञानाधिकार प्राप्त करके सप्तम लोकमें क्रमोद्र्ध्वगतिके द्वारा गमन करके वहाँसे मुक्त होकर परब्रह्ममें विलीन हो जाते हैं । सगुणोपासनाके द्वारा मुक्तिपद प्राप्त करनेके ये ही दो उपाय हैं । प्रथम उपाय द्वारा मुक्तिके विषयमें श्रुतिमें लिखा है—

"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते"

उसका प्राण ऊपर नहीं जाता हैं यही महाप्राणमें विदेहमुक्तिके समय मिल जाता है।

"गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा"

आदि मन्त्रोंके द्वारा इस गतिका वर्णन पहले ही किया गया है। द्वितीय उपायके द्वारा जो क्रममुक्ति होती है उसके लिये स्मृति प्रमाण हैं—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे।

परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परपदम्॥

इष्ट देवताके साथ उनके लोकमें प्रलय काल पर्यन्त वास करके प्रलय कालमें इष्टदेवके साथ भक्त परब्रह्ममें विलीन हो जाते हैं। मुण्डकोपनिषद्में भी लिखा है--

"सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा"

क्षीणपुण्यपाप साधक उत्तरायण गतिके द्वारा अव्ययात्मा यावत्संसार-स्थायी हिरण्यगर्भके लोकमें जाते हैं। गीतामें भी—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।

तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥

उत्तरायण गतिके द्वारा उपासक अग्नि, ज्योति, अहः, शुक्लपक्ष, षण्मास आदि अभिमानिनी देवताओंके लोगोंको अतिक्रमण करके ब्रह्मलोकमें आते हैं और वहांसे मुक्त होजाते हैं। देवी भागवतमें लिखा है—

भक्तौ कृतायां यस्यापि प्रारब्धवशतो नग।

न जायते मम ज्ञानं मणिद्वीपं स गच्छति॥

तत्र गत्वाऽखिलान् भोगाननिच्छन्नपि चार्च्छति।

तदन्ते मम चिद्रूपज्ञानं सम्यग् भवेन्नग॥

तेन मुक्तः सदैव स्याज्ज्ञानान्मुक्तिर्न चान्यथा।

इहैव यस्य ज्ञानं स्याद्धृद्गतप्रत्यगात्मनः॥

मम संवित्परतनोस्तस्य प्राणा व्रजन्ति न।

ब्रह्मैव संस्तदाप्नोति ब्रह्मैव ब्रह्म वेद यः॥

भक्ति करनेपर भी यदि प्रारब्धवशात् चिन्मयी प्रकृतिमाताका ज्ञान

उत्पन्न न हो तो मृत्युके बाद भक्त देवीलोक मणिद्वीपमें जाता है। वहाँ पर स्वतः ही उसे अनेक भोग्य वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। तदनन्तर वहाँसे ज्ञानलाभ करके परामुक्तिको भक्त प्राप्त करता है क्योंकि बिना ज्ञानके मुक्ति नहीं होती। पक्षान्तरमें जिस भक्तको यहाँ ही ज्ञानप्राप्ति हो जाती है उनको पुनः क्रममुक्तिमार्गमें नहीं जाना पड़ता है जैसा कि पहले कहा गया है—

"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति।"

वे ब्रह्मको जानकर ब्रह्मरूप बन जाते हैं। यही दो प्रकारकी मुक्तिका क्रम है। मुक्तिके विषयमें विस्तृत वर्णन आगेके समुल्लासमें किया जायगा।

जो भक्त भगवान्की पञ्चमूर्त्तिमेंसे किसीकी अर्थात् रामकृष्णादि अवतारोंकी उपासना न करके इन्द्रादि देवताओंकी उपासना करता है उसके ध्यानमें सुविधाके लिये उन देवताओंकी मूर्त्ति प्रकृतिके जिन जिन विभागों पर वे देवता अधिष्ठाता हैं उसके अनुसार जैसा कि पहले कहा गया है, बनाई जाती है। ऐसे देवोपासक लोग उन सब देवताओंके रूपमें ध्यान द्वारा तन्मय होकर प्रकृतिके उन भावोंमें आत्माको विलीन करके तत्तद्देवलोक प्राप्त करते हैं। परन्तु इस प्रकारकी देवोपासना प्रायः सकाम होनेसे इसका फल भी क्षणभङ्गुर ही होता है। इसलिये देवोपासना द्वारा देवलोक-प्राप्त साधक साधनाके फलसे उन लोकोंमें दिव्यभोगसमूह प्राप्त करता है। यथा श्रीगीतामें—

अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्।

परन्तु भोगके अन्तमें पुनः संसारमें उनको आना पड़ता है यथा गीतामें—

"अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्"

"क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति"

इस प्रकार सकाम देवोपासनाका फल नाशवान् होता है जिससे पुण्य क्षीण होनेपर ऐसे साधकको पुनः मर्त्य लोकमें आना पड़ता है। यही सगुण पञ्चोपासना व इतर देवोपासनाका फल है जिसका वर्णन श्रीभगवान्ने गीताजीमें किया है—

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥

देवताओंके उपासक लोग देवलोकको प्राप्त होते हैं, पितरोंके उपासक लोग पितृलोक, भूतोंके उपासक भूतलोक और श्रीभगवान्‌के उपासक लोग ब्रह्मधामको प्राप्त होते हैं। सो किस प्रकारसे होते हैं ऊपर वर्णन किया गया है।

अर्वाचीन पुरुषोंने मूर्त्तिपूजाके ऊपर लिखित तत्त्वको न जान कर उस पर अनेक कटाक्ष किये हैं। परन्तु वे सब कटाक्ष इतने हल्के व मूर्खतामूलक हैं कि उनपर विचार करना भी अपनेको हल्का बनाना है। इसलिये उन सब व्यर्थ कटाक्षकी बातों को छोड़कर जो कि मूर्त्तिरहस्य जानने पर खुद ही दूर हो जायंगी केवल दो तीन भ्रान्तिजनक कटाक्षों पर विचार किया जाता है। वे कटाक्ष निम्नलिखित हैं, यथा (१) मन्दिरमें व्यभिचार होता है इसलिये मूर्त्तिपूजा उठा देनी चाहिये (२) यदि मूर्त्तिमें शक्ति रहती तो मुसलमानोंके आक्रमणसे तथा चूहे आदिके चढ़नेसे मूर्त्तिने अपनेको बचाया क्यों नहीं (३) यदि आवाहन करनेसे मूर्त्तिमें देवता आते तो मूर्त्ति चैतन्य क्यों न हो जाती और इस प्रकारसे मरे हुए पुत्रके शरीरमें जीवको क्यों नहीं बुला सकते। प्रथम कटाक्षका उत्तर निम्न लिखित है। मन्दिर जैसे देवस्थानमें वेश्याका नृत्य व्यभिचार या अन्यान्य असत्कार्य होना बहुत ही निन्दनीय है क्योंकि इसमें केवल स्थानकी पवित्रता नष्ट होती है और दैवी शक्तिका अवहेलन होता है यही बात नहीं, अधिकन्तु जैसा कि पहले कहा गया है जिस देवमन्दिरमें इस प्रकार तामसिक कर्म व तामसिक भाव उत्पन्न होते हैं वहां पर प्रतिमामें दैवीशक्ति ठहर नहीं सकती है और ऐसी प्रतिमाके पूजन द्वारा उपासनाका फल नहीं प्राप्त होता है। यह बात पहले ही कही गई है कि भावके अनुसार बनी हुई मूर्त्तिमें दैवीशक्तिका विकाश तभी हो सकता है जब उपासक व भक्तोंकी श्रद्धा विश्वासकी शक्ति उस मूर्त्तिपर एकाग्र (Concentrated) हो। श्रद्धा विश्वासकी सात्त्विक शक्तिही श्रीभगवान्‌की सर्वव्यापिनी दैवीशक्तिको मूर्त्तिके द्वारा प्रकट कर लेती है। अतः जिस मन्दिरके पुरोहित सदाचारी व भक्त होंगे, समयशील तथा पूजापरायण व क्रियाकाण्डनिपुण होंगे और जिस मन्दिर स्थित मूर्त्तिपर मनुष्योंकी श्रद्धा व भक्ति होगी वहीं प्रतिमामें दैवीशक्ति आकृष्ट होगी। अन्यथा यदि मन्दिरमें पुरोहित दुराचारी व अभक्त तथा मूर्ख होंगे और वेश्यागान, व्यभिचार आदि तामसिक भावोत्पादक कार्य होगा जिससे लोगोंमें सात्त्विक भाव उत्पन्न न होकर श्रद्धा भक्ति ही नष्ट होजाय तो उस

मन्दिरकी प्रतिमामें श्रीभगवान्की दिव्यशक्ति कभी नहीं प्रकट हो सकेगी और पूर्व प्रकाशित दैवीशक्ति भी प्रतिमारूपी केन्द्रको छोड़कर व्यापक शक्तिमें मिल जायगी। अतः मन्दिरमें व्यभिचार, वेश्यानृत्य आदि दुराचरण कभी नहीं होना चाहिये। परन्तु इससे यह सिद्धान्त नहीं होता है कि व्यभिचारके डरसे मन्दिरको ही तोड़ दिया जाय। किसीकी आंखमें यदि फोड़ा हो तो फोड़ेके भयसे आंख फोड़ देना बुद्धिमत्ता नहीं है अपितु फोड़ेकी ही चिकित्सा करके फोड़ेको आराम कर देना बुद्धिमत्ता होगी। इसी प्रकार यदि मन्दिरमें व्यभिचार होता होगा तो व्यवस्थाके साथ व्यभिचारको दूर करना, वेश्यानाच आदि कुरीतियोंको नष्ट करनाही धर्म होगा और मूर्त्ति व मन्दिरको तोड़ देना धर्म नही होगा। आजकल प्रायः देखा जाता है कि धनी लोग मन्दिर बनवाकर उसीमें एक मूर्ख पुरोहितको नौकर रख देते और पीछे कुछ पूजा होती है कि नहीं कुछ भी इसकी खबर नहीं लेते जिसका यह फल प्रायः होता है कि विद्याभक्तिशून्य वह पुरोहित अपनेको उस मन्दिरकी सम्पत्तियोंका मालिक समझ लेता और यथेच्छ आचरण करता रहता है। इस प्रकार पुरोहितोंके अत्याचारसे अनेक मन्दिर भ्रष्ट होजाते हैं और दैवीशक्तिकी अवमानना होती है। इसलिये मन्दिर प्रतिष्ठाताको चाहिये कि इस प्रकार मन्दिरका जीर्णोद्धार करें योग्य पुरुषको पुरोहित रक्खें, नित्यपूजा आदिका प्रबन्ध ठीक ठीक करें, सम्पत्तिके कुछ अंशके द्वारा पुरोहित-विद्यालय स्थापन करके योग्य पुरोहित प्रस्तुत करें, दर्शक नर नारियोंके प्रतिमादर्शनकी व्यवस्था युक्तिपूर्वक कर देवें ताकि सभ्यता विरुद्ध किसी प्रकारके व्यवहारका मौका ही न होने पावे—इत्यादि इत्यादि प्रकारसे मन्दिरोंको जीर्णोद्धार व व्यवस्था करने पर व्यभिचार आदिकी सम्भावना नष्ट हो जायगी और सभी मनुष्य अपने अपने अधिकारके अनुसार मन्दिरोंमें देवदर्शन, देवपूजा आदि द्वारा परम कल्याण प्राप्त कर सकेंगे। अतः अर्वाचीन पुरुषोंका प्रथम कटाक्ष युक्तियुक्त मालूम नहीं होता। उनका दूसरा कटाक्ष यह है कि यदि मूर्त्तिमें शक्ति होती तो मुसलमानोंके आक्रमणसे तथा चूहे आदिके चढ़नेसे मूर्त्ति अपनी रक्षा अवश्य करती। इस बातके विचार करनेके पहले मूर्त्तिमें जो शक्ति आवाहन की जाती है उसकी प्रकृति कैसी है सो विचार करना चाहिये। संसारमें स्थूल या सूक्ष्म समस्त शक्ति ही दो प्रकारकी होती हैं—एक स्वतः क्रियाशील और दूसरी परतःक्रियाशील। इन्ही दो प्रकारकी शक्तिओंको

पाश्चात्य विज्ञानके अनुसार एक्‌टिव (Active) व प्यासिव (Passive) शक्ति (energy) कहते हैं। स्वतः क्रियाशील शक्ति वह होती है जिसमें स्वयं कार्य करनेकी प्रकृति हो और परतःक्रियाशील शक्ति वह होती है जिसमें स्वय कार्य करनेकी प्रकृति न हो केवल दूसरी ओरसे प्रेरणा होने पर प्रेरणाकी शक्तिके अनुसार उसमेंसे फल प्राप्त हो। श्रीभगवान्‌की जो दैवी-शक्ति समष्टिप्रकृतिकी आवश्यकता व प्रेरणाके अनुसार किसी अवतार या विभूतिके द्वारा प्रकट होती है उसके स्वतः क्रियाशील होनेके कारण अवतार या विभूतिके द्वारा संसारमें धर्मसंस्थापन व अधर्मनाशके लिये अनेक कार्य होते हैं। परन्तु मूर्त्तिमें श्रद्धा क्रिया व मन्त्रद्वारा जो व्यापक दिव्य शक्ति प्रकट की जाती है जिसकी प्रक्रिया ऊपर वर्णित की गई है वेह शक्ति स्वतः क्रियाशील नहीं होती है परन्तु अग्निकी तरह परतःक्रियाशील होती है। जिस प्रकार अग्निमें दग्ध करनेकी शक्ति रहने पर भी अग्नि स्वेच्छासे किसी वस्तुको दग्ध नहीं करती है या किसीका अन्नपाक नहीं कर देती है परन्तु जब दूसरी ओरसे किसी मनुष्यके द्वारा इस प्रकारकी प्रेरणा हो अर्थात् कोई मनुष्य अग्निके द्वारा किसी वस्तुको दग्ध करना या अन्नपाक करना चाहे तो उस अग्निको अनुकूलताके साथ काममें लाकर स्वकार्य सिद्ध कर सकता है। ठीक उसी प्रकार मूर्त्तिमें जो दैवीशक्ति एकत्रित होती है वह स्वयं किसीको शाप या वरप्रदान नहीं करती है क्योंकि उसमें इस प्रकारकी अवतार-की शक्तिकी तरह स्वतः क्रियाशीलता नही होती है। वह शक्ति केवल भाव और पूजाके द्वारा उपासकके आत्माके अनुकूल किये जाने पर अनुकूलताके अनुसार अर्थात् भाव और पूजाके अनुसार फलप्रदान करती है। उस फल-प्रदानमें मूर्त्तिमें विराजमान शक्तिकी स्वयंचेष्टा कुछ भी नही रहती है परन्तु उपासककी भावप्रेरणा ही उसमें एकमात्र कारण होती है। जहाँ मूर्त्तिमें विराजमान शक्तिके प्रति कोई भाव नहीं है वहाँ उस शक्तिके ऊपर चाहे चूहा ही चढ़ जाय, चाहे उसके सामने व्यभिचार ही हो और चाहे मुसलमान या और कोई पापी उसपर आक्रमण ही करे उस मूर्त्तिमें विराजमान शक्तिकी ओरसे कोई भी क्रिया नहीं होगी क्योंकि इसमें चढ़नेवाले, कुकर्म करनेवाले या आक्रमण करनेवालेकी हृदयगत शक्तिके साथ मूर्त्तिगत शक्तिका भावराज्यमें कोई भी सम्बन्ध नहीं है। इसमें केवल इतना ही होगा कि जिस प्रकार किसी अग्निमय गोलोंको तोड़ देनेपर अथवा उसपर जल डाल देनेपर वह अग्नि

तोड़नेवाले या जल डालनेवालेको आघात न करके व्यापक अग्निमें मिल जाया करती है उसी प्रकार जिस मन्दिरमें व्यभिचार आदि कदाचार होगा या पापी का आक्रमण होगा या मूर्त्ति तोड़ी जायगी उस मन्दिरकी मूर्त्तिमें विराजमान शक्ति उस केन्द्रको छोड़कर व्यापक दिव्यशक्तिमें मिल जायगी। केवल अत्याचार करनेवाले दिव्यशक्तिकी अवहेला करके दैवीजगत्‌में विप्लव उपस्थितन करनेके कारण प्रत्यवायी होगें। यही कारण है कि मूर्त्ति पर चूहे चड़नेसे भी और मुसलमानोंका आक्रमण होने पर भी उसमें दिव्य शक्ति स्वयं कूद कर आत्मरक्षा करने नहीं लग गई थी या विपत्तियोंसे लड़ने नहीं लग गई थी। अतः अर्वाचीन पुरुषोंको चूहेके डरसे धर्मत्याग नहीं करना चाहिये परन्तु मूर्त्तिपूजाके यथार्थ रहस्यको समझ करके प्रकृतिस्थ होना चाहिये। अर्वाचीन पुरुषोंका तीसरा कटाक्ष यह है कि यदि आवाहन करनेसे मूर्त्तिमें देवता आते तो मूर्त्ति चेतन क्यों न हो जाती, परमेश्वरमें आना जाना कैसे सम्भव हो सकता है और यदि सम्भव होवे तो मरे हुए पुत्रके शरीरमें जीवको क्यों नहीं बुला सकते? इसका उत्तर यह है कि पहले ही वेदप्रमाणके द्वारा बताया गया है कि मूर्त्तिमें प्राणप्रतिष्ठा यथार्थ रीतिसे होने पर उसमें चमत्कार देखा जाता है। यथा-मूर्त्ति हसती है रोती है इतयदि। परन्तु मूर्त्तिमें आवाहन की हुई दैवी शक्ति स्वतः क्रियाशील न होनेसे मनुष्यकी तरह चेतनाका कार्य उसमें आ नहीं अकता है क्योंकि मनुष्यका शरीर प्रारब्ध कर्मके अनुसार जीवात्मासे युक्त होनेके कारण कर्मशक्तिके द्वारा मानवीय कार्य होता है और मूर्त्तिमें केवल साधककी श्रद्धा पूजा आदिके अनुसार व्यापक शक्तिका आविर्भाव होनेके कारण और उसमें किसी प्रकार कर्म सम्बन्ध न होनेके कारण उसके द्वारा इस प्रकार कार्य होनेका कोई भी हेतु नहीं हो सकता है। हाँ जिस सयय वही दैवी शक्ति समष्टि प्रकृतिके कर्म संस्कारको आश्रय करके अवतार या विभूति रूपसे प्रकट होती है तब उसके द्वारा संसारमें अद्भुत कार्य होते हैं जो मनुष्यके द्वारा भी नहीं हो सकते हैं। अतः मूर्त्तिमेंसे उस प्रकार चैतन्य क्रियाकी आशा विज्ञान-विरुद्ध है। अवश्य भक्त उपासकमें भावशक्तिके अनुसार मूर्त्तिके द्वारा जो चाहे सो क्रिया उत्पन्न हो सकती है जैसा कि पुराणादिमें भक्तवत्सल भगवान्‌की अपूर्व लीलाओंके विषय व भक्तकी प्रार्थनाके अनुसार भगवन्मूर्त्तिके भक्तके साथ अनेक लीलावि-

लासके विषय पाये जाते हैं। परन्तु इसमें भक्तका भाव ही मुख्य रहता है। और उसी भावके अनुसारही इच्छारहित और स्वतः क्रियारहित भगवन्मूर्त्तिमें क्रिया उत्पन्न होती है। द्वितीय सन्देह अर्थात् परमेश्वरमें आना जाना सम्भव कैसे हो सकता है इसके विषयमें यह वक्तव्य है कि इसमें आने जानेकी तो कोई बात ही नहीं है, केवल गौमाताके सर्वशरीरगत दुग्धके स्तनद्वारा क्षरणकी तरह सर्वव्यापिनी भगवत्शक्तिका मूर्त्तिरूपी जरिये (Medium) के द्वारा विकाशमात्र है। इसमें कहींसे कहीं जानेका कोई प्रयोजन नहीं पड़ता है। केवल सर्वत्र पूर्ण भगवान्‌की शक्तिको स्वच्छ केन्द्रके द्वारा प्रकाश होना मात्र पड़ता है। जिस प्रकार सूर्यकी ब्रह्माण्डव्यापिनीशक्ति यदि आतशी काचके द्वारा प्रकट हो तो सूर्यमेंसे शक्ति कम नहीं हो जाती उसी प्रकार भगवत्शक्ति सर्वतः पूर्ण होनेसे चाहे कितनेही केन्द्रके द्वारा वह शक्ति विकाशको प्राप्त हो उससे न भगवान्‌की पूर्णशक्तिमें कुछ कमी ही आती और न उसपर-कहींसे कहीं जाने आनेका कलङ्क लगता क्योंकि ये सब बातें देशकालवस्तु परिच्छिन्न ससीम वस्तुपर ही घटती है और सर्वव्यापी असीम वस्तुपर ये बातें नहीं घट सकती हैं। तृतीय सन्देह अर्थात् यदि मूर्त्तिमें प्राण-प्रतिष्ठा करना सम्भव हो तो मरे हुए मनुष्यके शरीरमें जीवको क्यों नहीं बुला सकते इसका उत्तर निम्नलिखित है। यद्यपि मनुष्य तभी मरता है जब जिस कर्म्मके अनुसार जो शरीर प्राप्त हुआ था उस कर्म्मका भोग उस शरीरके द्वारा समाप्त हो जाता है अतः वह शरीर पुनः उस जीवात्माका भोगायतन बनने लायक नहीं रहता है इसलिये मृत पुत्रके शरीरमें पुनः उसके आत्माको बुलाना कर्म्मविज्ञानसे विरुद्ध व असम्भव है। हाँ यदि कोई शक्तिमान् पुरुष या योगी अपनी शक्तिके द्वारा उस प्रकार शरीरको भोगायतन बना सके तो उसमें वह परलोकगत आत्माको बुला सकते हैं। इसका दृष्टान्त शास्त्रमें बहुत मिलता है। श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रजीने अपने लोकलीला गुरु सान्दिपन मुनिके मृतपुत्रके भीतर इसी तरहसे जीवात्माका सन्निवेश किया था। भगवान् शङ्कराचार्यने इसी प्रकार मण्डनमिश्रकी स्त्रीसे शास्त्रार्थ करनेके बीचमें एक मृत राजाके शरीरमें अपने आत्माको प्रवेश कराकर उसे जीवित कर दिया था। सती सावित्रीने भी अपने मृत पतिको इस तरहसे जिला दिया था। अतः अर्वाचीन पुरुषोंका ऐसा कटाक्ष निरर्थक है। इसके सिवाय तान्त्रिक शवसाधनमें मृतशरीरके भीतर दूसरी जीवशक्तिको आवाहन करके शवसाधनकी

रीति अब भी प्रचलित है और सत्य है। इस प्रक्रियामें शवदेह चेतनदेहकी तरह खाने पीने व बोलने लगता है। अतः मूर्त्तिमें प्राण-प्रतिष्ठाके विषयमें कोई भी सन्देह नहीं होना चाहिये।

अब देशमें श्रीभगवान् तथा अन्यान्य देवताओंकी मूर्त्तिस्थापना व मूर्त्तियोंकी पूजाके द्वारा क्या क्या कल्याण मनुष्यको प्राप्त होता है सो नीचे क्रमशः बताया जाता है।

(१) जिस जीवनमें उपासनाकी अमृतधारा नहीं प्रवाहित होती है, वह जीवन शुष्क कङ्करमय मरुभूमिकी तरह है। यह बात पहलेही कही गई है कि जबतक कर्म व ज्ञानके साथ उपासनाका मधुर मिश्रण न हो तबतक न तो कर्ममार्गमें ही पूर्णता प्राप्त हो सकती है और न ज्ञानमार्गमेंही पूर्णता लाभ हो सकती है। इसलिये कर्म्म व ज्ञानके साथ साधककी पूर्णताके लिये उपासनाका रहना परम आवश्यकीय है। परन्तु जैसा कि पहले कहा गया है साधककी एकाएक निराकारकी उपासनामें चित्तवृत्ति कदापि निविष्ट नहीं हो सकती। इसलिये साकार मूर्त्तिपूजाके अवलम्बनसे कर्म्म व ज्ञानके साथ अग्रसर होते हुए अन्तमें निराकार उपासना द्वारा जीव अपने ब्रह्मभावको उपलब्ध कर सकते हैं। अतः जीवकी पूर्णताके लिये मूर्त्तिपूजा परम सहायक है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं हो सकता है।

(२) सच्चिदानन्दमय परमात्माकी आनन्दसत्ता समस्त जीवोंमें व्याप्त होनेसे परस्परके प्रति प्रेम करना मनुष्य हृदयका स्वाभाविक धर्म है। परन्तु जब यही प्रेम मायाके आश्रयसे क्षणभङ्गुर विषयोंके साथ होता है तो विषयकी क्षणभङ्गुरताके कारण परिणाममें दुःख उत्पन्न करता है। समस्त संसारके जीव मायामुग्ध होकर इस प्रकार प्रेम सूत्रमें अपने जीवनको बांध कर अनन्त दुःखों को भोगते रहते हैं। हृदयमें प्रेमकी धारा स्वाभाविक होनेसे किसी वस्तु पर उस धाराको प्रवाहित किये विना मनुष्य रह भी नहीं सकता है और उनके सम्मुख विद्यमान प्रलोभनदेनेवाले विषयोंमें प्रेम करनेसे दुःख भी होता है। इस प्रकार दोनों ओरके सङ्कटोंसे मनुष्यको बचाकर हृदय निहित प्रेमधाराको कल्याण वाहिनी बना कर श्रीभगवान्की आनन्द सत्तामें मनुष्यको निमग्न करके कृतकृत्य करनेके लिये मूर्त्तिपूजा ही जीवका एकमात्र अवलम्बनीय है। क्योंकि जैसा कि पहले कहा गया है स्थूल रूपके द्वारा आसक्तचित्त तथा उसमें प्रेम परायण जीव यदि हृदयनिहित प्रेमधाराको दिकपरिवर्त्तन द्वारा दूसरी ओर

डालना चाहे तो किसी दूसरे दिव्य स्थूल रूपमें हीं डाल सकता है क्योंकि जैसा स्वभाव अनादि संस्कारके द्वारा उत्पन्न हुआ है उसीके अनुकूल कार्य करनेसे ही भावशुद्धि द्वारा स्वभाव बदल सकता है। इसलिये भगवान्‌की मूर्त्तिमें चित्तको अर्पण करके, उसीके साथ प्रेम सम्बन्ध निज निज भावके द्वारा कहीं दास भावसे, कहीं सखाभावसे, कहीं वात्सल्यभावसे, कहीं मधुर भावसे इत्यादि इत्यादि भावसे स्थापन करके संसार बन्धनको तोड़ सकता है और परमपदको प्राप्त कर सकता है। यही जीवकी आध्यात्मिक उन्नति प्राप्तिके लिये मूर्त्तिपूजाकी दूसरी आवश्यकता है।

(३) अब तीसरी आवश्यकताका वर्णन करते हैं। यथा—

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः"

संसारमें मन ही मनुष्योंके बन्धन व मोक्षका कारण है। सङ्कल्प विकल्प परायण मन संसारके भिन्न भिन्न वस्तुओंमें चञ्चल होकर जीवको सदाही अशान्तिके समुद्रमें डाल रखता है। और इस प्रकार अशान्त चित्तमें किसी प्रकारका आनन्दलाभ नहीं हो सकता है। यह बात पहले ही कही गई है कि आत्मा ही आनन्दरूप होनेसे और आत्माके सिवाय और कहीं भी आनन्द न रहनेसे विषयी मनुष्य जो विषयमें सुख अनुभव करता है वह भी सुख विषयका दिया हुआ नहीं होता है, परन्तु विषयके जरियेसे उसीमें एकाग्रताके कारण क्षणकालके लिये अन्तःकरण शान्त होनेसे उस शान्त अन्तःकरणमें आनन्दमय आत्माका जो प्रतिविम्ब पड़ता है, विषयानन्द उसी आनन्दमय प्रतिविम्ब-जनित है। परन्तु प्रकृति परिणामिनी होनेके कारण तथा वैषयिक पदार्थोंके क्षणभङ्गुर होनेके कारण विषयके जरियेसे चित्तकी एकाग्रता भी क्षणस्थायी होती है और एकाग्रता क्षणस्थायी होनेसे विषय सुख भी नश्वर होता है। इस तरहसे चञ्चल मन भिन्न भिन्न विषयमें भटकता हुआ कहीं पर स्थायी सुखको न पाकर सदाही अशान्त रहता है और जीवको भी अशान्तिमें डाल रखता है। श्रीभगवान्‌की मधुर मूर्त्तिही ऐसी एक वस्तु है जिसमें क्षणभङ्गुरता व नश्वरताकी कोई भी सम्भावना न रहनेसे स्थूल भावमें अथवा सूक्ष्म भावमें हृदयके भीतर भगवान्‌की मधुर मूर्त्ति स्थापन करके मत्त मनको जीव मूर्त्तिमें एकाग्र कर शान्त और लयकर सकता है और विषय सुखको त्याग कर ब्रह्मानन्दमें मग्न हो सकता है। परमात्माका निराकार स्वरूप मन बुद्धिसे अतीत होनेके कारण

उसमें मनकी स्थिति कदापि सम्भव नहीं हो सकती है। अतः साकार मूर्त्तिकी पूजाके द्वाराही बन्धनकारी मन मोक्ष प्रदान करनेकी योग्यताको प्राप्त कर सकता है। यही परमार्थ साधनमें मूर्त्तिपूजाकी तीसरी आवश्यकता है।

(४) मनुष्य भावका दास है। प्रत्येक इन्द्रिय प्रवृत्ति राजसिक व तामसिक भावके साथ संसारमें प्रवृत्त होनेसे मनुष्योंको बन्धन प्राप्त होता है और वही इन्द्रिय प्रवृत्ति भाव शुद्धिके साथ सात्त्विक रूपसे प्रवृत्त होनेपर मुक्तिका कारण होजाती है। श्रीभगवान्की मूर्त्ति एक ऐसी वस्तु है जिसके साथ सात्त्विक भावसे मनकी प्रवृत्तिको बांधने पर मनुष्योंका सभी दुर्व्यसन छूट सकता है और घोर तमोगुणी पुरुष भी कुछ दिनोंमें परम सात्त्विक बनकर अपनेको व संसारको कृतार्थ कर सकता है। आप कामपिपासु हैं। आपकी रति श्रीभगवान्की मूर्त्तिमें हो जाय, आप क्रोधी हैं आपका क्रोध अपनी दुष्प्रवृत्तिके दमनमें लग जाय, आप लोभी हैं भगवच्चरणारविन्दके मधुर मकरन्दपानमें आपका लोभ प्रवृत्त हो जाय आप मोहान्ध हैं श्रीभगवान् आपके पुत्र हैं उनके प्रति चित्तका सारा मोह समर्पण कर दीजिये, आप मदोन्मत्त हैं श्रीभगवान्के प्रति प्रेम रूपी मधुपान करके मस्त हो जाइये, आप अहङ्कारी हैं, श्रीभगवान् मेरे ही हैं मेरा चित्त सिवाय उनके और कहीं भी नहीं जा सकता है इस बातका अहङ्कार आपके हृदयमें उत्पन्न हो, इस प्रकारसे समस्त वृत्तियोंका मुख मोड़ कर श्रीभगवान्की मूर्त्तिमें प्रयोग कर देनेसे भावशुद्धिके द्वारा विना आयास ही आप जितेन्द्रिय व जितरिपु होकर ब्रह्मधामको प्राप्त करेंगे। इसी भावशुद्धिके द्वारा परम भाव प्राप्त करनेके लिये मूर्त्ति पूजाकी आवश्यकता है। सात्त्विक साधक अपने भावके अनुसार श्रीभगवान्को पत्र पुष्प फल जल प्रदान करके भी मुक्तिपद प्राप्त करता है। राजसिक साधक अपने भावके अनुसार राजसिक वस्तुको श्रीभगवान्के आगे समर्पण करके भगवत् प्रसाद बुद्धिसे राजसिक वस्तुका सेवन करने पर भी उससे बन्धन नहीं प्राप्त करता है क्योंकि प्रसादबुद्धिके यथार्थ उदय होनेसे लोभबुद्धि नष्ट होती है और समर्पण व पूजाके सात्त्विक भावके फलसे राजसिक बुद्धि ही नष्ट हो जाती है और एतादृश भक्त शीघ्र ही सात्त्विक भक्त बन जाता है। इससे पहले वेदके अध्यायमें बताया गया है कि देवोद्देश्यसे तामसिक मांसादि प्रदान व सेवन करने पर भी भावशुद्धिके प्रभावसे व प्रसादबुद्धिके प्रभावसे साधकका चित्त अनर्गल मांसादि भक्षणसे किस

प्रकार निवृत्त होकर कुछ दिनोंके वाद अहिंसापर सात्त्विक भावको प्राप्त हो सकता है। उद्दाम इन्द्रिय प्रवृत्ति क्षण क्षणमें मनुष्यको विषयपङ्कमें निमग्न करनेको तैयार है परन्तु यह भावशुद्धिकी ही महिमा है कि जिस वस्तुको समर्पण विना भोजन करनेसे लोभ उत्पन्न होकर बन्धन प्राप्त होगा उसी वस्तुको श्रीभगवान्‌को समर्पण कर उनके प्रसाद रूपसे भोजन करनेसे उसमेंसे बन्धन कारिणी भोग वुद्धि नष्ट हो जायगी और प्रसाद भक्षण द्वारा चित्त निष्पाप व शान्तिकी अमृतधारामें निमग्न हो जायगा। यह सब मूर्त्ति-पूजाकी ही महिमाका चतुर्थ फल है।

(५) अपनी अपनी चित्तवृत्ति व अधिकारके अनुसार संसारमें सकाम निष्काम दोनों प्रकारके साधक होते हैं। श्रीभगवान्‌की मूर्त्तिकी पूजाके द्वारा सकाम साधकको इष्टफल प्राप्ति व कामना सिद्धि होती है क्योंकि श्रीभग-वान्‌ने कहा है—

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्"

जो जिस भावसे मेरी आराधना करे मैं उसी भावसे उनका अभीष्ट सिद्ध करता हूँ। इस प्रकार सकाम भावसे देव मूर्त्तिकी पूजा करने पर भी कामना सिद्धि व देवलोक प्राप्ति होती है यथा गीतामें—

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥

कर्मसिद्धिकी आकाङ्क्षा करके लोग देवताओंकी पूजा करते हैं और संसारमें शीघ्र ही सकाम देवपूजाका फल मिलता है। निष्काम भगवन्मूर्त्तिपूजन द्वारा जैसा कि पहले कहा गया है रूपके आश्रयसे भावमें समाधि होती है जिसमें साधकको भावराज्यमें भगवान्‌की आनन्द सत्ताकी उपलब्धि होती है और तत्पश्चात् निराकार परमात्माके साधन द्वारा साधक पूर्णताको प्राप्त करते है अथवा सालोक्यादि मुक्ति प्राप्त करके क्रममुक्तिके अधिकारी होते हैं। श्रीभगवान्‌की स्थूल भावमयी मूर्त्तिमें मनःसंयमके विना इस प्रकार की उन्नत गति साधकको प्राप्त नहीं हो सकती। यही आध्यात्मिक मार्गमें मूर्त्तिपूजा भी पञ्चम आवश्यकता है।

(६) श्रीभगवान्‌ने अर्ज्जुनको उपासनाका उपदेश देते समय कहा है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

हे अर्ज्जुन ! तुम जो कुछ करते हो, खाते हो, हवन करते हो, देते हो या साधन करते हो सब मुझमें समर्पण कर देना। इसका यही फल होगा कि सभी कार्य श्रीभगवान्‌में समर्पितहोनेसे जीवन उपासनामय हो जायगा। श्रीभगवान्‌की मधुर मूर्त्तिमें प्रेम बाँधकर जिस समय जीवनका सभी कार्य भक्त उन्हींके लिये कर सकता है और उन्हींमें समर्पण कर सकता है उस समय भक्तके किसी भी कार्यमें दोष या संसार बन्धन उत्पन्नकारी भाव नहीं रहता। उनके सभी कार्य शुद्ध होजाते हैं, उनके लिये अपने पुत्र कन्याके प्रति प्रेम भी गोपालजी व गौरीके प्रति प्रेम बन जाता है, पितामाताके प्रति प्रेम हरगौरीके प्रति प्रेम होजाता है, अपने प्रति प्रेम आत्माके प्रति प्रेम होजाता है, इस प्रकार सभी लौकिक व्यवहारके द्वारा वह भक्त पारमार्थिक फलको प्राप्त कर सकता है, मूर्त्तिपूजाकी उन्नत दशामें यह एक परम फल साधकको प्राप्त होता है। केवल इतना ही नहीं इस प्रकार भक्तकी हृदयभरा प्रेम, दया आदि सद्‌वृत्तियां समस्त संसारको श्रीभगवान्‌की मूर्त्ति मानकर संसारके जीवोंके प्रति परिव्याप्त होती हैं। श्रीमद्‌भागवतमें लिखा है —

अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयं।
अर्हयद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा ॥
मनसैतानि भूतानि प्रणमेद्‌ बहुमानयन्‌।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ॥

ईश्वरको सर्वभूतोंमें निवासशील जानकर मित्रभावसे सबकी सेवा करनी चाहिये। श्रीभगवान्‌ जीवरूपसे समस्त संसारमे व्याप्त हैं ऐसा समझकर समस्त जीवोंको भगवद्रूप मानकर प्रणाम करना चाहिये। श्रुतिमें भी लिखा है—

"एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च"
"इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते"

मायाके द्वारा एक परमात्मा नानारूप धारण करके समस्त विश्वमें परिव्याप्त हैं। श्रीभगवान्‌की मधुर मूर्त्तिमें परमनिविष्टचित्त भक्त उपासनाके उच्चाधिकारमें समस्त संसारको ही उनका रूप समझ हृदयनिहित प्रेमधाराको समस्त संसारमें परिव्याप्त कर देते हैं। उस समय जगत्‌में किसीके साथ उनका कोई भी रागद्वेषमूलक सम्बन्ध नहीं रहता है, वे सभीके साथ प्रेम;

सभीके प्रति दया व सभीके लिये आत्मत्याग व स्वार्थत्याग कर देते हैं। उपासनाकी इस दशामें भक्तके हृदयमें अपूर्व शान्ति व आनन्दका विकाश हो जाता है। वह समस्त संसारको ही आनन्दकन्द जगदाधार श्रीभगवान्की मूर्त्तिरूपमें देखकर आनन्द समुद्रमें निमग्न हो जाता है। यही मूर्त्तिपूजाकी परमानन्द व परमशान्तिविधायिनी षष्ठ आवश्यकता है।

(७) सत्ताके विचारसे जीव व ईश्वरमें भेद यह है कि जीव अपूर्ण होनेसे उसकी सत्ता देशकाल व वस्तुके द्वारा परिच्छिन्न होती है और ईश्वर पूर्ण होनेसे उनकी सत्ता देशकाल व वस्तुसे अपरिच्छिन्न होती है। साधकका अन्तःकरण भावराज्यमें अपनेको जितनाही अधिक बढ़ाता जाता है उतनीही जीवकी परिच्छिन्न सत्ता घटनी जाती है, और जीवका परिच्छिन्न अन्तःकरण तथा परिच्छिन्न भाव व्यापक उदारभावमें विलीन होता जाता है। मूर्त्ति-पूजामें जैसा कि पहले वर्णन किया गया है श्रीभगवान्के विविध भावोंके अनुसार ही मूर्त्तिकी प्रतिष्ठा होती है। इसलिये यह स्वतः सिद्ध है कि उस भाव प्रकाशक मूर्त्तिकी साधनासे साधकका अन्तःकरण रूपके द्वारा भावमें जाकर लय होगा। और इस प्रकारसे उपासनाका अधिकार जितनाही उन्नत होता जायगा उतनाही देश काल वस्तु परिच्छिन्न अन्तःकरण भगवान्के अपिरिच्छिन भाव सागरमें जाकर लवलीन हो सकेगा। जीवकी परिच्छिन्न सत्ता इस प्रकारसे मूर्त्तिपूजा द्वारा भावग्राही व भावग्राह्य भगवान्के अनन्त भावोंमें विलीन होकर अपनी परिच्छिन्नताको छोड़कर पूर्णताको प्राप्त कर लेगी, उनका जीव भाव महान् शिव भावमें लय होकर परमानन्द पदवीको प्राप्त करेगा यही जीवत्व विनाशपूर्वक शिवत्व प्राप्ति-साधनमें मूर्त्ति पूजाकी सप्तम आवश्यकता है।

(८) प्रतिमारूपी आधारके द्वारा श्रीभगवान्की सर्वव्यापिनी दिव्य शक्तिको किस प्रकारसे प्राणप्रतिष्ठाकी प्रक्रियाओंके द्वारा प्रकट किया जा सकता है सो पहलेही वर्णन किया गया है और विस्तारित रूपसे पीठ पूजा नामक अध्यायमें किया जायगा। मूर्त्ति पूजाके द्वारा साधकके अन्तःकरणमें निहित शक्तिके साथ श्रीभगवान्की इस दिव्यशक्तिका मिलन होता है। तब जीवचित्तकी परिच्छिन्न तथा लघु शक्ति श्रीभगवान्की अनन्त दिव्य शक्तिमें विलीन होकर अपने परिच्छिन भावको छोड़कर असीम भावको धारण कर लेती है जिसके फलसे साधकको असीम दिव्यशक्तिलाभ तथा अनेक

सिद्धिश्रोंकी प्राप्ति होती है। संसारमें इस प्रकारसे सिद्धि तथा दैवी शक्ति युक्त महात्माश्रोंका आज भी अभाव नहीं है। साधनराज्यमें सिद्धिश्रोंकी प्राप्ति द्वारा साधकचित्तमें भगवान्के प्रति तीव्र विश्वास व आग्रहातिशय उत्पन्न होता है जिसके फलसे आध्यात्मिक मार्गमें एतादृश उपासक शीघ्र ही विशेष उन्नति करनेमें समर्थ हो सकते हैं। यही मूर्त्तिपूजा द्वारा शक्ति व सिद्धि प्राप्तिरूप अष्टम उपकारिता है।

(९) श्रीभगवान्की भावमयी मूर्त्तिमें अत्यन्त प्रेमके साथ ध्यानमग्न होकर समस्त मन प्राण उसीमें समर्पण कर देनेसे और तीव्रसंवेगके साथ श्रीभगवान्की दर्शनकामना करनेसे भक्तवत्सल भगवान् साधकके भावके अनुसार अनन्तलावण्ययुक्त मधुर भावमयी मूर्त्तिको धारण करके भक्तको दर्शन देते हैं। उनके दर्शनसे भक्तका हृदय कमल खिल जाता है, समस्त शरीर रोमाञ्चयुक्त होजाता है, दरदरित धारासे प्रेमाश्रु विगलित होने लगता है, भक्तकी समस्त सद्वृत्तियां असंख्य मन्दाकिनीका रूप धारण करके श्रीभगवान्के आनन्द समुद्रकी ओर प्रवल वेगसे धावमाना होने लगती हैं, उनके चित्तकी समस्त मलिनता प्रेमाश्रुधाराके द्वारा साफ होजाती है, समस्त अज्ञानान्धकार दिवाकरके उदयसे रजनीके अन्धकारके सदृश भगवन्मूर्त्तिकी तेजोमयी किरणच्छटासे पूर्ण नाशको प्राप्त होजाता है, भक्त संसारके क्षणभङ्गुर समस्त वैषयिक रूपको पूर्णरूपसे भूलकर अनन्तरूपाधार श्रीभगवानके रूप सागरमें चिरकालके लिये डूब जाता है, उसकी विषयतृष्णा श्रीभगवान्की प्रेम सुधाको पान करके चिरकालके लिये निवृत्त होजाती है और प्रेमभरी दृष्टिसे चकोरकी तरह श्रीभगवान्की आनन्दमयी मूर्त्तिका आस्वादन करते करते भक्त ध्याता ध्यान ध्येय रूपी त्रिपुटीको पार करके उसी रूपमें तन्मय हो भाव समाधिको प्राप्तकर लेता है। इस प्रकार दिव्यभावमय आनन्दमय रूपसुधास्वादनकी सौभाग्य प्राप्ति साकार मूर्त्ति पूजनपरायण साधकको ही प्राप्त हो सकती है। देवता यज्ञके अङ्गीभूत नहीं हो सकते हैं कर्ममीमांसाकृत इस पूर्व पक्षके उत्तरमें महर्षि वेदव्यासजीने स्वकीय ब्रह्मसूत्रमें लिखा है।

" विरोधः कर्म्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् "

यदि कर्मके विषयमें इस प्रकारसे विरोध माना जाय कि एक समयपर एक देवता अनेक स्थानोंमें कैसे उपस्थित रह सकते हैं तो इसका उत्तर यह है कि देवताओंमें ऐसी शक्ति है कि एकही समयपर अनेकरूप धारण करके

अनेक स्थानमें दर्शन दे सकते हैं। अतः ब्रह्मसूत्रके अनुसार सिद्ध हुआ कि भक्तकी प्रार्थना व अनुष्ठानके अनुसार इष्ट देवता मूर्त्ति परिग्रह कर सकते हैं यही मूर्त्ति पूजनकी नवम उपकारिता है।

(१०) श्रीभगवान्के अवतार रामकृष्ण आदिकी मूर्त्ति बनाकर पूजा करनेसे भगवदवतारकी पूजा द्वारा भी विष्णुलोक शिवलोक आदिकी प्राप्ति, रूपके जरियेसे भावमें लय होकर भाव समाधिकी प्राप्ति व तदनन्तर निराकार उपासना द्वारा पूर्णता लाभ, अवतारकी मधुर मूर्त्तिमें आसक्ति होनेसे विषयासक्तिका परित्याग, चञ्चल मनकी रूपमें स्थिति द्वारा चाञ्चल्य नाश व आनन्द प्राप्ति, उनके मधुर लीलाविलास का गुणकीर्त्तन. उनके प्रति प्रेम दास्यादि भावसे आसक्ति द्वारा आध्यात्मिक उन्नति लाभ आदि मूर्त्तिपूजाके द्वारा लभ्यमान कल्याणकी प्राप्ति तो होती ही है इसके अतिरिक्त उनके प्रति भक्ति व प्रेम तथा उनके मधुर चरित्रोंके श्रवण व पठन पाठनके द्वारा मानवचरित्रमें परमोत्कर्षसाधन हो जाता है। श्रीभगवान् रामचन्द्रकी अपूर्व पितृभक्ति, अलौकिक चरित्र, एकपत्नीव्रत, मर्यादापरायणता, प्रजावत्सलता, धर्मभाव, सर्वजीवहितैषिता, भ्रातृप्रेम,सर्वतोमुखिनी स्वभावसुषमा आदि सद्गुणावली को देखकर और उन भावोंके साथ उनकी सेवा करके मनुष्यजीवन अपूर्व आदर्शचरित्रयुक्त व संसारका भूषण वन सकता है। भगवती सीताका लोकोत्तर मधुर चरित्र व अपूर्व पातिव्रत्यका आदर्श उनकी पूजाके साथ प्रत्येक नरनारीके हृदय में अंचित हो जाता है। श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रकी पूर्णता, अलौकिक लोकलीला, दिव्य विभूतिका विकाश, अपूर्व धैर्य्य, अद्भुत ज्ञानशक्ति व क्रियाशक्ति, निष्काम भावकी पूर्णता, निर्लिप्तताकी पराकाष्ठा आदि सद्गुणोंको उनकी उपासनाके द्वारा हृदयमें प्रतिष्ठापित करके प्रत्येक मनुष्य पूर्णताकी पदवीपर पहुँच सकता है। इस तरहसे अन्यान्य अवतारोंकी पूजाके द्वारा भी दया शान्ति आदि अनन्त सद्वृत्तियोंका लाभ साधकको हो जाता है। यही मूर्त्तिपूजाकी दशम उपकारिता है।

(११)-राग व द्वेषही संसारमें अनन्त द्रोह व दुःखके कारण हैं। मायाके प्रभावसे मुग्ध होकर अनुकूल वस्तुके प्रति राग व प्रतिकूल वस्तुके प्रति द्वेषबुद्धि प्राप्त करके संसारमें लोग घोर अनैक्य व अनन्त द्रोहकी सृष्टि करते हैं। परन्तु जिस समय मनुष्यके चित्तमें श्रीभगवान्के प्रति परम पवित्र प्रेमधाराका सञ्चार होने लगता है उस समय साधक समस्त सांसारिक रागद्वेषोंको त्याग कर समस्त अन्तःकरणको श्रीभगवान्के चरणकमलमें ही समर्पण कर देता

है। उस समय रागद्वेषका भाव उनके चित्तसे आमूल नाश प्राप्त होनेके कारण समस्त अनैक्य व द्रोह संसारसे नष्ट होकर परस्परके प्रति प्रेमभावका ही उदय हो जाता है। इसके सिवाय उपासनाकी उच्चदशामें जब साधकोंका जीवन ही उपासनामय बन जाता है और समस्त संसारको उन्हींका रूप भावना करके साधक संसारके प्रति प्रेमभाव प्रदर्शन करने लगते हैं, उस समय उनके चित्तसे द्रोहभाव एकदम ही उठ जाता है। श्रीभगवान्की मधुर मूर्त्तिमें पवित्र प्रेमका जितना विकाश होता है, उतना ही ऊपरोक्त द्रोहहीन, एकतायुक्त तथा मधुरिमामय स्वभावकी प्राप्ति मनुष्यको होती है। अतः जिस देशमें विचारानुसार इस प्रकार पूजापद्धतिकी जितनी प्रतिष्ठा होगी उस देशके लोग उतने ही परस्पर प्रेम व एकताके साथ देश व धर्मकी सेवा कर सकेंगे इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। यही देश व धर्मकी उन्नति साधनमें एकता प्राप्ति रूप मूर्त्तिपूजाकी एकादश उपकारिता है।

(१२) जिस गृहस्थके मकानमें श्रीभगवान्का विग्रह प्रतिष्ठित रहता है वह गृह मानो भगवान्का मन्दिर व आवासस्थान बन जाता है। उसमें देव-विग्रह रहनेके कारण लोग बहुत शुद्धि व शौचका विचार रखते हैं, विग्रहाशुद्धि व विग्रहकी अप्रतिष्ठाके भयसे किसी प्रकार अपवित्र वस्तु उस गृहमें आने नहीं देते हैं जिससे गृहस्थके आबालवृद्ध-वनितामें आचारपरायणता व शौचकी प्राप्ति होती है। मन्दिरमें वृद्ध गृहस्थ लोग नित्य पूजा आदि करते हैं जिनके आदर्शको देखकर गृहस्थके बालक बालिकाकी आस्तिकता, भक्तिभाव, पूजापरायणता, सच्चरित्रता, शीलता आदि सद्गुणावली गृहस्थ बिना प्रयास ही प्राप्त कर लेते हैं। जिस घरमें देवप्रतिष्ठा हो उसमें बच्चोंको आचार व आस्तिकता सिखानी नहीं पड़ती है, वे स्वयं ही सीख लेते हैं। यही मूर्त्तिपूजा की द्वादश उपकारिता है।

(१३) श्रीभगवान्की दैवी शक्ति विग्रहके द्वारा जिस परिवारके गृहमें प्रकट रहती है वहां पर आसुरी शक्तिका प्रकोप नहीं हो सकता है। पिशाच आदिका अत्याचार, प्रेत आदिका उपद्रव व देशव्यापी कठिन बीमारी (epidemic) आदि सभी आसुरी शक्तिके प्रकोपसे उत्पन्न होते हैं। परन्तु जिस परिवारके गृहमें दैवीशक्तिसे पूर्ण प्रतिमा विराजमान रहती है वहां पर ऐसे अत्याचार साधारणतः कभी नहीं हो सकते हैं। दैवी शक्तिके सात्त्विक भावका प्रभाव उस परिवारके अन्तर्जगत्में भी विराजमान रहनेसे उस परि-

वार के लोग प्रायः सच्चरित्र वं कुकर्मविमुख होते है। वे उस प्रतिमा को जाग्रत व अन्तर्दर्शी समझ कर पाप करनेसे सदा ही डरते रहते हैं। उनके सङ्कल्पके साथ उस गृह देवताका भाव व दैवराज्यमें सम्बन्ध रहनेके कारण गृहस्थका हरेक प्रकारका कल्याण होता है। अनेक दैवीबाधा व आपत्तिसे गृहस्थ उस दैवी शक्तिके प्रभावसे बचते रहते हैं। गृहमें नित्य धूप दीप सुगन्ध द्रव्यादिका प्रज्वलन, हवन व पुष्पादिके द्वारा वहां की वायु शुद्ध रहती है जिससे अशुद्धवायुसे उत्पन्न रोग वहां कम उत्पन्न होते हैं और समस्त गृहस्थों कि आरोग्यता में सहायता मिलती है। इस प्रकार घर घर में तथा पञ्चायतको तरफ से देवमन्दिर देवविग्रह स्थापित होनेसे समस्त देश में व देशके आबालवृद्धवनिताओंमें ऊपरोक्त सुफलों की प्राप्ति होती है जिससे देशमें आधिभौतिक, आधिदैविक व आध्यात्मिक सुख सम्पत्ति, उन्नति व शान्ति सदैव विराजमान रहती है। देशव्यापी प्रारब्धजनित कुसंस्कारके भयसे कदाचित् कोई महामारी जैसा–हैजा, प्लेग, चेचक आदि होजाने पर भी दैवी अनुष्ठान तथा पूजा आदि के द्वारा सुसंस्कार उत्पन्न करनेसे ऐसे कठिन रोग दूर होजाते हैं, इत्यादि इत्यादि सभी मूर्तिपूजा की उपकारिता है।

(१४) प्रत्येक पदार्थ तभीतक अपनी नीरोग अवस्थामें रह सकता है जब तक उस पदार्थकी प्राणशक्तिकी समतामें किसी प्रकारकी हानि उत्पन्न न हो। प्राणशक्तिके अधिक व्यय या अपव्ययसे उसकी समतामें हानिं हो जाती है जिससे कई प्रकारके रोग उत्पन्न हो जाते है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि मनुष्य शरीरमें प्राणशक्तिकी समता रहनेसे वात, पित्त, कफ और अन्यान्य धातुओंका भी सामञ्जस्य रहता है जिससे मनुष्य-शरीर नीरोग रहता है। परन्तु ब्रह्मचर्यनाश, अधिक परिश्रम, अधिक बोलना, काम मोह क्रोध आदि वृत्तियोंके वशीभूत होना आदि कारणोंसे मनुष्यकी प्राणशक्ति घट जाती है, उसकी समतामें विरोध पड़ता है जिस कारण वात पित्त कफ व अन्यान्य धातुओंमें विकार उत्पन्न होकर शरीरको रोगग्रस्त तथा अल्पायु कर देता है। जिस प्रकार व्यष्टि शरीरमें है ठीक उसी प्रकार समष्टि अर्थात् ब्रह्माण्डशरीरमें जो प्राणशक्ति विद्यमान है जिसकी समता व सामञ्जस्यके द्वारा ब्रह्माण्ड-शरीरान्तर्गत वात पित्त कफ तथा अन्यान्य धातुओंकी समता रक्षित होकर ब्रह्माण्डशरीर नीरोग रहता है और उस नीरोगताके फलसे देशकालानुसार ऋतुओंका ठीक ठीक परिवर्त्तन, शस्य सम्पत्तिकी वृद्धि, प्रजाका सुख, दुर्भिक्ष

आदिका अभाव, महामारी व देशव्यापी रोगोंकी अनुत्पत्ति आदि महत्फल उत्पन्न होते हैं, उस ब्रह्माण्डशरीरव्यापी प्राणशक्तिकी समता यदि किसी तरहसे बिगड़ जाय तो इसका परिणाम यह होगा कि ब्रह्माण्डके वात पित्त कफ तथा अन्यान्य धातुओंमें भी विकार होगा, पञ्चतत्त्वोंमें विकृति उत्पन्न होगी जिससे ब्रह्माण्डशरीर रोगग्रस्त होकर, ऋतुविपर्यय, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि कुलक्षण, दुर्भिक्ष, महामारी आदि रोगोंको उत्पन्न करेगा। पञ्चतत्त्वोंके जिस प्रकार परिणामके द्वारा सजला सुफला वसुन्धरा अपनी निर्दिष्टगतिको प्राप्त कर रही है और विराट् पुरुषका स्थूल ब्रह्माण्डशरीर नीरोगतापर प्रतिष्ठित है, उस प्राकृतिक गतिपर यदि बलात्कार किया जाय अर्थात् प्राकृतिक गतिको तोड़कर इच्छानुसार अप्राकृतिक बनाया जाय—जल जिस गतिके अनुसार चलनेसे जगद्जीवनकी रक्षा कर सकता है, वायु जिस गतिसे प्रवाहित होनेपर संसारकी स्थितिविधान कर सकता है, पृथ्वी जिस प्रकारसे परिसेविता होनेपर सुफल प्रदान कर सकती है, इन सबोंमें यदि बलात्कार द्वारा अप्राकृतिक अनुष्ठान किया जाय तो पञ्चतत्त्वोंमें अवश्यही विकार उत्पन्न होकर ऋतुविपर्यय, महामारी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि दुर्लक्षण प्रकाशित करेगा जिससे समस्त जगत्की शान्ति नष्ट होकर अशान्ति व दुःखदारिद्र्य बढ़ जायगा। इसके सिवाय ब्रह्माण्डकी प्राणरूप वैद्युतिक शक्तिको तत्त्वोंके भीतरसे यदि खींचकर अन्यान्य कार्यमें लगा दिया जाय तौभी प्राणशक्तिहीन ब्रह्माण्डशरीर मृतवत् हो जायगा, इसकी जीवनीशक्ति घट जायगी जिससे इसमें शस्योत्पादिकाशक्ति, उत्तम सन्तानोत्पादिकाशक्ति, ऋतुओंका क्रमविकाश आदि सभी नष्ट हो जायगा और विराट्धातुमें विकार व वात पित्त कफका सामञ्जस्य बिगड़ कर देशमें महामारी, दुर्भिक्ष, संग्राम, दुःख, दारिद्र्य व अशान्ति फैल जायगी। आस्तिकताविहीन आधिभौतिक विज्ञानोन्नति (godless scientific improvement) के फल से ब्राह्माण्डकी प्राणशक्तिकी ऐसी ही हानि और पञ्चतत्त्वोंमें ऐसा ही वैषम्य (elemental disturbance) उत्पन्न होता है जिसको सभी लोग देख सकते हैं। इसमें ब्रह्माण्डव्यापिनी वैद्युतिक शक्ति आकर्षित करके अन्याय कार्यमें लगाई जाती है और स्वाभाविक रूपसे प्रवाहशील तत्त्वों पर बलात्कार करके उनको मनमाने कार्यमें लगाया जाता है अर्थात् उनकी प्राकृतिक गतिमें बाधा दी जाती है। अतः आधिभौतिक विज्ञानोन्नतिके द्वारा विराट् धातुमें विकार उत्पन्न होकर देशमें संग्राम,

दुर्भिक्ष, महामारी, दारिद्र्य व अशान्ति आदिका उत्पन्न होना निश्चित है। संसारमें जिस जिस समय ऐसा संग्राम अथवा महामारी, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष आदिका प्रकोप देखा गया है उसके मूलको अन्वेषण करनेसे अवश्य ही पता लगेगा कि आसुरी शक्तिके अयथा प्रयोग द्वारा प्रकृतिराज्यमें वैषम्य, आसुरी अस्त्रोंके प्रयोग द्वारा पञ्चतत्त्वोंमें विकार अथवा ब्रह्माण्ड शरीरकी प्राणशक्तिनाश या प्राणवैषम्यके द्वारा ही ऐसी बहुदेशव्यापी दुर्घटना हुई हैं। महर्षि वशिष्ठ जीने कहा है—

> विराट् धातुविकारेण विषमस्पन्दनादिना।
> तदङ्गावयवस्यास्य जनजालस्य वैषमम्।
> दुर्भिक्षावग्रहोत्पातमानयति।

विराट् शरीरमें तत्त्वविकार व धातुविकार तथा प्राणशक्तिके विषम-स्पन्दनसे विराट्के अङ्गीभूत जीवोंकी प्रकृतिमें विषमता उत्पन्न होती है जिससे दुर्भिक्ष, अपग्रहोंका उदय, उल्कापात्त, धूमकेतु आदिका उदय, महामारी आदि उत्पात होने लगते हैं। जैसा कि पहले आर्यजाति शीर्षक प्रवन्धमें बताया गया है। प्राचीन कालमें आधिभौतिक विज्ञान (material science) की उन्नति पूर्णरूपसे होनेपर भी महर्षियोंकी दूरदर्शिताके कारण वह इस प्रकारसे नहीं अनुष्ठित होती थी जिससे प्रकृति पर किसी प्रकारका बलात्कार हो। अवश्य आसुरी शक्तिका अत्याचार भी उस समय था जिससे विराट् धातुमें विकार अनार्य अस्त्रप्रयोग आदिके द्वारा उत्पन्न होकर दुर्भिक्ष, अवग्रहोत्पात आदि दुर्घटनाओंकी उत्पत्ति करता था। इन सब आसुरी शक्तियोंके प्रकोपको दूर करनेके वास्ते ऋषिगण आवश्यकतानुसार कभी यज्ञ द्वारा, कभी दैवानुष्ठान व देवपूजा द्वारा या कभी अन्य प्रकारसे भी दैवीशक्ति उत्पन्न करके आसुरी शक्ति को दबाकर देशव्यापी अकल्याणको दूर कर देते थे। विचार कर देखनेसे स्पष्ट मालूम होता है कि महर्षियोंके द्वारा प्रतिष्ठित गृह-देवता, ग्राम देवता, वनदेवता आदिके मन्दिर तथा तीर्थादि, इसी प्रकारसे समस्तदेशमें दैवीशक्तिके पोषण द्वारा प्रकृतिके शक्ति-सामञ्जय विधानके लिये भी है। अर्थात् इन सब दैवीशक्तिके केन्द्रस्थानोंके द्वारा अध्यात्मिक आदि अन्य प्रकारके उपकार अनेक होने पर भी समष्टि जगत्में शान्तिरक्षा भी इनका अन्यतम उद्देश्य है। शास्त्रमें तीर्थ दो प्रकारके कहे गये हैं। एक नित्यतीर्थ दूसरे

नैमित्तिक तीर्थ। नित्यतीर्थ वह है जहाँ पर दैवीशक्ति स्वयं निकलती है और नैमित्तिक तीर्थ वह है जहां पर तपस्या, यज्ञ आदिके बलसे दैवीशक्तिका विकाश किया जाता है। भारतवर्षकी प्रकृति पूर्ण होनेसे भारतवर्ष पृथिवीका मर्मस्थान तुल्य है और इसी कारण यहां पर अनेक स्थानोंमें दैवीशक्ति स्वयं ही निकलती है। वे सब नित्य तीर्थ कहलाते हैं। यथा ज्वालामुखी, काशी, कामाख्या, प्रयाग आदि। पुराणोंमें जो आख्यायिका पायी जाती है कि जगदम्बा सतीका देह खण्ड खण्ड करके कामाख्या, ज्वालामुखी आदि स्थानोंमें डाल दिया गया वे सब तीर्थ बन गये और इसी प्रकार शिवके लिङ्गको काट काट कर अनेक स्थानोंमें फेंक दिया गया। वे सब द्वादश ज्योतिर्लिङ्ग नामसे प्रसिद्ध तीर्थस्थान बने। ये सब नित्यतीर्थोंकाही लौकिक वर्णन है। अर्थात् भारतवर्षके विशेष मर्मस्थान होनेसे शिवशक्ति व प्रकृतिशक्ति वहां नित्य स्थायिनी है। वे सब नित्यतीर्थोंके दृष्टान्त हैं। इन सब पीठोंसे प्रकाशित दैवीशक्ति द्वारा सदा ही आसुरी शक्तिका नाश व प्राकृतिक वैषम्य विदूरित होकर संसारमें शान्तिका विस्तार होता है। इसके सिवाय महर्षिगण अपनी तपस्याशक्ति व यज्ञानुष्ठान द्वारा अनेक नैमित्तिक तीर्थ भी बनाया करते थे। नैमित्तिक तीर्थ वह है जहां पर दैवीशक्तिका विकाश पहले नहीं था परन्तु तपःशक्ति या यज्ञ आदि द्वारा वहां पर दैवीशक्ति आकृष्ट की गई है और इससे दैवीशक्तिका आधार भूत वह स्थान तीर्थ बन गया है। इस प्रकारसे दैवीशक्ति जितनी ही प्रकट की जायगी उतना ही आसुरी शक्तिका प्रकोप ह्रास होगा और आधिभौतिक विज्ञान, आसुरी अस्त्रोंका प्रयोग, प्राकृतिक प्राणशक्तिका नाश आदि द्वारा जो संग्राम, दुर्भिक्ष आदि विराट् शरीर में रोग उत्पन्न होते हैं वे सब दूर हो जायँगे। गृह, ग्राम व देशमें मन्दिर बनवाकर प्रतिमाके जरियेसे श्रीभगवान्की अथवा अन्य देवताकी दैवीशक्तिकी प्रतिष्ठा द्वारा भी ऊपरोक्त प्रकारसे आसुरी शक्तिका दमन होता है। अधिभौतिक विज्ञानकी प्रक्रिया द्वारा विकृत पञ्चतत्त्वोंकी विषमता दूर होकर देशमें दुर्भिक्ष, महामारी आदिका नाश होता है और अन्य कार्यमें व्ययित ब्रह्माण्डगत प्राणशक्तिकी पुष्टि होती है जिससे इस प्रकार आधिभौतिक विज्ञानका प्रचलन रहने पर भी इसके द्वारा प्रकृतिराज्यमें किसी प्रकारकी हानि अनुभूत नहीं होती है। वर्त्तमान समयमें आस्तिकताविहीन आधिभौतिक विज्ञान (godless science) की उन्नति पराकाष्ठा पर पहुँच रही है जिसके द्वारा स्थूल

संसार कुछ उन्नतिपर प्रतीत होनेपर भी विराट् प्रकृतिमें विषमता उत्पन्न होकर संग्राम, महामारी, दुर्भिक्ष आदि अवश्यम्भावी है। और प्राचीन कालकी दूरदर्शिता जो महर्षि लोगोंमें थी वह भी आज दिन होना कठिन ही है। अतः इस समय आधिभौतिक विज्ञानोन्नतिके समष्टिगत कुपरिणामको दूर करनेके लिये तीर्थ, मन्दिर, यज्ञ आदि द्वारा दैवीशक्तिका उत्पादन करना परमावश्यकीय है। भारतवर्षमें जितनी मन्दिरोंकी स्थापना शास्त्रानुसार होकर प्रतिमापूजन द्वारा दैवीशक्तिकी अनुकूलता होगी, तीर्थोंका जीर्णोद्धार होकर जितनी तीर्थमहिमा बढ़ायी जायगी और यज्ञादि द्वारा दैवीशक्ति जितनी उत्पन्न की जायगी उतनी ही वर्त्तमान समयमें भारतके लिये कल्याण व शान्ति प्राप्त हो सकेगी। अथर्ववेदमें इसी सिद्धान्तका प्रकाशक एक मन्त्र आता है यथा—

"न घ्रंसस्तताप न हिमो जघान प्रनभतां पृथिवी जीरदानुः आपश्चिदस्मै घृतमित् क्षरन्ति यत्र सोमः सदमित् तत्र भद्रम्।"

इसका अर्थ निम्नलिखित है-(यत्र) जहांपर (सोमः) प्रतिमानिहित दैवीशक्ति रहती है (तत्र) वहांपर (सदमित्) सदाही (भद्रं) कल्याण होता है। (घ्नस) सूर्य (न तताप) कठिन तथा दुःखदायी उत्ताप नही देता है, (हिमः) शिलावृष्टि (न जघान) आघात नहीं करती है, पृथिवी (जीरदानुः) शीघ्र शीघ्र अन्न उत्पन्न करती है, (आपश्चित्) जल भी (अस्मै) उपासकको (घृतमित्) घृत ही (क्षरन्ति) देता है, (प्रनभताम्) हे सोम! तुम आसुरीशक्तिका नाश करो। इस मन्त्रके द्वारा मूर्त्तिव्यापिनी दैवीशक्ति द्वारा पृथिवीका सम्पूर्ण कल्याण साधन व आसुरीशक्तिका नाश ऊपरलिखित वर्णनके अनुसार प्रमाणित होता है। अतः ऊपर लिखित मूर्त्तिविज्ञानके द्वारा स्पष्ट सिद्धान्त हुआ कि श्रीभगवान्के अनन्तभावोंमेंसे कुछ भावोंको लेकर प्रकृतिभेदानुसार साधारण अधिकारी साधकोंके कल्याणके लिये भावानुसार जो मूर्त्तिकी प्रतिष्ठा वेदादि शास्त्रानुसार सिद्ध होती है उसके द्वारा समस्त मनुष्यही आध्यात्मिक, आधिदैविक व आधिभौतिक सब प्रकारके लाभको प्राप्त करते हुए अन्तमें निर्गुणोपासनाके अधिकारी बनकर ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त कर सकते हैं।

मन्त्रयोगके सिद्धान्तवर्णन प्रसङ्ग में पहलेही कहा गया है कि समस्त संसार नाम व रूपमय होनेके कारण अविद्याग्रस्त जीव नाम व रूपके द्वारा ही बन्धनको प्राप्त होता है। इसलिये जीवकी मुक्ति भी दिव्यनाम व दिव्यरूप की सहायतासे होती है। दिव्यरूप की सहायतासे किस प्रकारसे साधक भाव-

समाधि द्वारा उन्नत अधिकार लाभ करके मुक्त हो सकता है सो पहले ही वर्णित किया गया है। अब दिव्य नामकी सहायतासे मुक्ति का उपाय नीचे बताया जाता है ।

शास्त्रमें मन्त्रको दिव्यनाम कहा गया है। क्योंकि जिस प्रकार प्रकृतिके दिव्यभावोंके अनुसार बनी हुई मूर्ति दिव्यरूप कहलाती है उसी प्रकार मन्त्र भी प्रकृतिके दिव्यराज्यका स्पन्दनजनित शब्द होनेसे दिव्यनाम कहलाता है। अब नीचे आदिमन्त्र ओङ्कारसे लेकर प्रकृति स्पन्दन द्वारा समस्त मन्त्रोंकी उत्पत्ति बताई जाती है। योगशास्त्र में लिखा है—

कार्यं यत्र विभाव्यते किमपि तत्स्पन्देन सव्यापकम्
स्पन्दश्चापि तथा जगत्सु विदितः शब्दान्वयी सर्वदा ।
सृष्टिश्चापि तथादिमाकृतिविशेषत्वादभूत्स्पन्दिनी
शब्दश्चोदभवत्तदा प्रणव इत्योङ्काररूपः शिवः ॥
साम्यस्थप्रकृतेर्यथैव विदितः शब्दो महानोमिति
वृह्मादित्रितयात्मकस्य परमं रूपं शिवं ब्रह्मणः ।
वैषम्ये प्रकृतेस्तथैव बहुधा शब्दाः श्रुताः कालतः
ते मन्त्राः समुपासनार्थमभवन्बीजानि नाम्ना तथा ॥

जहां कुछ कार्य है वहां कम्पन अवश्य होगा, जहां कम्पन है वहां शब्द भी अवश्य होगा। सृष्टिक्रिया भी एक प्रकार का कार्य है इसलिये सृष्टि कार्यके समय प्रकृतिके प्रथम स्पन्दन द्वारा जो शब्द उत्पन्न होता है वही मङ्गलकारी ओङ्काररूप प्रणव है। सत्त्व रज तम तीनों की साम्यावस्था से जब वैषम्यावस्था होना प्रारम्भ हुआ तो सबसे प्रथम हिल्लोल जो हुआ जिस समय तीनों गुण एक साथस्पन्दित हुए—हिल्लोल की ध्वनिही ओंकार है । जिस प्रकार साम्यावस्थासे सम्बन्ध रखनेवाली प्रकृतिका शब्द ब्रह्मा विष्णु शिवात्मक ओंकार है, उसी प्रकार वैषम्यावस्थापन्न प्रकृतिके नाना शब्द हैं वही नाना शब्द उपासनाओंके अनेक बीजमन्त्र हैं। वेद में ओंकार को उद्गीथ कहा गया है, यथा छान्दोग्योपनिषद में—

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत ओमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम् ।

ओं इस उद्गीथ अक्षरकी उपासना करनी चाहिये। ओङ्कार इस शब्दको मुख्य रखकर ही भगवान्‌की स्तुति होती है इसलिये ओंकारका नाम उद्गीथ है। भगवान् शङ्कराचार्यजीने भी लिखा है—

ओं इत्यारभ्य हि यस्माद् उद्गायति अतः उद्गीथ ओंकार इत्यर्थः।

भगवान् पतञ्जलिजीने ओंकारको ईश्वरका वाचक कहा है। यथा योगदर्शनमें—

"तस्य वाचकः प्रणवः" "तज्जपस्तदर्थभावनम्"

"ततः प्रत्यक्‌चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च"

ओंकार ईश्वरका वाचक है, ओंकारका जप व अर्थभावनाके द्वारा ईश्वर प्राप्ति व विघ्ननाश हुआ करता है। इसीके अनुसार श्रीभगवान् शंकराचार्यजीने लिखा है—

"तस्मिन् हि प्रयुज्यमाने स प्रसीदति प्रियनामग्रहणेनेव लोकाः"

जिस प्रकार प्रिय नाम लेकर पुकारनेसे लोग प्रसन्न होकर उत्तर देते हैं उसी प्रकार श्रीभगवान्‌का प्रिय नाम ओंकार उच्चारण करके उनको बुलानेसे भगवान् भी प्रसन्न होकर दर्शन देते हैं। ओंकार ही ईश्वरका मन्त्र है। यथा गीतामें—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।

यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥

एकाक्षर ब्रह्ममन्त्र ओंकारका उच्चारण व भगवान्‌का स्मरण करते हुए जो साधक प्राणको त्याग देते हैं उनको परमधाम प्राप्त हो जाता है।

"प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते"

ओंकार धनु, शर जीवात्मा और लक्ष्य ब्रह्म हैं।

"आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिं"

जीवात्माको पूर्वारणि और ओंकारको उत्तरारणि करके मथन करनेसे ब्रह्माग्निकी उत्पत्ति होती है इत्यादि श्रुतिमन्त्रोंके द्वारा ओंकारको ईश्वरका मन्त्र कहा गया है जिसके जप करनेसे ईश्वर प्रसन्न होते हैं। माण्डूक्योपनिषद्‌में ओङ्कारको सार्द्धत्रिमात्रा कह कर तीन मात्राके साथ परमात्माकी जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिरूपी तीन दशाका सम्बन्ध बनाकर शेष अर्द्ध मात्राके साथ तुरीयपदगम्य परमात्माका सम्बन्ध बताया गया है। इन सभोंका विस्तृत विवरण तथा ओंकार

की महिमा पूर्णरूपसे किसी आगेके अध्यायमें बताई जायगी । वर्त्तमान प्रबन्धका यह प्रतिपाद्य विषय है कि किस प्रकारसे ऊपर लिखित वर्णनोंके अनुसार शब्द राज्यमें ओंकारके साथ ईश्वरका और अन्यान्य मन्त्रोंके साथ अन्यान्य देवताओं का अधिदैव सम्बन्ध है जिस कारण ओंकारके जपसे ईश्वर तथा अन्यान्य मन्त्रों के जपसे तत्तद्देवता प्रसन्न होते हैं । यह बात वेदसम्मत है कि प्रलयके समय समस्त जीवोंका संस्कार प्रकृतिमें और प्रकृति ईश्वरमें लय हो रहती है । पुनः प्रलयविलीन जीवोंके समष्टि संस्कार फलोन्मुख होनेसे ईश्वरमें यह स्वतः इच्छा होती है कि "मैं एक से बहुत हो जाऊँ और संस्कारानुसार सृष्टि करूँ" उस समय भगवान्में सृष्टिका संकल्प उदय होते ही उनकी अद्वैतसत्तामें त्रिगुण-समावेशके अनुसार ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर रूपी त्रिभावकी सत्ता परिस्फुट होने लगती है और उनके सङ्कल्पसे उत्पन्न प्राणशक्तिकी प्रेरणासे ब्रह्माण्डप्रकृतिमें-जहां पर अभी तक सत्वरजस्तमोगुणकी समता थी-त्रिगुणका वैषम्य होने लगता है। त्रिगुणमयी प्रकृतिका गुणसाम्य प्रलयदशाका लक्षण है और वैषम्य सृष्टिदशाका लक्षण है । अतः उस समय परमात्माके सङ्कल्पके साथ साथ मूल प्रकृतिमें कम्पन होने लगता है । जैसा कि योगशास्त्रमें कहा गया है कि जहाँ कार्य होता है वहाँ कम्पन होता है और जहाँ कम्पन होता है वहाँ शब्द होता है। इस सिद्धान्तके अनुसार मूल प्रकृतिमें सृष्टिकार्यकी सूचना होते ही त्रिगुणमें कम्पन होता है और जिस प्रकार एक थालीमें जल रखकर थालीके हिलानेसे एक दफे समस्त जल हिल उठता है और पश्चात् जलके भिन्न भिन्न देशमें कम्पन होकर भिन्न भिन्न तरङ्ग उठते हैं उसी प्रकार सृष्टिकी सूचना होते ही समस्त ब्रह्माण्डकी मूल प्रकृतिके एकदम हिल जानेसे कम्पनजनित प्रथम एक शब्द होता है उसीका नाम ओंकार है। इस कारण अधिदैव जगत्में प्रथम शब्द होनेसे ओंकारके साथ ईश्वरका वाच्य वाचक सम्बन्ध है। पहले कहा गया है सृष्टिके समय क्रम यह निश्चय हुआ—परमात्माके अन्तःकरणमें सिसृक्षा—तदनन्तर त्रिगुणसमतायुक्त प्रकृतिमें वैषम्य-जनित गुणस्पन्दन व ओंकार नादका प्रकाश। अतः ओंकारके साथ परमात्मा का साक्षात् दैवसम्बन्ध है—मानो ओंकार उनका नाम ही है। क्योंकि गुणा-तीत साम्यावस्था प्रकृतियुक्त निष्क्रिय ब्रह्मभावमें जब सिसृक्षा उत्पन्न हुई तो वही भाव सगुण ब्रह्म अर्थात् ईश्वर भाव कहाया। उसी भावके साथ जो साक्षात् सम्बन्ध रखनेवाला शब्द होगा सो अवश्य ही ईश्वरका वाचक अर्थात् प्रथम

नाम होगा। इसी प्रकार वैषम्यावस्था प्रकृतिके प्रधान विभागोंके साथ जिन शब्दोंका सम्बन्ध है वे बीज मन्त्र हैं। यही ओंकारके अकार, उकार, मकारके साथ त्रिदेव सम्बन्ध और समस्त मन्त्रोंके साथ देवताओंके सम्बन्धका कारण है। जब प्रकृति सृष्टि अभिमुखीन हो ही गई तो त्रिगुणोंमें पुनः स्पन्दन होगा क्योंकि त्रिगुणोंके विकारके द्वारा ही समस्त सृष्टि होती है। अतः आधिभौतिक राज्यमें गुणस्पन्दन द्वारा पञ्चतत्त्व आदिके क्रमविकाशसे जड़चेतनात्मक जगत्‌की सृष्टि होगी और शब्द राज्यमें प्रकृतिके नाना प्रकारके स्पन्दनोंके द्वारा नाना प्रकारके शब्द उत्पन्न होंगे। ये ही सब शब्द प्रथम अवस्थामें नाना बीजमन्त्र, और उसके बादके परिणाममें देव नागरी वर्णमाला व नाना भाषाके शब्द हैं। प्रकृतिके प्रथम स्पन्दन द्वारा ओं बीज उत्पन्न हुआ और तदनन्तर द्वितीय स्पन्दनमें आठ प्रकृतिके अनुसार अष्टबीजमन्त्रकी उत्पत्ति हुई। गीतामें लिखा है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

भूमि, जल, अग्नि वायु, आकाश, मन, बुद्धि व अहङ्कार परमात्माकी माया शक्ति इसी अष्टभागमें विभक्त है। इसी प्रकार प्रकृतिके अष्ट स्पन्दनानुसार अष्ट बीजमन्त्र हैं। और तदनन्तर प्रकृतिके भिन्न भिन्न अङ्गमें अनेक स्पन्दन व तदनुसार अनेक मन्त्र होते हैं। और इससे यह भी बात स्वतः सिद्ध होजाती है कि जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड प्रकृतिके स्पन्दनजनित शब्द ओंकारके साथ ब्रह्माण्डनायक ईश्वरका अधिदैव सम्बन्ध होनेसे ओंकार उनका मन्त्र है, उसी प्रकार प्रकृतिके जिस विभागके कम्पनसे जो मन्त्र उत्पन्न होंगे उस विभागके अधिष्ठाता देव या देवीके साथ उस मन्त्रका अधिदैव सम्बन्ध रहनेसे उस देवता या देवीके साधनके लिये वे ही मन्त्र होंगे। महर्षिगणोंने जिस प्रकार प्रकृतिके भिन्न भिन्न विभागमें संयम करके तत्तद्विभागोपर अधिष्ठात्री देवताओंकी मूर्त्ति बताई हैं उसी प्रकार प्रकृतिके उन विभागोंके स्पन्दन द्वारा उत्पन्न शब्दोंको भी संयमद्वारा सुनकर तत्तद्देवताओंके मन्त्ररूपसे उन उन शब्दोंका विधान किया है। प्रकृतिका जो प्रथम स्पन्दन व्यापक प्रकृतिमें एक महान् शब्द उत्पन्न करता है उसीके ही परिणाम रूपसे अनेक शब्द उत्पन्न होते हैं ऐसा सिद्धान्त ऊपर लिखित शब्दोत्पत्ति विज्ञानके द्वारा स्पष्ट होता है। इसलिये प्रथम महान् शब्द ओंकारसे ही अन्यान्य समस्त मन्त्रोंकी उत्पत्ति

हुई है और संसारके जितने शब्द व वर्णमालाके वर्ण हैं सभी ओंकार रूपी महाशब्दके विकारसे उत्पन्न हुए हैं ऐसा समझना शास्त्रसम्मत होगा केवल संस्कृत वर्णमालाके ककारादि शब्द प्रकृतिके साक्षात् स्पन्दनके साथ प्राकृतिक सम्बन्ध रखनेके कारण और वीजमन्त्रोंके निकट होनेके कारण सभी वीज रूप हैं और संस्कृत भाषा संसारकी सभी भाषाकी जननीरूप है और अन्यान्य भाषाओंके शब्दोंके साथ प्रकृतिके दूर परिणामका सम्बन्ध होनेसे तथा साक्षात् सम्बन्धका अभाव होनेसे वे प्रकृतिका स्पन्दन न होकर विकृतिका स्पन्दन हैं और इसलिये वे वीजमन्त्र नहीं हो सकते हैं । शास्त्रमें कहा गया है—

"मन्त्राणां प्रणवः सेतुः"

प्रणव मन्त्रोंका सेतु है । अर्थात् जिस प्रकार सेतुके आश्रयसे मनुष्य नदी पार होते हैं उसी प्रकार प्रत्येक मन्त्रके साथ ओंकारको मिलाकर उच्चारण करनेसे मन्त्र अपनी व्यापकशक्तिको प्राप्त कर सकता है । इसलिये छान्दोग्योपनिषदमें वर्णित है—

"तद् यथा शंकुना सर्वाणि पर्णानि सन्तृणान्येवमोङ्कारेण सर्वा वाक् संतृणा ओंकार एवेदं सर्वमोंकार एवेदं सर्वम्"

जिस प्रकार पत्रनाल द्वारा समस्त पत्र गुथे हुए रहते हैं उसी प्रकार ओंकारके साथ समस्त शब्द गुथे हुए रहते हैं. ओंकार ही सब है । ओंकारमें समस्त मन्त्रोंको सिद्धि प्रदान करनेकी शक्ति रहनेसे ही ओंकार परम मङ्गलकर कहा गया है यथा स्मृतिमें—

माङ्गल्यं पावनं धर्म्यं सर्वकामप्रसाधनम् ।
ओंकारः परमं ब्रह्म सर्वमन्त्रेषु नायकम् ॥
आद्यमन्त्रोऽक्षरं ब्रह्म त्रयी यस्मिन् प्रतिष्ठिता ।
सर्वमन्त्रप्रयोगेषु ओमित्यादौ प्रयुज्यते ॥
तेन संपरिपूर्णानि यथोक्तानि भवन्ति हि ।
सर्वमन्त्राधियज्ञेन ओं कारेण न संशयः ॥

परब्रह्मरूप ओंकार समस्त मन्त्रोंका नायक, परम पवित्र, मङ्गलमय व सकल कामनाओंका साधक है । तीनों वेदोंकी प्रतिष्ठा इसी आदि मंत्रमें है और सकल मंत्रोंके प्रयोगमें ओंकारका प्रयोग प्रथम होता है । अन्य मन्त्रोंके साथ प्रथम ओंकारका उच्चारण होनेसे मन्त्रोंका फल यथावत् प्राप्त होता है । "संसारकी

समस्त वाणी ओंकारमें ही संग्रथित है" छान्दोग्योपनिषद्के इस सिद्धान्तका बड़ा ही सुन्दर वर्णन लिङ्गपुराणमें मन्त्रोत्पत्तिके प्रसङ्गमें किया गया है यथा—

तदा समभवत्तत्र नादो वै शब्दलक्षणः।
ओमोमिति सुरश्रेष्ठाः सुव्यक्तः प्लुतलक्षणः॥
किमिदन्त्विति संचिन्त्य मया तिष्ठन् महास्वनम्।
लिङ्गस्य दक्षिणे भागे तदाऽपश्यत् सनातनम्॥
आद्यं वर्णमकारन्तु उकारं चोत्तरे ततः।
मकारं मध्यतश्चैव नादान्तं तस्य चोमिति॥
सूर्यमण्डलवद् दृष्ट्वा वर्णमाद्यं तु दक्षिणे।
उत्तरे पावकप्रख्यमुकारं पुरुषर्षभः॥
शीतांशुमण्डलप्रख्यमकारं मध्यमं तथा।
तस्योपरि तदाऽपश्यच्छुद्धस्फटिकवत् प्रभुम्॥
तुरीयाऽतीतममृतं निष्कलं निरुपप्लवम्।
निर्द्वन्द्वं केवलं शून्यं बाह्याभ्यन्तरवर्जितम्॥
अकारस्तस्य मूर्द्धा तु ललाटं दीर्घमुच्यते।
इकारो दक्षिणं नेत्रमीकारो वामलोचनम्॥
उकारो दक्षिणं श्रोत्रमूकारो वाममुच्यते।
ऋकारो दक्षिणं तस्य कपोलं परमेष्ठिनः॥
वामं कपोलमृकारो लृलॄनासापुटे उभे।
एकारमोष्ठमूर्द्धश्च ऐकारस्त्वधरो विभोः॥
ओकारश्च तथौकारो दन्तपङ्क्तिद्वयं क्रमात्।
अमस्तु तालुनी तस्य देवदेवस्य धीमतः॥
काऽऽदिपञ्चाऽक्षराण्यस्य पञ्चहस्तानि दक्षिणे।
चाऽऽदिपञ्चाऽक्षराण्येव पञ्चहस्तानि वामतः॥
टाऽऽदिपञ्चाऽक्षर पादस्ताऽऽदिपञ्चाऽक्षरं तथा।

पकारमुदरं तस्य फकारः पार्श्व उच्यते।
बकारो वामपार्श्वं वै भकारं स्कन्धमस्य तत् ॥
मकारं हृदयं शम्भोर्महादेवस्य योगिनः।
यकारादिसकारान्ता विभोर्वै सप्तधातवः ॥
हकार आत्मरूपं वै क्षकार क्रोध उच्यते ॥

सुव्यक्त व सुतलक्षण ॐनादका प्रकाश हुआ। लिङ्गके सर्वतः स्थित इस प्रकारके नादका स्वरूप निम्नलिखित है। उसका आद्यवर्ण अकार है जो कि दक्षिणकी ओर स्थित और सूर्यमण्डलवत् दीप्तिमान् है। उत्तरकी ओर अग्निप्रभ उकारकी स्थिति है और मध्यस्थलमें चन्द्रमण्डलकी तरह तेजोमय मकारकी स्थिति है। इन तीनोंके ऊपर शुद्धस्फटिकचन्द्रासमान् ओंकाररूपी परम पुरुष विराजमान हैं। वे तुरीयातीत अमृत, निष्कल, चाञ्चल्य व द्वन्द्वविहीन, व आकाशवत् तथा बाह्य व अभ्यन्तरमें रहते हुए भी उससे निर्लिप्त हैं। ॐकाररूपी उस परब्रह्मके विराट् रूपसे ही समस्त मन्त्रोंकी उत्पत्ति हुई है। यथा—अकार उनका मस्तक व आकार उनका प्रशस्त ललाट है। इकार उनका दक्षिण नेत्र और ईकार वाम नेत्र है। उकार दक्षिण-कर्ण और ऊकार वामकर्ण है। ऋकार दक्षिण कपोल और ॠकार वाम कपोल है। लृकार ॡकार दोनों नासापुट हैं। एकार ओष्ठ और ऐकार अधर है। ओकार और औकार दोनों दन्तपंक्ति हैं। अं और अः उनके दो तालु हैं। क से ङ तक पांच अक्षर उनके दक्षिण पांच हस्त और च से ञ तक पांच अक्षर उनके वाम पांच हस्त हैं। ट से ण तक पांच अक्षर और त से न तक पांच अक्षर उनके पाद हैं। प कार उनका उदर, फ कार दक्षिण पार्श्व, ब कार वामपार्श्व, भ कार स्कन्ध और म कार हृदय है। य कारसे स कार तक ओंकाररूपी विराट् पुरुषके सप्त धातु हैं, ह कार उनका आत्मारूप और क्ष कार क्रोधरूप है। इस प्रकारसे ओंकारसे समस्त वर्णोंकी उत्पत्ति आर्य-शास्त्रमें बताई गई है। येही सब वर्ण विराट् पुरुषके भिन्न भिन्न अङ्गसे उत्पन्न होनेके कारण प्रकृतिके स्पन्दनजनित मन्त्र हैं और इन मन्त्रोंके साथ तत्तत् प्रकृतिके देवताओंका अधिदैव सम्बन्ध है। इसलिये जिस प्रकार समष्टि प्रकृतिके स्पन्दन द्वारा उत्पन्न शब्द ॐ परमेश्वरका वाचक नाम है जिसके जप व अर्थभावना द्वारा परमेश्वर प्रसन्न होते हैं, उसी प्रकार प्रकृतिके भिन्न भिन्न

विभागके स्पन्दन द्वारा उत्पन्न शब्द भी तत्तत् प्रकृतिके देवताओंके वाचक नाम हैं जिनके जप व अर्थभावना द्वारा तत्तद्देवता प्रसन्न होते हैं व दर्शन दिया करते हैं, यथा योगदर्शनमें—

स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः।

स्वाध्यायके द्वारा इष्टदेवताका दर्शन होता है। यहां स्वाध्यायका अर्थ श्रीभगवान् वेदव्यासकृत योगदर्शनभाष्यमें मन्त्र जप लिखा है। और भी सामवेद संहितामें—

उपह्वरे गिरीणाᳬसङ्गमे नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत॥

पर्वतप्रान्त व नदी सङ्गम स्थानपर स्तुति करनेसे इन्द्र प्रकट होते हैं। समष्टिप्रकृतिके साथ व्यष्टि प्रकृतिका एकत्व सम्बन्ध होनेसे समष्टि प्रकृतिके स्पन्दनजनित सारे शब्दोंका आविर्भाव व्यष्टि प्रकृतिके द्वारा भी अनुभव होता है। अर्थात् ओंकारसे लेकर समस्त वर्णोंका व मन्त्रोंका उच्चारण जीव शरीरके भिन्न भिन्न अङ्गों द्वारा होता है। जिस प्रकार समष्टि प्रकृतिका प्रथम स्पन्दन ओंकार समष्टि प्रकृतिके गर्भसे उत्पन्न होता है उसी प्रकार व्यष्टि शरीरमें भी प्रकृतिका स्थान मूलाधारचक्रस्थित कुलकुण्डलिनीमें होनेके कारण आदि नाद प्रणवकी उत्पत्ति कुलकुण्डलिनीसे होती है और अन्यान्य समस्त नाद वहांसे ही निकल कर इडा, पिङ्गला व सुषुम्नारूपी त्रिविध योग नाडीके द्वारा भिन्न भिन्न पथमें प्रवाहित होकर मन्त्र व वर्णरूपसे हृदय, तालु, कण्ठ, जिह्वा, ओष्ठ, दन्त आदि स्थानोंके द्वारा प्रकट होता है। यथा शारदातिलकमें—

भिद्यमानात्पराद्बिन्दोरव्यक्तात्मा रवोऽभवत्।
तत्प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम्।
वर्णात्मनाविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः॥

कुण्डलिनीमेंसे प्रकाशित परा नाम्नी अनपायिनी वाक्से शब्दकी उत्पत्ति होती है जो जीव शरीरमें अनेक प्रकारसे चक्रावर्त्तको प्राप्त करके गद्यपद्यादि भेदसे विविध वर्णमें प्रकाशित होता है। और भी—

स्वात्मेच्छाशक्तिघातेन प्राणवायुस्वरूपतः।
मूलाधारे समुत्पन्नः पराख्यो नाद उत्तमः॥
स एव चोर्द्ध्वतां नीतः स्वाधिष्ठानविजृम्भितः।

पश्यन्त्याख्यामवाप्नोति तथैवोर्द्ध्वं शनैः शनैः ॥
अनाहते बुद्धितत्वसमेतो मध्यमोऽभिधः।
तथा तयोरूर्द्ध्वगतो विशुद्धौ कण्ठदेशतः ॥
वैखर्य्याख्यस्ततः कण्ठशीर्षताल्वोष्ठदन्तगः।
जिह्वामूलाग्रपृष्ठस्थस्तथा नासाग्रतः क्रमात् ॥
कण्ठताल्वोष्ठकण्ठस्थः कण्ठौष्ठद्वयतस्तथा।
समुत्पन्नान्यक्षराणि क्रमादादिक्षकावधि ॥

परमात्माकी इच्छाशक्तिरूपिणी मूलाधार पद्मस्थिता कुलकुण्डलिनीकी शक्तिसे उक्त पद्ममें प्रथमतः परानादकी उत्पत्ति होती है। तदनन्तर वह नाद स्वाधिष्ठान पद्ममें उठकर पश्यन्ती आख्याको प्राप्त होता है। तदनन्तर धीरे धीरे और भी ऊपर आकर अनाहत पद्ममें बुद्धितत्वके साथ मिलकर उस नादका नाम मध्यमा होता है। उसके ऊपर कण्ठस्थित विशुद्ध चक्रमें उस नादका नाम वैखरी होता है। यही शब्दनिष्पन्न वैखरी नाद कण्ठ, मस्तक, तालु, ओष्ठ, दन्त, जिह्वामूल, जिह्वाग्र, जिह्वापृष्ठ तथा नासाग्र द्वारा क्रमशः अग्रसर होता हुआ कण्ठ तालु, ओष्ठ कण्ठ व कण्ठौष्ठद्वय द्वारा प्रकाशित होकर अकारसे ळकार तक वर्णमालाओंका विकाश करता है। जीवशरीरमें कुलकुण्डलिनी प्राणशक्तिरूप है। उसीके साथ इडा, पिङ्गला व सुषुम्ना का सम्बन्ध है और इन तीनों नाड़ियोंके द्वारा ही प्राण, अपान, समान, उदान आदि दशविध वायुका प्रवाह समस्त शरीरमें व्याप्त होता है। प्राणशक्तिके द्वारा प्राणादिवायु सञ्चालित होकर समस्त शब्दोंको प्रकाशित करता है। उल्लिखित तीनों नाड़ियोंके साथ समस्त वायुका सम्बन्ध होनेसे प्रकृतिस्पन्दन जनित अकारसे लेकर ळकार पर्यन्त समस्त वर्णमालाकी उत्पत्ति इन तीनों नाड़ियोंके द्वारा होती है। यथा अ से अः पर्यन्त समस्त वर्णमाला इडा नाड़ीसे प्रवाहित होती है। क से म पर्यन्त समस्त वर्णमाला पिङ्गला नाड़ीसे प्रवाहित होती है और य से ळ पर्यन्त समस्त वर्णमाला सुषुम्ना पथमें प्रवाहित होती है। इस प्रकारसे ॐ से लेकर समस्त मन्त्रोंकी उत्पत्ति समष्टि प्रकृतिकी तरह व्यष्टिप्रकृतिमें होती है। केवल इतनाही नहीं अधिकन्तु व्यष्टि प्रकृति समष्टि प्रकृतिकी ही प्रतिकृति या प्रतिबिम्ब होनेसे समष्टि प्रकृतिके

प्रत्येक स्पन्दनका आघात व्यष्टि प्रकृतिमें और व्यष्टि प्रकृतिके प्रत्येक स्पन्दनका आघात समष्टि प्रकृतिमें होता है और व्यष्टि प्रकृतिके प्रत्येक स्तरका समसम्बन्ध समष्टि प्रकृतिके उसी अधिकारके स्तरके साथ रहता है। इसलिये इसके नाद-का प्रतिबिम्ब उसमें और उसके नादका प्रतिबिम्ब इसमें आ गिरता है। इसलिये साधक अपनी व्यष्टि प्रकृतिके जिस जिस स्तर पर चित्तको संयत करता है उसमें ही समष्टि प्रकृतिके तत्तत् स्तरका नाद सुन सकता है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि साम्यावस्था प्रकृतिका प्रथम शब्द प्रणव होनेसे जिस समय साधक अपनी व्यष्टि प्रकृतिको भी साम्यावस्था पर पहुंचावेंगे उसी समय अपनी प्रकृतिमें ही समष्टि प्रकृतिका प्रथम नाद ॐकारको सुन सकेंगे। वह नाद मूलाधार चक्रस्थित कुलकुण्डलिनीसे निकल कर सहस्रारमें जा लय हो जायगा। उसी प्रकार अपनी व्यष्टि प्रकृतिको पूर्ण साम्यावस्थाके अतिरिक्त जिस जिस स्तरपर संयम करेंगे उस स्तरके साथ समष्टि प्रकृतिके जिस स्तरका समसम्बन्ध है उस स्तरके नादका प्रतिबिम्ब अपनी प्रकृतिमें अनुभव करेंगे। इसी प्रकारसे महर्षिगण अपनी प्रकृतिमें ही समष्टि प्रकृतिके नादको सुनते हैं और उन्हीं नादोंके अनुसार ही श्रीभगवान् तथा उनकी शक्तिस्वरूप भिन्न भिन्न देवताओंके साधनार्थ मन्त्रसमूह व संस्कृत वर्णमालाओंका आवि-ष्कार उन सब अतीन्द्रियदर्शी महर्षियोंके द्वारा हुआ है। समष्टि प्रकृतिके प्रथम स्पन्दन द्वारा प्रणव मन्त्रकी उत्पत्तिके अनन्तर द्वितीय स्पन्दनमें जो गीतोक्त वर्णनके अनुसार अष्ट प्रकृतिका कम्पन हुआ है उससे प्रधान अष्ट बीजकी उत्पत्ति हुई है। इनके नाम मन्त्रशास्त्रमें यथा—

बीजमन्त्रास्त्रयः पूर्वे ततोऽष्टौ परिकीर्त्तिताः।
गुरुबीजं शक्तिबीजं रमाबीजं ततो भवेत्॥
कामबीजं योगबीजं तेजोबीजमथापरम्।
शान्तिबीजं च रक्षा च प्रोक्ता चैषां प्रधानता॥

बीज मन्त्र प्रथम तीन और तदनन्तर आठ हैं यथा—गुरुबीज, शक्ति-बीज, रमाबीज, कामबीज, योगबीज, तेजबीज, शान्तिबीज व रक्षाबीज। क, ल, ई व मकारसे कामबीजका अनुभव होता है। क, र, ई व मकारसे योगबीजका अनुभव होता है। आ ए और मकारसे गुरुबीजका अनुभव होता है। हकार, रकार, ईकार व मकारसे शक्तिबीजका अनुभव होता है।

शकार, रकार, ईकार व मकारसे रमावीजका अनुभव होता है। टकार, रकार, ईकार व मकारसे तेजवीजका अनुभव होता है। सकार, तकार, रकार, ईकार और मकारसे शान्तिवीजका अनुभव होता है। और हकार, लकार, ईकार व मकारसे रक्षावीजका अनुभव होता है। योगशास्त्रमें लिखा है—

अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ताः कारणब्रह्मणो यथा।
याभिराविर्भवदिदं कार्य्यब्रह्म सनातनम्॥
तथा प्रधानभूतानि वीजान्यष्टौ मनीषिभिः।
अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ताः कार्य्यरूपस्य ब्रह्मणः॥

जिस प्रकार कारण ब्रह्मकी आठ प्रकृति है, जिससे कार्य्यब्रह्म उत्पन्न हुआ है, वैसे ही शब्दब्रह्मके ये आठ वीज आठ प्रकृति हैं। येही प्रधान वीज कहाते हैं। ये सब प्रकारकी उपासनामें कल्याणकारी है। शास्त्रान्तरमें इनके नामभेद भी पाये जाते हैं। इसके अनन्तर प्रकृतिके विस्तारके साथ साथ अनेक मन्त्र निर्णीत किये जाते हैं जो भिन्न भिन्न देवताओंके प्रीत्यर्थ निर्दिष्ट हैं।

शास्त्रमें मन्त्रोंकी असाधारण शक्ति वताई गई है जिससे भगवान् प्रसन्न, देवता वशीभूत, व अनेक प्रकारकी सिद्धियां प्राप्त होती हैं यथा योगशास्त्रमें—

मन्त्रयोगी मन्त्रसिद्धया तपःसिद्धया हठान्वितः।
ऐशीं विभूतिमाप्नोति लययोगी च संयमैः॥
मन्त्रसाधनतो देवा देव्यः संयान्ति वश्यताम्।
विभवाश्चैव जगतो यान्ति तस्योपभोग्यताम्॥

मंत्रयोगी मंत्रसिद्धि द्वारा, हठयोगी तपःसिद्धि द्वारा और लययोगी संयमसिद्धि द्वारा ऐशी विभूतियोंको लाभ किया करते हैं। मन्त्रसाधन द्वारा देव देवीगण स्वतः ही वशीभूत होजाते हैं और मन्त्रयोगकी सिद्धि प्राप्त योगीको संसारके सब वैभव सुलभ होजाते हैं। श्रीभगवान् पतञ्जलिजीने योगदर्शनमें मन्त्रके द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है ऐसा लिखा है यथा—

"जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः"

पूर्वकर्म्मके वेगसे कभी कभी जन्मसे ही सिद्धि प्राप्त होती है, औषधिके द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है, मन्त्रके द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है, और तपस्या व समाधिके द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है। प्रकृति श्रीभगवानकी शक्तिस्वरूपिणी

होनेसे उनमें अनन्त शक्ति भरी हुई है। उस शक्तिका विकाश सूक्ष्मसे स्थूलपर्यन्त समस्त प्राकृतिक पदार्थमें विद्यमान है। प्रत्येक वस्तुकी शक्ति जितनी ही वह वस्तु स्थूलसे सूक्ष्मताको प्राप्त होती उतनी ही विकाशको प्राप्त होती है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि अन्तःकरणके विकाशरूप स्थूलदेहमें जितनी शक्ति है उससे अनेकगुणी शक्ति सूक्ष्मदेह अन्तःकरणमें विद्यमान है। शरीर तीन वर्षमें जहां पर नहीं जा सकता है, मन शरीरसे सूक्ष्म होनेसे इतनी शक्ति रखता है कि एक पलमें ही वहां पर चला जा सकता है। इस तरह अन्यान्य सूक्ष्म वस्तुमें भी समझ सकते हैं। जलमें जो शक्ति है, जलके सूक्ष्मपरिणामरूप वाष्प तथा वाष्पपुञ्जरूप मेघमें इससे अनेक अधिक शक्ति है जो सौदामिनी रूपसे मेघमालामें विलास किया करती है। जब प्रकृतिके विविध विकारके द्वारा उत्पन्न लौकिक शब्दके भीतर ही इतनी शक्ति विद्यमान है कि उसके द्वारा मनुष्य वशीभूत होते हैं और केवल मनुष्य ही नहीं राग रागिनीके साथ उसे प्रयोग करनेपर क्रूर सर्प व मदमत्त हस्ती पर्यन्त वशीभूत हो जाते हैं, तो प्रकृतिके विशेष स्पन्दनके द्वारा उत्पन्न दिव्य शब्दोंके भीतर बहुत ही शक्ति होगी इसमें क्या सन्देह हो सकता है। क्योंकि प्रकृतिके स्पन्दनजनित मन्त्रसमूह प्रकृतिके सूक्ष्मराज्यका परिणाम है इसलिये सूक्ष्म दिव्य नामरूपी मन्त्रोंमें अनन्तशक्तिरूपिणी प्रकृतिमाताकी अनन्तशक्ति भरी हुई है। जिस प्रकार समस्त सूक्ष्म ब्रह्माण्ड प्रकृतिको कंपाकर प्रणव नादकी उत्पत्ति होनेसे उसमें समस्त ब्रह्माण्ड प्रकृतिकी अनन्त शक्ति भरी हुई है, उसी प्रकार अन्यान्य जो मन्त्र प्रकृतिके जिस विभागको कंपाकर उत्पन्न होता है, उस मन्त्रमें प्रकृतिके उस सूक्ष्म विभागकी शक्ति निहित रहती है। प्रत्येक सूक्ष्म राज्यके विभागके जो अधिष्ठात्री देवता हैं वही उक्त राज्य सम्बन्धीय शक्तिके अधिनायक हैं। क्योंकि बिना दैवीसम्बन्धसे शक्तिका प्रयोग नहीं हो सकता है। पहले अध्यायोंमें सिद्ध किया गया है कि जड़ कर्मके चालक देवतागण हैं। दैवीसहायतासे ही शक्ति उत्पन्न होकर कर्मकी उत्पत्ति व कर्मफलकी प्राप्ति होती है। अस्तु, मन्त्रके साथ जब दैवीशक्तिका साक्षात् सम्बन्ध है तो मन्त्रकी सहायतासे यथावत् शक्तिका प्रकाश होना स्वतःसिद्ध है। वही मन्त्रोंसे शक्तिके आविर्भावका विज्ञान है। जिन अक्षरोंके परस्पर समन्वयसे मन्त्र बनते हैं वे इस तरहसे मिलाये जाते हैं कि जिस प्रकार धातु व रासायनिक पदार्थोंको विचारपूर्वक मिलानेसे उसमेंसे बिजलीकी शक्ति प्रकाश होती हैं उसी प्रकार शक्तिमान् उन अक्षरसमूहोंके सूक्ष्म विचारपूर्वक मिलनके द्वारा अद्भुत दैवी-

शक्ति मन्त्रमें प्रकाशित हो जाती है । इसके सिवाय जिस प्रकार शब्द प्रयोक्ताकी प्राणशक्ति व हार्दिक शक्तिके द्वारा शब्दमें अपूर्व शक्ति आ जाती है जिसके द्वारा श्रोताओंके ऊपर प्रभाव पड़ जाता है, इसी प्रकार साधकके अन्तःकरण की शुद्धशक्ति भावशक्ति, प्राणशक्ति, व संयमशक्तिके द्वारा मन्त्र प्रयुक्त होने पर उसमें असाधारण शक्ति बन जाती है जिससे वह मन्त्र चाहे जहाँ पर प्रयोग किया जाय ईप्सित फल प्रदान किये बिना नहीं रहता है । परन्तु जिस प्रकार शब्दमें शक्ति होने पर भी दुष्ट उच्चारण द्वारा तथा प्राणहीन, हृदयहीन मनुष्यके द्वारा उच्चारित होनेसे एतादृश फल प्राप्ति नहीं होती है, ठीक उसी प्रकार मन्त्र भी स्वरसे या वर्णसे ठीक ठीक उच्चारित न होने पर तथा मन्त्रप्रयोगकर्त्तामें प्राणशक्ति, संयमशक्ति व हार्दिकशक्तिकी हीनता होनेपर यथार्थ फलको नहीं दे सकता है. परन्तु उल्लिखित किसी प्रकारका दोष यदि न हो और अन्तःकरणकी पूर्णशक्तिके साथ साध्य वस्तुको लक्ष्य करके प्रयुक्त हो तो अवश्य ही मन्त्र ईप्सित फलको उत्पन्न करेगा इसमें कोई संदेह नहीं है । वर्त्तमान समयमें जो अनेक स्थल पर मन्त्र ठीक फल नहीं देता है इसके लिये ऊपर लिखित प्रयोग-दोष ही कारण है । जिस साधकने पुरश्चरण आदि प्रक्रिया द्वारा मन्त्रचैतन्य करके ठीक ठीक साधन किया है वे अवश्य ही मन्त्रशक्तिको अपने अनुकूल करके संसारमें असाधारण दैवी शक्तियोंको प्राप्त करेगा इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है । वह अपनी प्राणशक्तिके साथ मन्त्रशक्तिका प्रयोग करके जो चाहे सो कर सकेगा । शास्त्र वर्णित सभी सिद्धियाँ इस तरहसे प्राप्त होती हैं । मन्त्रशक्तिके बलसे दैवजगत् पर प्रभाव डालकर तत्तत् प्रकृतिके अधिनायक देवताको इस प्रकार मन्त्र द्वारा वशीभूत किया जा सकता है । और आसुरी प्रकृति पर विराजमान पिशाच, दैत्य, भूत, प्रेत, डाकिनी, शाकिनी आदि तामसिक शक्तियोंको भी इस प्रकारसे मन्त्रशक्तिके द्वारा साधक वशीभूत कर सकते हैं । इसके सिवाय विविध प्रकारकी अस्त्रसिद्धि भी इस प्रकारसे मन्त्रशक्तिके द्वारा हो सकती है जैसा कि आर्यशास्त्रमें वर्णित किया गया है । रामायण-महाभारतमें जो दिव्यास्त्र, ब्रह्मास्त्र, पाशुपतास्त्र, आग्नेयास्त्र आदि अस्त्रोंके प्रयोगका प्रमाण मिलता है सो इसीप्रकारसे मन्त्रशक्तिके द्वारा सिद्ध अस्त्रसमूह है । उन मन्त्र समूहोंको चैतन्य करके अपनी प्राणशक्तिके साथ शत्रु-पर प्रयोग करनेसे प्राणशक्ति व मन्त्रशक्तिसे पूर्ण अस्त्रसमूह लक्ष्यस्थल पर जाकर अवश्य ही ईप्सित फल उत्पन्न करेंगे इसमें कोई भी सन्देह नहीं है । कोई कोई

अर्वाचीन पुरुष अस्त्रसिद्धि पर इस तरह कटाक्ष करते हैं कि जब मन्त्रमें शक्ति है तो उच्चारण करनेवालोंकी जिह्वा क्यों नहीं जल जाती। उनके इस बालवत् प्रलाप-पर धन्यवाद है !! सामान्य दृष्टान्तके द्वारा समझ सकते हैं कि जिस प्रकार सूर्य-किरणमें दग्ध करनेकी शक्ति होने पर भी जहाँ तहाँ वह शक्ति दग्ध नहीं कर सकती है परन्तु आतसी काँचके द्वारा आकृष्ट होकर जहाँ पर वह शक्ति केन्द्री-भूत (focus) की जाती है वहाँ पर ही उस वस्तुको दग्ध कर सकती है, उसी प्रकार मन्त्रमें शक्ति होने पर भी वह शक्ति मन्त्रमें साधारणरूपसे व्याप्त रहती है परन्तु जिस वस्तु पर लक्ष्य करके अन्तःकरणकी एकाग्रता व प्राणशक्तिके द्वारा वह मन्त्र अस्त्रकी सहायतासे प्रयुक्त होता है वही जलाना, मार देना, मुग्ध कर देना आदि अद्भुत क्रियाओंको कर सकता है। प्रत्येक मन्त्रकी सिद्धि, साध्य वस्तु पर भावशक्तिके द्वारा केन्द्रीकरण (focus) होनेसे तब हो सकती है, जहाँ तहाँ नहीं हो सकती है। जिस साधकके अन्तःकरणमें भावशक्ति व प्राण-शक्तिकी जितनी प्रबलता होगी, मन्त्रोंके द्वारा अस्त्रप्रयोग, मन्त्रसाधन द्वारा आसुरी शक्ति तथा देवताओंका वशीकरण और श्रीभगवान् तककी भी प्रसन्नता प्राप्ति वह उतना ही कर सकेगा।

मन्त्रयोगमें जो नाम व रूपके द्वारा साधनाकी विधि बताई गई है उसमेंसे दिव्यनाम अर्थात् मन्त्रके द्वारा ऊपर लिखित उपायसे इष्टदेवकी साधना हुआ करती है। इष्टदेवको लक्ष्य करके इष्टदेवमन्त्रका जप व उसकी अर्थभावना करते करते साधक जिस प्रकृतिके साथ इष्टदेव तथा मन्त्रका सम्बन्ध है उसमें अपनी चित्तवृत्तिको विलीन कर सकते हैं। जिस प्रकार रूपके अवलम्बनसे भावमें और भाव द्वारा भावग्राही भगवान्में आत्मा विलीन होता है उसी प्रकार मन्त्रसाधन द्वारा मन्त्रजननशीला प्रकृति व तत्प्रकृतिके अधिनायक इष्टदेवतामें आत्मा विलीन होता है। इस प्रकारसे व्यापक प्रकृतिके साथ मन्त्रद्वारेण जितनी अपने आत्माकी एकता होती है उतनी ही व्यापक प्रकृतिकी शक्तिको साधक प्राप्त कर सकता है और अन्तमें मन्त्र व देवताका भेद भूलकर दैवी प्रकृतिमें विराजमान इष्टदेवतामें साधकका आत्मा लवलीन हो भावसमाधिको प्राप्त करता है। जिस नाम व रूपके अवलम्बनसे जीव संसारमें बद्ध हो गया था उसी नाम व रूपको दिव्यभावके साथ आश्रय करके जीव इस तरहसे नामरूपनिर्मुक्त ब्रह्मपदको प्राप्त करता है। नामरूपमय मन्त्रयोगकी साधनाके द्वारा अन्तमें सविकल्प समाधिरूप महाभाव समाधिको

प्राप्त करके साधक चिन्मय निराकार व निर्गुण ब्रह्मकी राजयोगोक्त साधनाका अधिकार लाभ करता है जिसके गुरुमार्गप्रदर्शित नियमित षोडशाङ्गके साधनद्वारा अन्तमें निर्विकल्प समाधि पदवीको प्राप्त करके साधक मुक्त हो जाता है। यही सकल साधनाका अन्तिम फल है।

मन्त्रयोगोक्त नाम व रूपके आश्रयसे मायाबद्ध जीव किस प्रकारसे माया निर्मुक्त हो सकता है सो ऊपर बताया गया है। अब नामरूपमय मन्त्रयोगोक्त साधनप्रणाली कितने अङ्गोंमें विभक्त है सो बताया जाता है। मन्त्रयोगकी साधनप्रणाली सोलह अङ्गोंमें विभक्त है यथा योगशास्त्रमें—

भवन्ति मन्त्रयोगस्य षोडशाङ्गानि निश्चितम्।
यथा सुधांशोर्जायन्ते कलाः षोडश शोभनाः॥
भक्तिः शुद्धिश्चासनं च पञ्चाङ्गस्यापि सेवनम्।
आचारधारणे दिव्यदेशसेवनमित्यपि॥
प्राणक्रिया तथा मुद्रा तर्पणं हवनं बलिः।
यागो जपस्तथा ध्यानं समाधिश्चेति षोडश॥

चन्द्रकी सोलह कलाकी तरह मन्त्रयोग भी सोलह अङ्गोंसे पूर्ण है। ये सोलह अङ्ग इस प्रकार हैं—भक्ति, शुद्धि, आसन, पञ्चाङ्गसेवन, आचार, धारणा, दिव्यदेशसेवन, प्राणक्रिया, मुद्रा, तर्पण, हवन, बलि, याग, जप, ध्यान और समाधि। नीचे संक्षेपसे प्रत्येक अङ्गका रहस्य वर्णन किया जाता है।

(१) भक्ति—भक्तिके तीन भेद हैं यथा वैधी, रागात्मिका व परा। इन तीनोंका पूर्ण रहस्य पहलेही पृथक् प्रबन्ध द्वारा बताया गया है। भक्त त्रिगुण भेदसे त्रिविध होते हैं, यथा-आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और चतुर्थ ज्ञानी, जो त्रिगुणातीत हैं। श्रीभगवान्‌ने गीतामें भी लिखा है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

ज्ञानी भक्त ही पराभक्तिका अधिकारी हो सकता है। त्रिगुणभेदसे उपासक तीन प्रकारके होते हैं। ब्रह्मोपासक सबमें श्रेष्ठ है। ब्रह्मबुद्धिसे सगुणोपासक और ब्रह्मबुद्धिसे अवतारोपासक इसी श्रेणीमें हैं। सकाम-

बुद्धिसे ऋषि, देवता व पितरोंकी उपासना करने वाले द्वितीय श्रेणिके हैं। और क्षुद्र शक्तिओंकी उपासना करने वाले तृतीय श्रेणिके हैं। उपदेवता, प्रेतादिककी उपासना इसी निम्नश्रेणिमें समझी जाती है।

(२) शुद्धि—शुद्धिके शरीर, मन, दिक् व स्थान भेदसे चार भेद हैं। वेही स्थानशुद्धि, दिक्शुद्धि, वाक्शुद्धि और आभ्यन्तर शुद्धि कहे जाते हैं।

दिक्शुद्धि

आसीनः प्राङ्मुखो नित्यं जपं कुर्याद् यथाविधि।
रात्रावुदङ्मुखः कुर्याद् दैवकार्यं सदैव हि॥
दिक् शुद्ध्या साधकः सिद्धिं साधने लभतेऽञ्जसा।
मनश्च वश्यतां यातीत्यतः कार्या प्रयत्नतः॥

योगसंहिता।

पूर्वमुख अथवा उत्तरमुख बैठकर नित्य यथाविधि जप करें और रात्रिको उत्तर मुख बैठकर देवकार्य सदा करें। दिक्शुद्धि द्वारा साधकको साधनमें सिद्धिकी प्राप्ति होती है और साधकका मन वशीभूत होता है। अतः दिक्-शुद्धिका विचार अवश्य रखना चाहिये।

कायशुद्धि

साधन क्रियाके अर्थ मनुष्यको स्नान कार्य सबसे प्रथम करना चाहिये शास्त्रमें सात प्रकारका स्नान कहा गया है—

मान्त्रं भौमं तथाग्नेयं वायव्यं दिव्यमेव च।
वारुणं मानसं चैव सप्तस्नानं प्रकीर्त्तितम्॥
आपोहिष्ठादिभिर्मान्त्रं भौमं देहप्रमार्जनम्।
आग्नेयं भस्मना स्नानं वायव्यं गोरजः स्मृतम्॥
यत्तदातपवर्षेण स्नानं दिव्यमिहोच्यते।
वारुणं चावगाहः स्यान्मानसं विष्णुचिन्तनम्॥

योगसंहिता।

मान्त्र, भौम, आग्नेय, वायव्य, दिव्य, वारुण व मानस—स्नानके सात भेद हैं। 'आपोहिष्ठा' आदि मन्त्र और जल आदिसे जो स्नान किया जाता है उसको मान्त्रस्नान कहते हैं। शरीरको वस्त्रसे भली प्रकार पोछनेको भौम

स्नान कहते हैं। भस्मधारण करनेसे आग्नेय स्नान कहा जाता है। गोरजको शरीर पर लेपन अथवा शरीरमें उसका स्पर्श वायव्य स्नान है। वृष्टिपात होते समय यदि सूर्यका आतप हो तो उस समय वृष्टिजलमें स्नान करनेसे दिव्यस्नान कहाता है । जलमें डूबकर स्नान करनेसे वारुण स्नान कहाता है और अनन्तसूर्यके समान प्रभायुक्त, चतुर्भुज सत्वगुणमय भगवान्के रूपका ध्यान ही मानसस्नान है। इस प्रकार बाह्यशुद्धि द्वारा आत्मप्रसाद व इष्टदेवकी कृपा उपलब्ध होती है।

स्थानशुद्धि

गोमयेन यथा स्थानं कायो गंगोदकेन च ।
पञ्चशाखायुतो देशस्तथा सिद्धिप्रदायकः ॥
गोशाला वै गुरोर्गेहं देवायतनकाननम् ।
पुण्यक्षेत्रं नदीतीरं सदा पूतं प्रकीर्त्तितम् ॥

योगसंहिता ।

जिस प्रकार गङ्गाजलसे शरीरकी शुद्धि होती है, और गोमयसे स्थानकी शुद्धि होती है उसी प्रकार पञ्चशाखायुक्त स्थान अर्थात् अश्वत्थ, वट, बिल्व, आमलकी व अशोक यह पञ्चवृक्षयुक्त पञ्चवटीकेनीचेका स्थान सिद्धियों का देनेवाला है। गोशाला, गुरुगृह, देवमन्दिर, वनस्थान, तीर्थादि पुण्यक्षेत्र और नदीतीर ये सदाही पवित्र समझे जाते हैं। स्थानशुद्धिके द्वारा पवित्रता व पुण्यवृद्धि होती है।

अन्तःशुद्धि

अभय, सत्त्वसंशुद्धि. ज्ञानयोग निष्ठा, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति आदि जो गीताजीमें दैवी सम्पत्तिके लक्षण कहे गये हैं उनके अवलम्बन द्वारा अन्तःशुद्धि अर्थात् अन्तःकरण निर्मल हुआ करता है। गीतोक्त आसुरी सम्पत्तिको छोड़ कर दैवी सम्पत्तिका लाभ करना ही अन्तःशुद्धि है जिसके द्वारा इष्टदेवका दर्शन व समाधिकी प्राप्ति होती है।

(३) आसन—मंत्रयोगमें हितप्रद होनेके कारण प्रधानतः दो आसन लिये गये हैं। यथा स्वस्तिक व पद्मासन। आसन भेद, आसनशुद्धि व आसनक्रिया इन तीनोंके द्वारा आसनसिद्धि होती है। सकाम निष्काम विचार, उपासना

पद्धति और कामनाके तारतम्यसे आसनभेद निर्णीत हुए हैं। पटवस्त्र, कम्बल, कुशासन, सिंहचर्म और मृगचर्मके आसन अतिशुद्ध कहाते हैं। और ये सबही सिद्धिफलके देनेवाले हैं। काम्यकर्मके अर्थ कम्बलासन श्रेष्ठ है, परन्तु रक्त कम्बलनिर्मित आसन ही सबसे उत्तम समझा जाता है। कृष्णाजिन अर्थात् काले मृगके चर्मके आसनसे ज्ञानकी सिद्धि, व्याघ्रचर्मसे मोक्षकी सिद्धि, कुशासनसे आयुकी प्राप्ति और चैल अर्थात् रेशमके आसनसे व्याधिका नाश हुआ करता है। और प्रथम चैल, उसके नीचे अजिन और सबसे नीचे कुशासन इस प्रकार गीतोक्त—

"चैलाजिनकुशोत्तरम्"

के क्रमसे आसन निर्माण करनेसे योगसाधनमें सिद्धिकी प्राप्ति होती है। पृथिवीको आसन बनानेसे दुःखकी प्राप्ति, काष्ठासनसे दुर्भाग्यका उदय, वंशनिर्मित आसनसे दरिद्रता, पाषाणनिर्मित आसनसे व्याधिकी उत्पत्ति, तृणके आसनसे यशकी हानि, पल्लवके आसनसे चित्तविभ्रमकी प्राप्ति और वस्त्रनिर्मित आसनसे जप, ध्यान और तपकी हानि हुआ करती है, इस कारण ये सब आसन निषिद्ध हैं। सिंहचर्म, व्याघ्रचर्म और कृष्णसार चर्म पर गुरुदीक्षा-विहीन गृहीको कदापि बैठना उचित नहीं है। ऐसे आसनों पर गृहस्थगण केवल गुरुआज्ञा पानेसे ही बैठ सकते हैं। परन्तु स्नातक ब्रह्मचारिगणको इन आसनों पर उदासीनके समान बैठना चाहिये। उचित आसन पर बैठकर पृथ्वी इस मंत्रके ऋषिका नाम उच्चरण पूर्वक, यथा-मेरुपृष्ठ आदि क्रमसे छन्द आदिका उच्चारण कर

"आसने विनियोगः"

द्वारा आसनकी शुद्धि करके सुखपूर्वक जपपूजा आदि करनेसे सिद्धिकी प्राप्ति होती है और अन्यथा करनेसे साधनकार्य निष्फल हुआ करता है। इन सब विषयोंका प्रमाण योगशास्त्रमें द्रष्टव्य है।

(४) पञ्चाङ्ग सेवन—योगशास्त्रमें लिखा है—

गीतासहस्रनामानि स्तवः कवचमेव च।
हृदयं चेति पञ्चैते पञ्चाङ्गं प्रोच्यते बुधैः॥

गीता, सहस्रनाम, स्तव, कवच और हृदय इन्हें विद्वानोंने पञ्चाङ्ग कहा है। स्व स्व उपासना सम्प्रदायके अनुसार गीता, और स्व स्व पद्धतिके अनु-

सार सहस्रनाम, स्तव, कवच और हृदयके प्रतिदिन पाठ करनेसे योगी कल्म-परहित होता हुआ योगसिद्धिको प्राप्त करता है। पञ्चोपासनाके अनुसार गीता पांच हैं—भगवद्गीता, गणेशगीता, भगवतीगीता, सूर्यगीता व शिवगीता। इसी प्रकार सहस्रनाम भी पृथक् पृथक् पांच हैं। और अनेक पद्धतिके अनुसार स्व स्व उपासनामूलक स्तव, कवच और हृदय अनेक हैं सो साधकको गुरूपदेशद्वारा प्राप्त करने योग्य हैं। सब गीताओंमें जगज्जन्मादिकारण विचारसे एक अद्वितीय ब्रह्मके विचित्र भावमय विज्ञानका वर्णन किया है, क्योंकि पञ्चोपासना ब्रह्मोपासना ही है।

(५) आचार—योगशास्त्रमें लिखा है—

आचारस्त्रिविधः प्रोक्तः साधकानां मनीषिभिः।
दिव्यदक्षिणवामाश्चाधिकाराः सप्त कीर्त्तिताः॥
सप्ताधिकारा विदुषः साधकस्य मता इमे।
दीक्षा ततो महादीक्षा पुरश्चरणमेव च॥
ततो महापुरश्चर्याऽभिषेकस्तदनन्तरम्।
षष्ठो महाभिषेकश्च तद्भावोऽन्तिम ईरितः॥

साधकोंके अर्थ त्रिविध आचारोंका वर्णन आचार्योंने किया है यथा—दिव्य, दक्षिण और वाम। और साधकके अधिकार सात कहे गये हैं यथा-दीक्षा, महादीक्षा; पुरश्चरण, महापुरश्चरण अभिषेक, महाभिषेक, और तद्भाव। आचारोंके विषयमें वर्णन पहले ही तन्त्रप्रकरणमें बहुत कुछ किया गया है। अतः पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है। अब साधकके सात अधिकारोंका वर्णन किया जाता है। जब गुरुदेव कृपा करके शिष्यको देवता व मन्त्रका उपदेश दें तो वह संस्कार दीक्षा कहाता है। तदनन्तर साधकको उपयुक्त समझकर जब गुरुदेव साधनके साथ गुरुलक्ष्ययुक्त योग क्रियाओंका उपदेश देना प्रारम्भ करते हैं और शिष्यको प्रतिज्ञाबद्ध कर दिया करते हैं तो वह दूसरा उन्नत अधिकार महादीक्षा कहाता है। जिस गुरुलक्ष्ययुक्त साधन द्वारा साधक क्रमशः मन्त्रसिद्धिको प्राप्त करता है उसे पुरश्चरण कहते हैं। ग्रहण आदि शुभकालमें जो साधारण रीति पर मन्त्रपुरश्चरण किया जाता है वह क्रिया पुरश्चरण शब्दवाच्य है। और विशेष क्रियासाध्य, कालसाध्य व उपदेशसाध्य जो पुरश्चरण होता है उसको महापुरश्चरण कहते हैं। पुरश्चरण द्वारा सिद्धिलाभ करनेसे साधक उन्नत अधिकारोंको

प्राप्त हो जाता है। जब गुरुदेव शिष्यको साधन सम्बन्धीय गुप्त रहस्योंके उपदेश देनेके उपयोगी समझते हैं तो संस्कारोंके प्रदान द्वारा गुरुदेव उस शिष्यको गुप्त रहस्योंके भेद बताकर आनन्दराज्यका अधिकारी किया करते हैं। उस विधिको अभिषेक कहते हैं। पञ्चदेवात्मक पञ्चसम्प्रदायोंमें इस अभिषेकके स्वतन्त्र स्वतन्त्र नाम सुननेमें आते हैं। जब श्रीगुरुदेव उन्नततम संस्कार द्वारा साधकको अपने समान करके अपनेमें मिला लेते हैं उसको महाभिषेक कहते हैं। कहीं कहीं इसको पूर्णाभिषेक भी कहा करते हैं। आध्यात्मिक उन्नति द्वारा जब उपासक सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त करके नामरूपकी ऐक्यता प्राप्त करनेको समर्थ होने लगता है उसी सर्वोत्तम अधिकारको तद्भाव कहते हैं। इस भाव द्वारा साधककी अपने इष्टदेवके साथ एकता स्थापन होने लगती है और इसी अवस्थासे महाभावकी प्राप्ति हुआ करती है। इन सभोंका प्रमाण योगशास्त्रमें द्रष्टव्य है।

(६) धारणा—बाह्य व आभ्यन्तर भेदसे धारणा दो प्रकारकी होती है। मन्त्रयोगमें धारणा परम सहायक है। बहिः पदार्थोंमें मनके योगसे बहिर्धारणाका साधन और सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्तर्जगतके विषयोंमें मनके योगसे अन्तर्धारणाका साधन होता है। धारणाकी सिद्धि श्रद्धा और योगमूलक है। योगशास्त्रमें लिखा है—

भक्तिर्जपस्य संसिद्धिराचारः प्राणसंयमः।
साक्षात्कारो देवताया दिव्यदेशेषु नित्यशः॥
देवशक्तिविकाशो वै हीष्टदर्शनमेव च।
लभ्यन्ते धारणासिद्ध्या सर्वाणीति विनिश्चयः॥

धारणामें सिद्धि प्राप्त करनेसे योगी मन्त्रसिद्धि, भक्ति, आचार, प्राणसंयम, देवतासान्निध्य, दिव्यदेशमें दैवीशक्तिका आविर्भाव व इष्टरूपदर्शन यह सब प्राप्त करते हैं। मन्त्रमें सिद्धि प्राप्त करनेके लिये मन्त्रोंका संस्कार व मन्त्रचैतन्य करना होता है जो निम्नलिखित दश प्रकारसे हो सकता है। सरस्वती तन्त्रमें लिखा है—

मन्त्रार्थं मन्त्रचैतन्यं योनिमुद्रां न वेत्ति यः।
शतकोटिजपेनापि तस्य विद्या न सिद्ध्यति॥

मन्त्रार्थ, मन्त्रचैतन्य व योनिमुद्राके न जाननेसे चैतन्यविहीन तथा संस्कारविहीन मन्त्रके शतकोटि जपके द्वारा भी सिद्धि प्राप्त नहीं होती है। अतः मन्त्रोंका संस्कार अवश्य करना चाहिये। जनन, जीवन, ताडन, बोधन, अभिषेक, विमलीकरण, आप्यायन, तर्पण, दीपन और गुप्ति इन दशविध संस्कारों द्वारा मन्त्रकी सिद्धि हुआ करती है। योगशास्त्रोक्त मातृकायन्त्र द्वारा मन्त्र वर्णों के उद्धारको 'जनन' कहते हैं। उद्धृत वर्णोंको पंक्तिके क्रमसे लिखकर प्रत्येक वर्णको प्रणव द्वारा पुटित करके एक एकको शतवार अथवा दशबार जप किया जाय तो इस प्रकारकी जपक्रियाको 'जीवन' कहते हैं। मन्त्रके वर्णोंको पृथक् पृथक् लिखकर 'वं' मन्त्र द्वारा चन्दनोदकसे दस अथवा शतवार ताड़न करनेको मुनिगण 'ताड़न' क्रिया कहते हैं। मन्त्रके वर्णोंको पृथक् पृथक् रूपसे लिखकर मन्त्रवर्णोंकी संख्याके अनुसार रक्त करवीर-पुष्पों द्वारा 'रं' इस मन्त्रसे मन्त्र वर्णों को हनन करे तो इस क्रियाका नाम 'बोधन' होगा। मन्त्रवर्णों को लिखकर मन्त्राक्षर सख्याके अनुसार रक्त करवीर पुष्पों द्वारा 'रं' इस मन्त्रसे एक एक बार वर्णोंको अभिमन्त्रित करके उस मन्त्रोक्त विधानके अनुसार अश्वत्थपल्लवद्वारा मन्त्रवर्णोंकी संख्याके अनुसार अभिसिञ्चित करनेसे 'अभिषेक क्रिया होती है। सुषुम्नाके मूलभाग व मध्यभागमें मन्त्रचिन्तन करके ज्योतिर्मन्त्र अर्थात्'ओं ह्रौं'इस मन्त्रसे मलत्रय दग्ध करनेको 'विमलीकरण' कहते हैं। स्त्रियोंसे जो मल उत्पन्न होता है उसको 'मायिक', पुरुषोंसे जो मल उत्पन्न होता है उसे 'कर्म्मण' और दोनोंसे जो मल उत्पन्न हो उसे 'आनव्य' कहते हैं। ये मलत्रय साधनके बाधक हैं। तार=ओं, व्योम=ह, अग्नि=र, मनु=औ और दण्डी=म इन सबोंको मेलसे "ओंह्रौं" हुआ करता है जिसको ज्योतिर्मन्त्र कहते हैं। मन्त्र वर्णोंको स्वर्णके जलमें, कुशजलमें, अथवा पुष्पजलमें पूर्वलिखित रीतिके मन्त्रसे अर्थात् ज्योतिर्मन्त्रसे विधिपूर्वक आप्यायन करनेको 'आप्यायन' कहते हैं। पूर्वकथित ज्योतिर्मन्त्र द्वारा जलसे मन्त्रपर तर्पण करनेको 'तर्पण' कहते हैं। शक्तिमन्त्रको मधुसे, विष्णुमन्त्रको कर्पूर मिश्रित जलसे और शिवमन्त्रको दुग्धद्वारा तर्पण करनेकी विधि शास्त्रोंमें कथित है। तार=ओं, माया=ह्रीं और रमा=श्रीं, इनके द्वारा अर्थात् 'ओं ह्रीं श्रीं" इस मन्त्र द्वारा मन्त्रके दीपन करनेको 'दीपन क्रिया" कहते हैं। और जिस मन्त्रका जप किया जाय उसे अति गुप्त रखनेको "गुप्ति क्रिया" कहते हैं। यही मन्त्रोंके दशसंस्कार हैं जिनके द्वारा मन्त्रको सस्कृत व चैतन्य-युक्त करके जप करनेसे साधक इच्छित फलको प्राप्त कर सकता है।

(७) दिव्यदेशसेवन—योगशास्त्रमें लिखा है—

यथा गवां सर्वशरीरजं पयः
पयोधरान्निःसरतीह केवलम्।
तथा परात्माऽखिलगोऽपि शाश्वतो
विकाशमाप्नोति स दिव्यदेशकैः॥

जिस प्रकार गौके सर्वशरीरमें दुग्ध व्याप्त रहनेपर भी केवल स्तनद्वारा ही क्षरित होता है, उसी प्रकार परमात्माकी शक्ति सर्वव्यापक होनेपर भी उसका विकाश दिव्यदेशोंके द्वारा ही होता है। योगशास्त्रमें सोलह प्रकारके दिव्यदेश कहे गये हैं। यथा—

तन्त्रेषु दिव्यदेशाः षोडश प्रोक्ता यथाऽत्र कथ्यन्ते।
अग्न्यम्बुलिङ्गवेद्यो भित्तौ रेखा तथा च चित्रं च॥
मण्डलविशिखौ नित्यं यन्त्रं पीठं च भावयन्त्रं च।
मूर्त्तिर्विभूतिनाभी हृदयं मूर्धा च षोडशैते स्युः॥

वह्नि, अम्बु, लिङ्ग, स्थण्डिल, कुड्य, पट, मण्डल, विशिख, नित्ययन्त्र, भावयन्त्र, पीठ, विग्रह, विभूति, नाभि, हृदय व मूर्द्धा येही सोलह दिव्यदेश हैं। इन दिव्य देशोंमें किस प्रकारसे भगवत्शक्तिका विकाश होता है सो 'विग्रह' या प्रतिमारूप दिव्यदेशमें शक्तिविकाशके प्रसङ्गमें पूर्णरूपसे पहले ही वर्णन किया गया है। साधकके अधिकारानुसार इन दिव्य देशोंमें उपासना करनेका उपदेश उसको प्राप्त होता है। योगसिद्धि प्राप्त करनेमें ये सभी परम हितकर हैं। धारणाकी सहायतासे दिव्यदेशोंमें इष्टदेवताका आविर्भाव होता है। मृण्मय आदि मूर्त्तिमें प्रथम देवताका आवाहन करके पूजा आरम्भ करना उचित है, परन्तु प्रतिष्ठित देवविग्रह, संस्कृत अग्नि अथवा जलमें आवाहन और विसर्जनकी आवश्यकता नहीं रहती।

(८) प्राण क्रिया—मन, प्राण और वायु ये तीन एक सम्बन्धसे युक्त हैं। वायु और प्राण, कार्य और कारणरूप हैं। इस कारण प्राणायाम क्रियाके साथ न्यास क्रियाका एकत्व सम्बन्ध है। प्राणायामके विस्तारित भेद हठयोगके आचार्योंने वर्णन किये हैं जो आगे बताये जायंगे। मन्त्रयोगमें सहित प्राणायाम ग्रहण किया गया है और सहज प्राणायामका भी उपदेश

कोई कोई आचार्य करते हैं। न्यासके कई भेद हैं उनमेंसे सात प्रधान हैं जो यथाधिकार गुरुदेवसे सीखने योग्य हैं। साधारण उपासनामें करन्यास और अङ्गन्यास ही उपयोगी होते हैं। विस्तारित उपासनामें ऋष्यादिन्यास व मातृकान्यास अवश्य करणीय है। इन सबोंके प्रमाण व विस्तृत वर्णन योगशास्त्रमें द्रष्टव्य है।

(९) मुद्रा—योगशास्त्रमें लिखा है—

मोदनात्सर्वदेवानां द्रावणात्पापसन्ततेः ।
तस्मान्मुद्रेति विख्याता मुनिभिस्तन्त्रवेदिभिः ॥

मुद्राओंके द्वारा देवताओंका आनन्दवर्द्धन होता है और साधकके पापोंका भी नाश होता है। इस कारण मुनियोंने इनकी मुद्रा संज्ञा की है। पूजन, जप, ध्यान, आवाहन आदि कार्यों में उन कार्योंके लक्षणानुसार मुद्राओंका प्रदर्शन करना उचित है। आवाहन आदि नौ प्रकारकी मुद्रा सर्वसाधारणी मानी गई है। और षडङ्ग मुद्रा भी सब कामोंके लिये प्रशस्त है। शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, वेणु, श्रीवत्स, कौस्तुभ, वनमाला, ज्ञान, विल्व, गरुड़, नारसिंही, बाराही, हायग्रीवी, धनुष, बाण, परशु, जगन्मोहनिका व कम्यनामिका इन उन्नीस मुद्राओंके द्वारा श्रीविष्णु भगवान्को आनन्द प्राप्त होता है। लिङ्ग, योनि त्रिशूल, माला, वर, अभय, मृग, खट्वाङ्ग, कपाल और डमरु ये दश मुद्राएँ श्रीमहादेवको आनन्दित करनेवाली हैं। श्रीसूर्य उपासनाके अर्थ एकमात्र पद्ममुद्रा ही कही गई है। श्रीगणेशपूजाके अर्थ दन्त, पाश, अङ्कुश, विघ्न, परशु, लड्डूक और बीजपूरमुद्रा, ये सात मुद्राएँ वर्णित हैं। और पाश, अङ्कुश, वर, अभय, खड्ग, चर्म, धनु, शर, और मूसल ये नौ मुद्रा दुर्गादेवीकी अतिप्रिय हैं। पञ्चोपासनामें विहित इन मुद्राओंके अतिरिक्त अन्यान्य देवदेवियोंके प्रीत्यर्थ भी अनेक मुद्राओंका वर्णन शास्त्रमें पाया जाता है जो विस्तारभयसे नहीं दिया गया। ज्ञानमुद्रा, भक्तिमुद्रा, तपोमुद्रा, कर्ममुद्रा, दानमुद्रा—इन सब मुद्राओंसे ऋषिगण प्रसन्न होते हैं। वरमुद्रा और अभयमुद्रा आदिसे ऋषि, देवता और पितर तथा लोकत्रयवासी प्रसन्न होते हैं। प्रमाण योगशास्त्रमें द्रष्टव्य है।

(१०) तर्पण—योगशास्त्रमें वर्णन है, यथा—

तर्पणाद्देवताप्रीतिस्त्वरितं जायते यतः ।
अतस्तत्तर्पणं प्रोक्तं तर्पणत्वेन योगिभिः ॥

देवतागण तर्पण द्वारा शीघ्र तृप्त होते है इस कारण इसका नाम तर्पण है। तर्पण निष्काम व सकाम भेदसे दो प्रकारका होता है। कामनाके अनुसार तर्पण करनेके द्रव्य भी स्वतन्त्र स्वतन्त्र होते हैं। तर्पण मन्त्रयोगका एक प्रधान अङ्ग है। इष्ट तर्पणके अनन्तर ऋषितर्पण, अन्य देवतर्पण और पितृतर्पण करने की विधि है। तर्पणकी विशेषता यह है कि विधिपूर्वक तर्पण करनेसे देवयज्ञ, भूतयज्ञ, और पितृयज्ञ करनेकी आवश्यकताही नहीं रहती। अपने इष्टदेवको शीघ्र प्रसन्न करनेकी इच्छा यदि कोई रक्खे तो विधिपूर्वक प्रतिदिन तर्पण किया करे। मधुसे तर्पण करनेसे सकल अभीष्ट पूर्ण होते हैं, मन्त्रकी सिद्धि होती है और सम्पूर्ण महापातक नष्ट हो जाते हैं। घृतसे तर्पण करनेसे पूर्ण आयु होती है। आरोग्य प्राप्तिके लिये दुग्धसे तर्पण करना चाहिये। नारिकेलजलयुक्त जलसे तर्पण करनेसे निखिल अभीष्टोंकी सिद्धि होती है। इत्यादि इत्यादि भिन्न भिन्न प्रकार तर्पणके फल आर्यशास्त्रमें वर्णित किये गये हैं।

(११)—हवन–योगशास्त्रमें हवन विधि निम्नलिखित रूपसे वर्णित की गई है—

अर्घ्योदकेन सम्प्रोक्ष्य तिस्रो रेखाः समालिखेत्।
विधिवदग्निमानीय क्रव्यादिभ्यो नमस्तथा॥
मूलमन्त्रं समुच्चार्य्य कुण्डे वा स्थंडिलेऽपिवा।
भूमौ वा संस्तरेद् वन्हिं व्याहृतित्रितयेन च॥
स्वाहान्तेन त्रिधा हुत्वा षडङ्गहवनं चरेत्।
ततो देवीं समावाह्य मूलेन षोडषाहुतीः॥

अर्घ्योदकसे भूमिशोधन करके तीन रेखा खींचे। और विधिपूर्वक अग्नि लाकर—

"क्रव्यादेभ्यो नमः"

इस मन्त्रका तथा मूलमन्त्रका उच्चारण करके कुण्डमें, स्थण्डिलमें अथवा भूमिपर व्याहृतित्रयसे अग्नि स्थापन करें। स्वाहान्त मन्त्रसे तीनबार हवन करके षडङ्ग हवन करे और स्व स्व सम्प्रदायानुसार इष्टदेवका आवाहन करके मूलमन्त्रसे षोडश आहुति देवें। इस प्रकार हवन करके स्तुति करे और इन्दु-मण्डलमें उसका विसर्जन कर देवें। नित्य होमके द्वारा इष्टदेव प्रसन्न होते हैं,

सब देवियोंकी तृप्ति व अभीष्ट सिद्धि होन है । वैष्णव, शाक्त शैव आदि सभी सम्प्रदायोंके साधकोंको नित्य हवन करना उचित है । प्रथम इष्टदेवके प्रीत्यर्थ आहुति देकर अन्यदेव देवियोंको इष्टदेवके अङ्गीभूत समझ कर उनके संवर्द्धनार्थ भी आहुति प्रदान करना उचित है ।

(१२) बलि—इष्ट उपासनामें विना विघ्नोंकी शान्तिके सफलता नहीं होती । विघ्नोंकी शान्तिके लिये बलिदान किया जाता है । वलिके साधनमें आत्म-बलि सबसे श्रेष्ठ है । आत्मवलि द्वारा अहङ्कारका नाश होकर साधक कृतकृत्य होता है । वलिके साधनमें काम क्रोधादिक रिपुओंकी बलि द्वितीय स्थानीय है। ये सब अन्तर्यागसे सम्बन्ध रखने वाले विषय हैं । पूजाके अनन्तर अवशिष्ट द्रव्य द्वारा जो वलि दी जाय तो इष्टदेवकी प्रसन्नताके अर्थ उत्तम फलोंकी बलि दी जाती है । किसी किसी सम्प्रदायमें यज्ञपशुओंकी वलि देनेकी भी विधि प्रचलित है । ये सब बलिके भेद त्रिगुण भेदसे माने गये हैं जिसका वर्णन व स्व-रूपनिर्णय पहले ही किया जा चुका है । प्रथम विधिपूर्वक अपने इष्टदेवको वलि समर्पण करके अन्य देवताओंको वलि देवे और भक्तियुक्त साधक तदनन्तर पितरोंके तृप्त्यर्थ वलिदान करें । पुनः भूतोंकी तृप्तिके लिये श्वा, श्वपच और पक्षियोंकी तृप्तिके लिये भूमिपर अन्न रक्खे यह वैश्वदेव विधि प्रातः व सन्ध्या के समय करना उचित है । प्रमाण योगशास्त्र में द्रष्टव्य है ।

(१३) याग—अन्तर्याग और वहिर्याग भेदसे याग दो प्रकारका होता है । अन्तर्यागकी महिमा सर्वोपरि है । मानस याग, मानस जप व मानस कर्मके लिये कालशुद्धि, देशशुद्धि और शरीरशुद्धिकी कुछ भी अपेक्षा नहीं रहती । वह सब समयमें समानरूपसे हो सकता है । षोडश दिव्यदेशोंमेंसे किसी देशके अवलम्बनसे यागका साधन करना उचित है । स्थूलदेशसे सूक्ष्म-देश कोटिगुण फलप्रद है । यागकी सिद्धिके अनन्तर जपकी सिद्धिके साथ ही ध्यानकी सिद्धि होती है और ध्यानकी सिद्धिसे समाधिकी प्राप्ति होती है। यागकी सिद्धिके द्वारा देवताका साक्षात्कार व दिव्यदेशोंमें इष्टदेवका आवि-र्भाव भी होता है ।

बाह्यपूजामें प्रथम मूलमन्त्रका उच्चारण करके पुनः देयवस्तुका उच्चारण करे । पुनः सम्प्रदानका अर्थात् जिसको वस्तु समर्पण किया जाय उसका उच्चारण करके समर्पणार्थक पदका उच्चारण करें । इस प्रकार सब उपचार देवताको अर्पण करना चाहिये । पूजामें एकविंशति, षोडश, दश और

पञ्च इस प्रकार चार उपकारके भेद योगतत्त्वज्ञ महर्षियोंने किये हैं। आवाहन, स्वागत, आसन स्थापन, पाद्य, अर्घ्य, स्नान, वस्त्र, उपवीत, भूषण, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन, ताम्बूल, माल्य, आर्त्ति, नमस्कार व विसर्जन, ये एक विंशति उपचार हैं। आवाहन, स्थापन, पाद्य, अर्घ्य, स्नान, वस्त्र, भूषण, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन, ताम्बूल, आर्त्ति, प्रणाम, ये षोडशोपचार पूजाकी सामग्री है। पाद्य, अर्घ्य, स्नान, मधुपर्क, आचमन, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य ये दश उपचार हैं। गन्ध, पुष्प, धूप, दीप व नैवेद्य ये पञ्चोपचार हैं। प्रमाण योगशास्त्रमें द्रष्टव्य है।

(१४) जप—योगशास्त्रमें लिखा है—

मननात् त्रायते यस्मात्तस्मान्मन्त्रः प्रकीर्तितः।
जपात् सिद्धिर्जपात्सिद्धिर्जपात्सिद्धिर्न संशयः॥

जो मनन करनेसे त्राण करे उसे मन्त्र कहते हैं, जप करते करते साधक सिद्धि प्राप्त कर लेता है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। सांसारिक विषयोंसे मनको हटा कर मन्त्रके अर्थका अनुगमन करता हुआ और उच्चारणमें न बहुत शीघ्रता व न विलम्ब किन्तु मध्यम वृत्तिसे जप करे। मन्त्रका बार बार आवर्त्तन करनेको जप कहते हैं, वह तीन प्रकारका होता है यथा—मानस, उपांशु और वाचिक। जिस मन्त्रको जप करने वाला भी न सुन सके वह मानसिक जप है। उपांशु जप उसे कहते हैं कि जो जप करनेवालेको सुनाई पड़े और जो मन्त्र वचनसे उच्चारण किया जाय और दूसरेको भी सुनाई पड़े वह वाचिक जप है। वाचिक जपसे उपांशु जप और उपांशुसे मानस जप श्रेष्ठ है। अति शनैः शनैः जप करनेसे रोग होता है, और अति शीघ्रतासे जप करनेसे धनक्षय होता है। अतः परस्परमें मिला हुआ मौक्तिक हारकी नाईं जप करे। जो साधक जप करते समय मन, शिव, शक्ति और वायुका संयम न कर सके, वह चाहे कल्प पर्यन्त क्यों न जप करे परन्तु सिद्धि दुर्लभ ही है। उपासकोंको उचित है कि देवमन्दिर अथवा साधन उपयोगी पवित्र एकान्त घरमें बैठ कर साधन करे। साधन स्थान गोमय, गङ्गाजल आदिसे संशोधित रहना उचित है। और उत्तम भावपूर्ण चित्रोंसे परिशोभित रहना उचित है जिससे चित्तमें पवित्रता उत्पन्न हो। साधनगृहमें तामसिक व राजसिक कार्य तथा असत् पुरुषोंका प्रवेश होना उचित नहीं है। मोक्षाभिलाषी साधक

गंगातट, पञ्चवटी, अरण्य, स्मशान, तीर्थ आदि प्रदेशोंको स्व स्व सम्प्रदायके अनुसार सेवन करके साधन करें। विशेष सिद्धिलाभ करने की इच्छा हो तो भूगर्त्तमें योगगुहा बनाकर निरुपद्रव हो साधन करें।

विशेष प्रकारसे पुरश्चरण आदि द्वारा यदि मन्त्रसिद्धि न हो तो पुनः पूर्ववत् करे। उससे भी यदि न हो तो तृतीय बार करे। उससे भी यदि न हो तो शिवकथित प्रमाण, रोधन, वशीकरण, पीडन, शोधन, पोषण व दाहन इन सात प्रकारके उपायोंको क्रमशः अवलम्बन करें। ये सब उपाय गुरुमुखसे जानने योग्य हैं।

अपनी, स्नानकी, मन्त्रकी, पूजासामग्रीकी और देवता की शुद्धि जबतक न कर लेवे तब तक पूजा करना वृथा है। पञ्चशुद्धिरहित पूजा अभिचार मात्र है। स्नान, भूतशुद्धि, प्राणायाम, और सकल षडङ्गन्याससे आत्मशुद्धि होती है। संमार्जन, लेपन, वितान, धूप, दीप, पुष्प, माला आदिसे शोभित और विविध वर्णोंसे भूषित करना, इस प्रकार से स्थान शुद्धि होती है। मूलमन्त्रके अक्षरोंको मातृकावर्णसे संयुक्त करके दो बार क्रम और उत्क्रमसे पाठ करनेसे मन्त्रशुद्धि हुआ करती है। पूजापदार्थको जलसे धोकर और मूलमन्त्रसे विधिपूर्वक अभिमन्त्रित करसे धेनुमुद्रा दिखलावें तो द्रव्यशुद्धि होती है। मन्त्रज्ञ साधक मूलमन्त्रसे पीठ देवीका प्रतिष्ठापन करें, पुनः पुष्पमाल्य धूप आदि समर्पण करके जलसे तीन बार उसे प्रोक्षण करनेसे देहशुद्धि होती है। इस प्रकार पञ्चशुद्धि विधान करके पूजा करनी उचित है।

उपासनाभेदसे बीजमन्त्र अलग अलग हैं यथा—कृष्णबीज, रामबीज, शिवबीज, गणपतिबीज इत्यादि। ये सब आठ प्रकार मूलबीजसे अतिरिक्त हैं। पुनः बीजके साथ मूलबीज मिलकर अथवा एक बीजके साथ अन्यबीज मिलने से मन्त्रोंकी शक्तिका वैचित्र्य उत्पन्न होता है और पुनः मन्त्र शाखा पल्लवसे संयुक्त होनेपर अन्यभावको धारण करता है। मन्त्रविशेषमें बीज, शाखा और पल्लव तीनों होते हैं। शान्ति पुष्प है, इष्टसाक्षात्कार फल है, शाखा और पल्लव केवल भावमय हैं और शक्ति बीजमें निहित रहती है। दृष्टान्तरूपसे कहा जाता है कि जैसे "ओं क्लीं कृष्णाय नमः" इस मन्त्रमें ओं प्रणव रूप सेतु है, क्लीं बीज है 'कृष्णाय' शब्द शाखा है और 'नमः' पल्लव है। चित्तवृत्तिकी शान्ति साधकके लिये पुष्परूप है और श्रीकृष्णरूप इष्टदेवका साक्षात्कार फलस्वरूप है यही

मन्त्रविज्ञानका गूढ रहस्य है। कोई कोई मन्त्र वीजरहित और शाखापल्लवसे युक्त रहता है। वह भावप्रधान मन्त्र कहाता है। साधककी प्रकृति, प्रवृत्ति, उपासनाधिकार और चित्तसंवेगकी परीक्षा करके मन्त्रोपदेश देनेपर अवश्य ही साधकको पूर्ण फल की प्राप्ति होती है। उपनिषद् और मन्त्रशास्त्रोंके ज्ञाता योगी ही मन्त्रका विस्तार ज्ञान करने और यथाधिकार उपदेश देनेमें समर्थ होते हैं। प्रणव, प्रधानवीज, उपासनावीज, शाखापल्लवसयुक्तवीज, वीजरहित शाखापल्लवयुक्त मन्त्र इस प्रकार मन्त्रके पांच भेद हैं। साधककी प्रकृति प्रवृत्ति व अधिकारकी परीक्षा द्वारा यथावत् मन्त्रोपदेश दिया जाता है। इन विषयोंका प्रमाण योगशास्त्रमें द्रष्टव्य है।

(१५) ध्यान—अध्यात्मभावसे ही मन्त्रयोगके ध्यानोंका आविर्भाव हुआ है जैसा कि पहले विशदरूपसे वर्णन किया गया है। मन्त्रशास्त्रके अनुसार योगियोंने विष्णुकी पूजाके विषयमें प्रधानतः सात प्रकारके ध्यान कहे हैं। भगवतीके पूजनमें प्रधानतः चतुर्विंशति प्रकारके रूप और ध्यानकी कल्पना है। महादेवकी उपासनामें प्रधानतः पांच प्रकारके ध्यान माने गये हैं। सूर्य और गणेशकी पूजामें प्रधानतः दो प्रकारके ध्यान माने गये हैं। अपने अपने इष्टदेवके रूपको मनसे जाननेको ध्यान कहते हैं। ध्यानही मनुष्यके बन्धन व मोक्षका कारण है। जैसे जैसे मनुष्य आत्मध्यान करता है, वैसे ही उसको समाधिकी प्राप्ति होती है। आत्मा केवल ध्यान ही के द्वारा वशीभूत होता है। इस प्रकार जिस मनुष्यकी आत्मा जहाँ प्रसक्त होती है, वहीं उसे समाधि प्राप्त होती है। नदीका जल जिस प्रकार समुद्रमें जानेसे समुद्रजलसे अभिन्न होता है उसी प्रकार मनुष्यकी आत्मा ध्यानके परिणाममें तद्भाव प्राप्त करके परमात्मासे अभिन्न हो जाती है।

(१६) समाधि—जिस प्रकार लययोगकी समाधिको महालय और हठयोगकी समाधिको महाबोध कहते हैं उसी प्रकार मन्त्रयोगकी समाधिको महाभाव कहते हैं। जबतक त्रिपुटी रहती है तबतक ध्यानाधिकार रहता है, त्रिपुटीके लय हो जानेसे महाभावका उदय होता है। मन्त्रसिद्धिके साथ ही साथ देवतामें मनका लय हो कर त्रिपुटी नाश होने पर योगीको समाधिकी प्राप्ति होती है। प्रथम मन, मन्त्र और देवताका स्वतन्त्र बोध रहता है। परन्तु ये तीनों बोध एक दूसरेमें लय होते हुए ध्याता ध्यान ध्येय रूपी त्रिपुटी

लय हो जाती है। इसी अवस्थामें आनन्दाश्रु और रोमाञ्च आदि लक्षणोंका विकाश होता है। क्रमशः मन लय हो कर समाधिका उदय होता है। समाधि प्राप्ति द्वारा साधक कृतकृत्य हो जाता है। महाभाव प्राप्ति ही मन्त्रयोग-का चरम लक्ष्य है।

चतुर्थ समुल्लासका द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ।

श्रीधर्म्मकल्पद्रुमका तृतीय खण्ड समाप्त हुआ।



श्रीविश्वनाथो जयति ।

इस समय

देशका उपकार किन उपायोंसे हो सकता है ? संसारके इस छोरसे उस छोरतक चाहे किसी चिन्ताशील पुरुषसे यह प्रश्न कीजिये; उत्तर यही मिलेगा कि धर्मभावके प्रचारसे । क्योंकि धर्मने ही संसारको धारण कर रक्खा है ।

भारतवर्ष

किसी समय संसारका गुरु था, आज वह अधःपतित और दीन हीन दशा में क्यों पच रहा है ? इसका भी उत्तर यही है कि वह धर्मभावको खो बैठा है। यदि हम भारतसे ही पूछें कि तू अपनी उन्नतिके लिये हमसे—

क्या चाहता है ?

तो वह यही उत्तर देगा कि मेरे प्यारे पुत्रों !

धर्मभावकी वृद्धि करो ।

संसारमें उत्पन्न होकर जो कुछ सत्कार्य करनेके लिये उद्यत हुए हैं, उन्हें इस बातका पूर्ण अनुभव होगा कि ऐसे कार्योंमें कैसे विघ्न और कैसी बाधाएँ उपस्थित हुआ करती है । यद्यपि धीर पुरुष उनकी परवाह नहीं करते और यथा सम्भव उनसे लाभ ही उठाते हैं, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि उनके कार्योंमें उन विघ्न बाधाओंसे कुछ रुकावट अवश्य ही हो जाती है । श्रीभारतधर्ममहामण्डल भी संसारकी इस स्वाभाविक पीड़ासे वञ्चित नहीं रहा है ।

एक कहावत हैः—"जातका वैरी जात और काठका वैरी काठ ।" तदनुसार महामण्डलके ही हितचिन्तकोंसे महामण्डल को बहुत कष्ट पहुँचे हैं और इस कारण उसे स्वजन एवम् दुर्जन दोनोंकी निन्दा सहनी पड़ी है। यदि बाल्यावस्थामें ही उसे ऐसे रोगोंसे सामना न करना पड़ता, तो निस्सन्देह इसके द्वारा कल्पनातीत देशका उपकार साधित होता ।

जो हो अब उसके दुःखोंके मेघ धीरे धीरे दूर हुए और हो रहे हैं, तथा उसे पुनः उज्ज्वल मुखसे जनसाधारणका हितसाधन करनेका सर्वशक्तिमान् भगवान्ने सुअवसर प्राप्त कर दिया है । भारत अधार्मिक नहीं है । हिन्दुजाति धर्मप्राण जाति है । उसके रोम रोममें धर्म्मसंस्कार ओत प्रोत है । केवल वह अपने रूपको–धर्मभावको–भूल रही है । उसे अपने स्वरूपकी पहिचान करा देना–धर्मभावको स्थिर रखनाही–श्रीभारतधर्म्म महामण्डलका एक पवित्र और प्रधान उद्देश्य है । यह काम १६ वर्षोंसे महामण्डल कर रहा है और ज्यों ज्यों उसको अधिक सुअवसर मिलेगा, त्यों त्यों वह जोर शोरसे यह काम करेगा ।

उसका विश्वास है कि इसी उपायसे देशका सच्चा उपकार होगा और अन्तमें भारत पुनः अपने गुरुत्वको प्राप्त कर सकेगा।

इस उद्देश्य साधनके लिये सुलभ दो ही मार्ग हैं। (१) उपदेशकों द्वारा धर्मप्रचार करना, और (२) धर्मरहस्य सम्बन्धी मौलिक पुस्तकोंका उद्धार व प्रकाश करना। महामण्डलने प्रथम मार्गका अवलम्ब आरम्भसे ही किया है और अब तो उपदेशक महाविद्यालय स्थापित कर महामण्डलने वह मार्ग स्थिर और परिष्कृत कर लिया है। दूसरे मार्गके सम्बन्धमें भी यथायोग्य उद्योग आरम्भसे ही किया जा रहा है। विविध ग्रन्थोंका संग्रह और निर्माण करना, मासिक पत्रिकाओंका सञ्चालन करना, शास्त्रीय ग्रन्थोंका आविष्कार करना, इस प्रकारके उद्योग महामण्डलने किये हैं और उनमें सफलता भी प्राप्त की है। परन्तु अभीतक यह कार्य सन्तोषजनक नहीं हुआ है। महामण्डलको अब मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त होते ही इस विभागको उन्नत करनेका उसने विचार किया है। उपदेशकों द्वारा जो धर्मप्रचार होता है उसका प्रभाव चिरस्थायी होनेके लिये उसी विषयकी पुस्तकोंका प्रचार होना परम आवश्यक है। क्योंकि वक्ता एक दो वार जो कुछ सुना देगा, उसका मनन विना पुस्तकोंका सहारा लिये नहीं हो सकता। इसके सिवा सब प्रकारसे अधिकारियोंके लिये एक ही वक्ता कार्यकारी नहीं हो सकता। पुस्तकप्रचार द्वारा यह काम सहल हो जाता है। जिसे जितना अधिकार होगा, वह उतने ही अधिकार की पुस्तक पढ़ेगा और मण्डल भी सब प्रकारके अधिकारियोंके योग्य पुस्तकें निर्माण करेगा। सारांश, देशकी उन्नतिके लिये, भारत गौरवकी रक्षाके लिये, और मनुष्योंमें मनुषत्व उत्पन्न करनेके लिये महामण्डलने अब पुस्तक प्रकाशन विभागको अधिक उन्नत करनेका विचार किया है और उसकी सर्वसाधारणसे प्रार्थना है कि वे ऐसे सत्कार्यमें इसका हाथ बटावें एवम् इसकी सहायता कर अपनी ही उन्नति कर लेनेको प्रस्तुत हो जावें। इस कार्यको सुसम्पन्न करनेके लिये हमने निम्नलिखित उपाय स्थिर किये हैं:—

(१) महामण्डलके संरक्षक और प्रतिनिधियोंसे इस कार्यके लिये अलग स्थिर सहायता संग्रह करना। जो स्थायी कोषके वनानेमें काम आवे और आवश्यकता आ पड़ने पर पुनः लौटा देनेकी शर्त पर विला सूदके इस कार्यमें लगाई जा सके।

(२) महामण्डलके विभिन्न भाषाभाषी विद्वान् सहायक नवीन ग्रन्थ निर्माण कर और प्राचीन ग्रन्थोंकी टीका टिप्पणी अथवा सारसंग्रह कर इस विभागको प्रदान करें। जिससे इस विश्वव्यापी धर्मके सिद्धान्तोंकी पुष्टि हो।

(३) महामण्डसे सम्बन्ध रखनेवाली जितनी सभा सोसाइटियाँ हों, वे इस विभाग द्वारा प्रकाशित ग्रन्थोंका प्रचार स्वयं करें और अन्य प्रचारकोंको सहायता करें।

(४) यद्यपि कुछ प्रचारक वैतनिक भी रक्खे जायँगे, तथापि भारत

व्यापी कार्य इन थोड़ेसे प्रचारकों द्वारा पूर्ण नहीं हो सकता । इसके लिये शाखासभाओंको ही अधिक उद्योग करना चाहिये।

(५) जो पुस्तक-मालाएँ महामण्डलसे प्रकाशित होंगी; उनके कमसे कम २००० स्थायी ग्राहक होने चाहिये। उन्हें सब पुस्तकें कुछ स्वल्प मूल्यमें दी जायँगी। यदि हरएक शाखासभा अपने मेम्बरोंमेंसे १०-१५ भी ग्राहक संग्रह कर देगी तो यह काम सहज हो सकता है।

(६) अवैतनिक प्रचारकों को उचित कमीशन दिया जायगा। और जिन शाखा सभाओं द्वारा जितने ग्राहक संग्रह होंगे, उनको भी उसी हिसाबसे कमीशन मिलेगा, जिससे इस विभागकी उन्नतिके साथही साथ उस शाखाकी भी अर्थ वृद्धि हो। इसमें केवल शारीरिक श्रमकी ही आवश्यकता है।

(७) जो सभा या जो प्रचारक सर्वोत्तम कार्य करेंगे, अर्थात् ग्रन्थप्रचार कार्यमें अधिक सफलता प्राप्त करेंगे, उन्हें श्रीमहामण्डलके वार्षिकोत्सव पर विशेष पारितोषिक द्वारा, मेडल आदि द्वारा और अन्य प्रकारसे भी कार्यके महत्वके अनुसार सम्मानित किया जायगा।

महामण्डलकी सभी शाखा सभाओंसे निवेदन

है कि वे अपने सभाभवनोंमें या नगरोंमें—जहां उचित समझें—इस शास्त्र प्रकाश विभागकी भी सभाकी ओरसे एक एक शाखा खोल दें। जिससे उनके उद्देश्यों की पूर्ति शीघ्र हो सकेगी, धर्मप्रचार सुलभ होगा और सभाकी सम्पत्तिकी वृद्धि भी होगी। हरएक शाखा हमें दो प्रकारसे सहायता पहुँचा सकती है। (१) हमारी ग्रन्थमालाके स्थिरग्राहक बना कर, और (२) ग्रन्थमालाकी-तथा इस विभाग द्वारा प्रकाशित अन्यान्य पुस्तकोंकी फुटकर बिक्री कर। दोनों प्रकारकी सहायता पहुँचानेवाली सभाओंको फी सैकड़ा २५) रु० पारितोषिक दिया जायगा। हमारी शाखा सभाओंके मंत्री इस प्रकारकी शाखा खोलनेके लिये पत्र द्वारा आवेदन करें तो उन्हें सहर्ष अनुमति और सहायता दी जायगी एवम् इस प्रकारसे जो शाखाएँ रजिस्टर दर्ज़ होंगी, उनके पास फार्म आदि नियमित समय पर पहुँच जायँगे।

स्थिर ग्राहकोंके नियम।

इस समय हमारी ग्रन्थमालामें निम्न लिखित पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं:—

मंत्रयोगसंहिता	१)	कल्किपुराण	१)
भक्तिदर्शन	१)	उपदेश पारिजात (संस्कृत)	॥)
योगदर्शन	२)	भारतधर्ममहामण्डल रहस्य	१)
नवीन दृष्टिमें प्रवीण भारत	१)	गीतावली	॥)

धर्मकल्पद्रुम प्रथम खण्ड २) द्वितीय खण्ड १॥)

इनमेंसे जो कमसे कम ४) मूल्यकी पुस्तकें खरीदेंगे अथवा स्थिर ग्राहक होनेका चन्दा १) भेज देंगे, उन्हें शेष और आगे प्रकाशित होने वाली सब पुस्तकें ¾ मूल्यमें दी जायँगी।

स्थिर ग्राहकोंको मालामें ग्रथित होनेवाली हरएक पुस्तक खरीदनी होगी। जो पुस्तक इस विभाग द्वारा छापी जायगी, वह एक विद्वानोंकी कमेटी द्वारा पसन्द करा ली जायगी। जिससे किसी पुस्तककी मौलिकतामें ग्राहकोंको सन्देह न रह जाय।

हरएक ग्राहक अपना नम्बर लिखकर या दिखाकर हमारे कार्यालयसे, अथवा जहां वह रहता हो वहां हमारी शाखा हो तो वहांसे, स्वल्प मूल्य पर पुस्तकें खरीद सकेगा।

जो धर्म्मसभा इस धर्म्मकार्य्यमें सहायता करना चाहे और जो सज्जन इस ग्रन्थमालाके स्थायी ग्राहक होना चाहें वे मेरे नाम पत्र भेजनेकी कृपा करें।

गोविन्द शास्त्री दुगवेकर,
अध्यक्ष शास्त्रप्रकाश विभाग।
श्रीभारतधर्ममहामण्डल प्रधान कार्य्यालय,
जगतगंज, बनारस।

श्रीसन्न्यास गीता।

अद्भुत, अलौकिक और समयानुकूल सर्व जीव हितकारी उत्तम ग्रन्थ।

वर्णाश्रम धर्मके ह्राससेही भारत की अवनति हुई है, यह बात अब सिद्ध हो चुकी है। वर्ण गुरु ब्राह्मण और आश्रम गुरु सन्न्यासियोंके सुधारसे संसारके सब सुधार संभवनीय हो सकते हैं। अतः बड़े परिश्रमसे खोजकर महामण्डल शास्त्रप्रकाश विभागने यह ग्रन्थ प्रकाश किया है। मूल संस्कृत और उसीके नीचे शुद्ध, और सरलभाषामें हिन्दी टीका छापी गई है हरएक सन्न्यासी को अवश्य इसका पाठकर तदनुसार अपना आचरण रखना चाहिये। यद्यपि यह गीता सन्न्यासियोंके लिये है तथापि गृहस्थादि आश्रम वासियाके भी काम की है। उत्तम छपाई आदि होने पर भी मूल्य केवल ॥।) रक्खा गया है।

इसके अतिरिक्त महामण्डल शास्त्रप्रकाशक विभाग द्वारा प्रकाशित अन्यान्य उपयुक्त पुस्तकों की सूची श्रीधर्मकल्पद्रुमके द्वितीय खण्डके अन्तमें छपी है। पुस्तकें मिलने का पता:—

सेक्रेटरी शास्त्रप्रकाश विभाग
श्रीभारतधर्म महामण्डल।
जगतगंज–बनारस।